Year - 10 Volume - 38
October 2025

ISSN 2456-0898

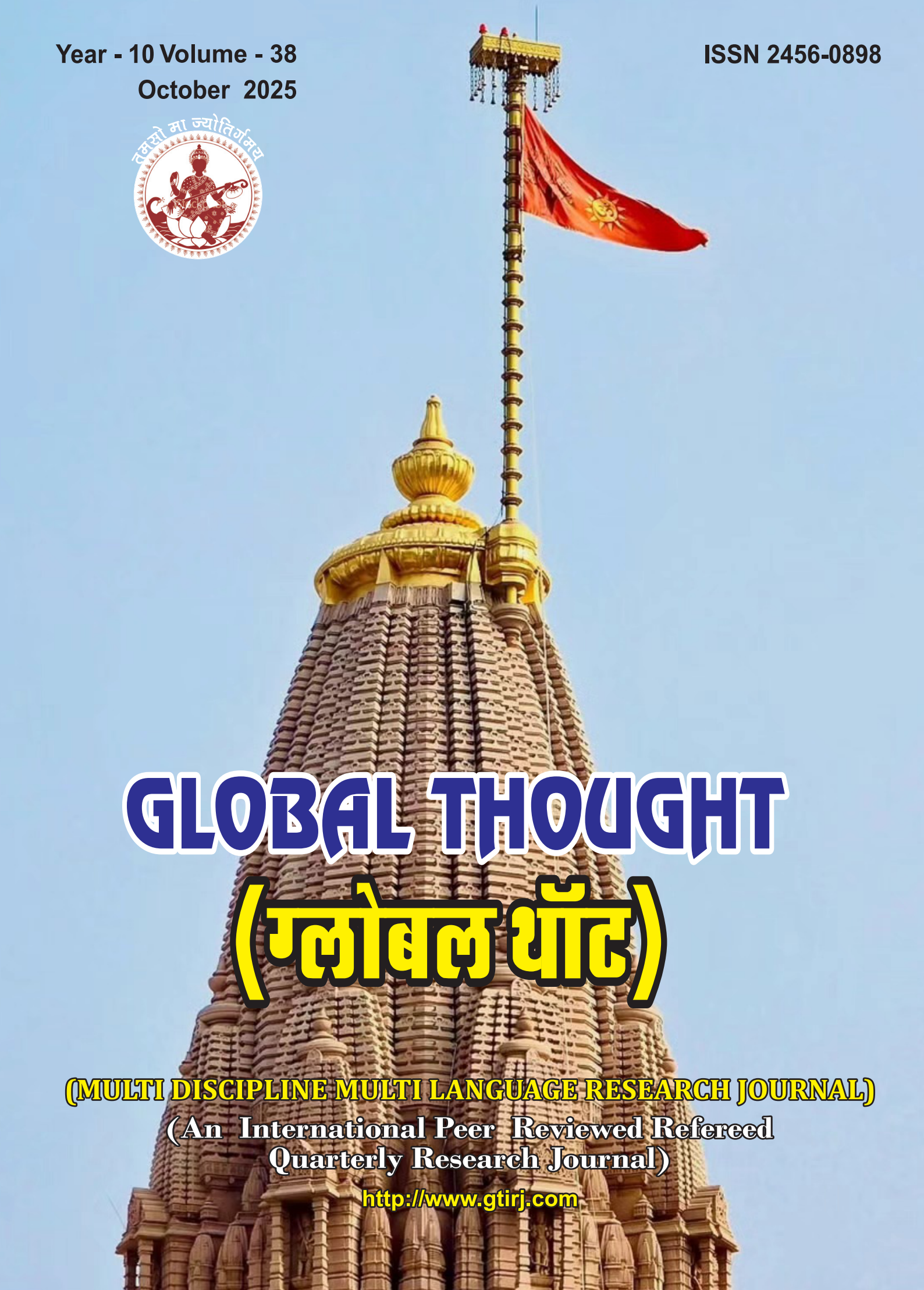

GLOBAL THOUGHT

(ग्लोबल थॉट)

(MULTI DISCIPLINE MULTI LANGUAGE RESEARCH JOURNAL)

(An International Peer Reviewed Refereed Quarterly Research Journal)

http://www.gtirj.com

❍ Year : 10 ❍ Volume : 38 ❍ October 2025 ❍ ISSN : 2456-0898

GLOBAL THOUGHT

ग्लोबल थॉट

(MULTI DISCIPLINE MULTI LANGUAGE RESEARCH JOURNAL)

(An International Peer Reviewed Refereed Quarterly Research Journal)

Special Note :

Anti National Thoughts are not acceptable.

स्वामी/मुद्रक/प्रकाशक रूपेश कुमार चौहान द्वारा 47, ए-3 ब्लॉक, गली नं. 5, धर्मपुरा एक्सटेंशन, (नजदीक संकट मोचन मंदिर), पी.एस. नजफगढ़, दिल्ली से प्रकाशित एवं डॉल्फिन प्रिंटोग्राफिक्स, 4 ई/7, पाबला बिल्डिंग, झंडेवालान् एक्सटेंशन, नई दिल्ली में मुद्रित।
सम्पादक-रूपेश कुमार चौहान

Ph. 09555222747, 9267944100, 9555666907
• Website : www.gtirj.com
Email : researchjournal2016@gmail.com

प्रकाशनार्थ सूचना

* **शोध-पत्र हमारी विशेषज्ञ समीक्षा समिति (Peer Reviewed Committee) के द्वारा द्वि-स्तरीय समीक्षित होकर प्रकाशन हेतु स्वीकृत किया जाता है।**
* शोध-पत्र प्राप्त होने के उपरांत शोधार्थी के पास ईमेल / व्हाट्सएप्प या फोन के माध्यम से शोध-पत्र प्राप्ति की सूचना दी जायेगी।
* शोध-पत्र प्राप्त होने के उपरांत सम्पादक-मंडल द्वारा इसे सम्बन्धित विषय के विशेषज्ञ (रीव्यूवर) के पास भेजा जायेगा। जिसका विषय विशेषज्ञ द्वारा विधिवत मूल्यांकन एवं परीक्षण / संशोधन किया जायेगा। तदुपरांत सम्पादक मंडल के पास प्रकाशनार्थ प्रेषित किया जायेगा।
* विषय विशेषज्ञ / सम्पादक मंडल के पास शोध-पत्र के प्रकाशन / संशोधन का पूर्ण अधिकार होगा।
* कोई भी शोध-पत्र सम्पादक मंडल / रीव्यू पैनल द्वारा पूर्णतया मूल्यांकन के उपरांत ही प्रकाशित किया जायेगा।
* पूर्णतया स्वीकृति के उपरांत ही किसी भी शोधार्थी को सम्बन्धित आलेख के प्रकाशन की सूचना दी जायेगी।
* लेखक से अनुरोध है कि शोध-पत्र वॉकमैन चाणक्य 905 या क्रुतिदेव फॉन्ट में वर्ड या पेजमेकर में टाइप (टङ्कण) कराकर शोध-पत्रिका के ई-मेल पर प्रेषित करें।
* शोध-लेख **अंग्रेजी, हिन्दी अथवा संस्कृत भाषा में** न्यूनतम 1500 शब्द एवं अधिकतम 3000 शब्द तक मान्य है तथा इसके साथ लेखक का पद-नाम, कीवर्ड्स, सारांश एवं सभी संदर्भ के साथ स्वयं की फोटो (छवि-चित्र) अत्यन्त अनिवार्य है।
* प्रकाशनार्थ प्राप्त लेख सलाहकार परिषद् एवम् संपादक मण्डल की अनुमति के पश्चात् स्तरीय होने पर ही प्रकाशित होगा।
* शोध-पत्र भेजने के बाद उसे प्रकाशित करने हेतु किसी भी तरह का दबाव स्वीकार्य नहीं होगा। शोध-पत्र में यदि चित्र का प्रयोग हुआ है तो उसे भी अवश्य प्रेषित करें।
* **'ग्लोबल थॉट'** किसी भी तरह के परामर्श का स्वागत करती है, इसलिए अपनी प्रतिक्रिया अवश्य दें।
* यह स्पष्ट किया जाता है कि शोध पत्र में प्रस्तुत तथ्य शोधकर्त्ता के अपने विचार हैं तथा सलाहकार परिषद् एवं सम्पादक मण्डल का इसमें कोई सरोकार नहीं होगा। इसके लिए शोधकर्त्ता स्वयं उत्तरदायी है।
* शोध-पत्रिका की किसी भी सामग्री को प्रकाशक एवं मुद्रक की जानकारी के बिना अन्यत्र प्रकाशन अनुचित होगा।
* प्रत्येक अङ्क पत्रिका की वेबसाइट पर अध्ययन हेतु उपलब्ध रहता है।
* अपेक्षित आर्थिक सहयोग अथवा अंशदान के लिए हम आपके अत्यंत आभारी रहेंगे।
* **कृपया लेख के साथ अपनी पासपोर्ट साइज की फोटो अवश्य भेजें।**
* **पत्रिका का वितरण नि:शुल्क किया जाता है एवं विशेष अनुदान के लिए किसी पर कोई प्रतिबंध नहीं है। प्रकाशन के लिए कोई भी आवश्यक शुल्क नहीं है।**
* **आगामी अङ्क में प्रकाशनार्थ लेख आमंत्रित हैं। यदि आप लेख टाइप करा कर भेजने में असमर्थ हैं तो हस्तलिखित प्रति पत्रिका में दिये गये पत्र-व्यवहार के पते पर भेज दें।**

Email : researchjournal2016@gmail.com • Website : www.gtirj.com

सलाहकार परिषद् :

- **डॉ. मनमोहन सिंह चौहान**
(कुलपति, पंडित गोविन्द वल्लभ पंत कृषि एवं प्रौद्योगिकी विश्वविद्यालय, पंतनगर, उत्तराखण्ड)
- **प्रो. इन्द्र नारायण सिंह**
(बौद्ध अध्ययन विभाग, दिल्ली विश्वविद्यालय, दिल्ली)
- **प्रो. गिरीश चन्द्र पंत**
(पूर्व अध्यक्ष, संस्कृत विभाग, जामिया मिल्लिया इस्लामिया, दिल्ली)
- **प्रो. रामनाथ झा**
(संस्कृत एवं प्राच्य विद्या अध्ययन संस्थान, जवाहरलाल नेहरू विश्वविद्यालय, दिल्ली)
- **डॉ. राजवीर शर्मा**
(पूर्व प्रोफेसर, राजनीति शास्त्र विभाग, आत्माराम सनातन धर्म कॉलेज, दिल्ली विश्वविद्यालय, दिल्ली)
- **प्रो. मोहम्मद मंसूर आलम**
(अध्यक्ष, उर्दू विभाग, मगध विश्वविद्यालय, बोध गया)
- **प्रो. रसाल सिंह**
(प्रोफेसर एवं प्राचार्य, रामानुजम् महाविद्यालय, दिल्ली विश्वविद्यालय, दिल्ली)
- **डॉ. सोहनपाल सुमनाक्षर**
(राष्ट्रीय अध्यक्ष, भारतीय दलित साहित्य अकादमी एवं प्रसिद्ध दलित चिंतक)
- **प्रो. सुभाष कुमार सिंह**
(प्रोफेसर एवं प्राचार्य, सत्यवती महाविद्यालय (प्रातः), दिल्ली)
- **प्रो. सत्यदेव पोद्दार**
(इतिहास विभाग, त्रिपुरा केन्द्रीय विश्वविद्यालय, त्रिपुरा)
- **प्रो. काशीनाथ जेना**
(राजनीति-शास्त्र विभाग, त्रिपुरा केन्द्रीय विश्वविद्यालय, त्रिपुरा)
- **डॉ. राघवेन्द्र प्रताप सिंह**
(इतिहास विभाग, इलाहाबाद विश्वविद्यालय, प्रयागराज, उत्तर प्रदेश)
- **डॉ. एम. रहमतुल्लाह**
(कंसल्टिंग एडिटर, दूरदर्शन न्यूज, भारत सरकार)
- **प्रो. ब्रजेश कुमार सिंह**
(रसायन शास्त्र विभाग, दिल्ली विश्वविद्यालय, दिल्ली)

© सर्वाधिकार सुरक्षित : रूपेश कुमार चौहान

ISSN : 2456-0898

विशेष सूचना : शोध पत्रिका में प्रकाशित लेखों में दिए गये तथ्यों और इनसे सम्बन्धित किसी भी विवाद का पूर्ण दायित्व लेखक का होगा, प्रकाशक, सम्पादक, मुद्रक एवं पत्रिका से सम्बन्धित अन्य किसी भी व्यक्ति का नहीं। प्रेषित स्पष्टीकरण अवश्य प्रकाशित किया जायेगा।

- सभी पद अवैतनिक एवं परिवर्तनीय हैं।
- **'ग्लोबल थॉट'** से संबंधित सभी विवादास्पद मामले केवल दिल्ली न्यायालय के अधीन होंगे।
- सारे भुगतान मनीआर्डर : चेक/ बैंक ड्राफ्ट **'वाक् सुधा'** के नाम से किए जाएं। कृपया दिल्ली से बाहर के चेक में बैंक कमीशन के 35.00 रुपये अतिरिक्त जोड़ें।

Registered Office : *H.No. 47, A-3 Block, Gali No. 5, Near Sankat Mochan Mandir, Dharampura Extn., Najafgarh, Delhi-110043*
Ph. 09555222747, 9267944100, 9555666907 • Website : www.gtirj.com

Editor
Dr. Rupesh Kumar Chauhan
M.A., M.Phil., Ph.D. (Sanskrit),
M.A. (History)
Assistant Professor
Kirorimal College, University of Delhi
Mob : 9555222747, 9267944100

Executive Editior
Dr. Pramod Kumar Singh
M.A., Ph.D. (Sanskrit), M.A. (Philosophy)
Gold Medalist
Associate Professor,
Department of Sanskrit, Maitreyi College,
University of Delhi
Mob : 9717189242

Sub.- Editor
Dr. Rajesh Kumar
M.A., M.Phil., Ph.D. (Sanskrit)
Assistant Professor
Department of Sanskrit
PGDAV College (Morn.),
University of Delhi, Delhi
Mob. 9555666907, 9891526584

Legal Advisor :
Arun Kumar Shukla
LL.B., LL.M., D.U.
Mob. : 7011474039, 9650088311

Managing Editor
Thakur Prasad Chaubey
Mob. : 9810636082

Office Addresses :
Head Office (Delhi) :
Dharam Pal
309, Usha Kiran Building, Commercial Complex, Azadpur, ***Delhi****-110033*
Mob : 9267944100

Branch Office (International) :
• Mrs Kirthee Devi Ramjatton
Impasse Bois Cheri, Bois Cheri Road,
Moka- 80804 Mauritius
Email: kdramjatton@yahoo.com
Contact no.: +230 57882178

• Correspondence Address :
B-11/39, MIG Flats IIIrd Floor,
Near DDA Market,
Sector 18, Rohini, Delhi-110089
Mob : 9555222747

• Correspondence Address :
House No. 417, Ist Floor,
Paradise Apartment, Sector-18,
Rohini, Delhi-110089
Mob. : 9267944100

• Branch Office :
R 7-8, Ward No. 2,
Near Football Ground, Transit Camp,
Rudrapur, Udham Singh Nagar,
Uttrakhand-263153
Mob. : 8433465378

Website : www.vsirj.com

Designer :
Kawal Malik, J.D. Computers
Mob. : 9818455819

सम्पादक मंडल :

- **डॉ. शाहिद तस्लीम**
(असिस्टेंट प्रोफेसर, उज्बेक भाषा विशेषज्ञ, जामिया मिल्लिया इस्लामिया, दिल्ली)
- **डॉ. शंकर नाथ तिवारी**
(एसोसिएट प्रोफेसर, संस्कृत विभाग, त्रिपुरा केन्द्रीय विश्वविद्यालय, त्रिपुरा)
- **प्रो. गिरिधर गोपाल शर्मा**
(प्रोफेसर, संस्कृत विभाग, पीजीडीएवी महाविद्यालय (प्रातः), दिल्ली)
- **प्रो. दिलीप कुमार झा**
(प्रोफेसर, संस्कृत विभाग, पीजीडीएवी महाविद्यालय (प्रातः), दिल्ली)
- **डॉ. जितेन्द्र कुमार**
(असिस्टेंट प्रोफेसर एवं विभागाध्यक्ष, इतिहास विभाग, अनुग्रह नारायण स्मारक महाविद्यालय, मगध विश्वविद्यालय)
- **डॉ. देवेन्द्र नाथ ओझा**
(असिस्टेंट प्रोफेसर, एमिटी इंस्टीट्यूट फॉर संस्कृत स्टडीज, एण्ड रिसर्च, एमिटी विश्वविद्यालय, उत्तर प्रदेश, नोएडा)
- **डॉ. वी.के. तोमर**
(एसोसिएट प्रोफेसर, वाणिज्य विभाग, महाराजा अग्रसेन कॉलेज, दिल्ली विश्वविद्यालय, दिल्ली)
- **डॉ. चंद्रशेखर पासवान**
(बौद्ध अध्ययन एवं सभ्यता विभाग, गौतम बुद्ध विश्वविद्यालय, ग्रेटर नोएडा)
- **डॉ. के.के. झा**
(सीनियर लेक्चरर, हिन्दी विभाग, महात्मा गांधी इंस्टीट्यूट, मोका, मॉरिशस)
- **डॉ. सुधीर कुमार सिंह**
(एसोसिएट प्रोफेसर, राजनीति विभाग, दयाल सिंह कॉलेज (प्रातः), दिल्ली)
- **प्रो. चन्द्रशेखर राम**
(प्रोफेसर, हिन्दी विभाग, महाराजा अग्रसेन महाविद्यालय, दिल्ली)
- **डॉ. नन्दिनी सहाय**
(समाज-कार्य विभाग, एमिटी यूनिवर्सिटी, नोएडा)
- **Mrs. Kirthee Devi Ramjatton**
(Senior Lecturer, Department of Sanskrit, School of Indological Studies, Mahatma Gandhi Institute, Moka - 80808 Mauritius)
- **डॉ. कुमारी शुभ्रा**
(प्रख्यात लेखिका एवं साहित्यकार, दिल्ली)
- **डॉ. प्रमोद कुमार द्विवेदी**
(एसोसिएट प्रोफेसर, हिंदी विभाग, श्यामलाल महाविद्यालय (सांध्य), दिल्ली विश्वविद्यालय, दिल्ली)
- **प्रो. प्रद्युम्न कुमार सेठी**
(भौतिक विभाग, किरोड़ीमल महाविद्यालय, दिल्ली विश्वविद्यालय, दिल्ली)
- **डॉ. सुनील कुमार सिंह**
(एसोसिएट प्रोफेसर, रसायन शास्त्र विभाग, किरोड़ीमल महाविद्यालय, दिल्ली विश्वविद्यालय, दिल्ली)

संरक्षक :

- **प्रो. जगमोहन सिंह राजपूत**
(पद्मश्री सम्मानित एवं पूर्व एन.सी.ई.आर.टी. निदेशक, दिल्ली)
- **प्रो. मदन मोहन अग्रवाल**
(पूर्व अध्यक्ष एवं संकाय अध्यक्ष,
संस्कृत विभाग, दिल्ली विश्वविद्यालय, दिल्ली)
- **प्रो. दलवीर सिंह चौहान**
(पूर्व अध्यक्ष, संस्कृत-विभाग, मगध विश्वविद्यालय, बोध गया, बिहार)

अनुक्रमणिका

Editorial ---------- vii

हरिशंकर परसाई की आलोचना दृष्टि संदर्भ : सांप्रदायिकता 1
डॉ. नीलम कुमारी / डॉ. मो. साबिर

वेद, उपनिषद् एवं पुराणों में अंतर्निहित दार्शनिक और नैतिक विचार 4
डॉ. सोनू कुमार

तुलसीकृत प्रसिद्ध काव्यों में रामचरितमानस के संदर्भ .. 7
डॉ. कुमारी अनीता

Ornaments and dresses of women in the Maurya period – a brief study ---------- 12
Sadhana Nai

China's Strategic Perspective on the Israel-Palestine Conflict: Analyzing the Dragon's Approach ---------- 17
Sudhanshu Kumar Kantha

सामाजिक समरसता और राष्ट्र निर्माण में शिक्षक की भूमिका 25
डॉ. विद्याराम मीना

हिंदी सिनेमा का बदलता स्वरूप और युवा पीढ़ी पर उसका प्रभाव : एक विश्लेषणात्मक अध्ययन 28
रजत तिवारी

गुरुकुल कांगड़ी की शैक्षिक पद्धति : परंपरा और आधुनिकता का द्वंद्व 32
अमजद खान

रामचरिमानस के राम 39
आदित्य चतुर्वेदी

शंकरदेव अवतरे कृत 'अभिनवकाव्यशास्त्र' में काव्यलक्षण : एक विमर्श 44
अजीत कुमार

राष्ट्र निर्माण में स्वामी विवेकानन्द का योगदान : उत्तर भारत के सन्दर्भ में 48
भूपेंद्र सिंह / डॉ. चन्द्र शेखर

कौटिलीय अर्थशास्त्र में प्रतिपादित प्रशासनिक व्यवस्था : एक विश्लेषण 56
प्रो. रणजीत कुमार मिश्र / पुष्पम् झा

प्रेमचंद के उपन्यासों में मानवीय मूल्य 61
अनीता चौहान

वैदिक संहिता व बृहत्त्रयी में शस्त्रास्त्र विज्ञान 65
सूरज

हिंदी साहित्य में दलित चेतना का उभार 71
डॉ. भारती

"India's Ability in Administration and Governance: From Traditional to Modern" --- 76
Dr. Ranjan Singh Yadav

Political Realignment: From Caste Mobilization to Cultural Nationalism -------- 85
Ratandeep Tripathi

Underutilization of the Judicial System with Respect to the Rights and Status of Under-Trial Prisoners in India ---------- 89
Shubham Kumar / Siddhant Gupta

Impact of COVID-19 on Skill Development in India: Lessons and the Way Forward for Lifelong Learning ---------- 97
Deepak Goswami / Prakash Narayan

Assessing Prison Governance in India and Germany : A Comparative Political Study -104
Shubham Kumar / Siddhant Gupta

From Learners to Young Historians: Fostering Disciplinary Skills in Senior Secondary History Classrooms ---------- 114
Seema Sharma / Prof (Dr) Vandana Gupta

Indonesia's Indo-Pacific Approach: Navigating the US-China Power Contest --122
Hukam Singh Meena / Gopal Khillo

उन्नीसवीं सदी के पूर्वार्द्ध में राजकीय भाषा-विवाद और हिन्दी 128
डॉ. बिपिन प्रसाद

केदारनाथ सिंह की कविता का अनुभव संसार और उसका सौन्दर्य 134
डॉ. सुनीता दुरंगल

MSME the powerhouse of Indian economy --138
Sanjay Kumar

हिंदी कविता में आपदा विमर्श और पर्यावरणीय बोध 141
डॉ. प्रभात शर्मा

हिंदी में अस्मितामूलक विमर्श और दलित आत्मकथाएं 146
कमलेश

बदलते समय के साथ अभिभावकों के अलगाव से उत्पन्न बालमन का अंतर्द्वंद्व (मन्नू भंडारी के उपन्यास 'आपका बंटी' के संदर्भ में) 151
मुक्ता धामा / प्रो. (डॉ.) राजमोहिनी सागर
Digital Public Infrastructure in India : A Historical Account ----------157
Gadde Surya
The Upper Ganga-Yamuna Doab from Forested Frontier to Agrarian Heartland (13th–17th Centuries) ----------165
Zubair Khan
भारतीय संस्कृति और साहित्य के संदर्भ में स्त्री लेखन 171
डॉ. राजकुमार राजन
विकसित भारत @ 2047 : वृद्ध जनों की देखभाल में परिवार की बदलती भूमिका 176
डॉ. प्रमिला / डॉ. मीनाक्षी आनंद
Religious Processions, Sound, and Space : How Revivalist Practices Triggered Communal Riots in Bihar (c. 1880-1947) --183
Dr. Ashish Kumar Jha
हिंदी उपन्यासों में आदिवासी अस्मिता के प्रश्न 189
डॉ. विदित अहलावत
आधुनिक हिंदी कविता में द्विवेदी युगीन कवियों का योगदान 194
डॉ. सीमा माहेश्वरी
राष्ट्र निर्माता सच्चिदानन्द सिन्हा : प्रशासनिक कार्यों का ऐतिहासिक अवलोकन 197
उपासना
संस्कृतकाव्यशास्त्रस्य उत्पत्तित्तिकासयोः कालिदासस्य 202
वाचस्पति कुमार
Women as Custodians of Living Epics: Mithila's Ramayana Traditions within the Indian Knowledge System ----------205
Kusum Jha
वैदिककालीन समाज की प्रमुख संस्थाएँ 214
डॉ. धनेश कुमार सुमन
बैंकों में राजभाषा के प्रचार-प्रसार में संवाद कौशल का योगदान 220
सुनील कुमार सिंह / डॉ. पूनम शर्मा

सम्पादकीय

25 नवम्बर 2025 को अयोध्या के पवित्र एवं नवनिर्मित श्रीराम लला के दिव्य-भव्य मंदिर के शिखर पर ध्वजारोहण किया गया। शास्त्रों में यह बताया गया है कि मंदिर के शिखर पर ध्वज देवता की उपस्थिति, महिमा और संरक्षण का प्रतीक है। अयोध्या में धर्मध्वज को स्थापित कर समूचे विश्व को यह संदेश दिया गया है कि भगवान श्रीराम का मंदिर अब पूरी तरह बन गया है एवं भगवान श्रीराम की छत्रछाया और आशीर्वाद सदैव भारतवासियों पर बना हुआ है। इसके साथ यह ध्वज सनातन परंपरा और सूर्यवंशी राजाओं के प्राचीन गौरव का प्रतीक है। यह ध्वज सदियों पुराने भारतीय परंपरा और राम राज्य के आदर्शों को भी दर्शाता है। मंदिर में धर्मध्वजा स्थापना के ऐतिहासिक क्षण पर प्रधानमंत्री श्री नरेंद्र मोदी ने इसे सिर्फ एक धार्मिक प्रतीक नहीं, बल्कि संकल्प, सफलता और आदर्शों का उद्घोष बताया। उन्होंने अपने संबोधन में इस ध्वज के 13 गहरे अर्थ बताए, जो आने वाली पीढ़ियों के लिए मार्गदर्शक बनेंगे। प्रधानमंत्री द्वारा कहे गए धर्मध्वजा के 13 अर्थ इस प्रकार हैं–

- ⋆ यह ध्वज संकल्प है–राम मंदिर निर्माण का दृढ़ निश्चय।
- ⋆ यह ध्वज सफलता है–संघर्षों के बाद मिली विजय।
- ⋆ संघर्ष से सृजन की गाथा–सदियों की प्रतीक्षा के बाद साकार हुआ सपना।
- ⋆ सदियों से चले आ रहे स्वप्नों का साकार स्वरूप–राम भक्तों की आकांक्षा का परिणाम।
- ⋆ संतों की साधना और समाज की सहभागिता की परिणति–सामूहिक प्रयास का प्रतीक।
- ⋆ प्रभु राम के आदर्शों का उद्घोष–धर्म, सत्य और मर्यादा का संदेश।
- ⋆ सत्यमेव जयते का आह्वान–सत्य की विजय का उद्घोष।
- ⋆ सत्यं एक पदं–ब्रह्म का स्वरूप सत्य में प्रतिष्ठित।
- ⋆ प्राण जाय पर वचन न जाई–वचन पालन की प्रेरणा।
- ⋆ कर्म प्रधान विश्व रचि राखा–कर्तव्य और कर्म की प्रधानता।
- ⋆ भेदभाव, पीड़ा और परेशानी से मुक्ति की कामना–समाज में शांति और सुख।
- ⋆ नहीं दरिद्र कोऊ दुखी न दीना–गरीबी और दुख से मुक्त समाज का संकल्प।
- ⋆ दूर से रामलला की जन्मभूमि के दर्शन कराएगा–मंदिर न आ पाने वालों को भी पुण्य का अवसर।

हमारे ग्रंथों में लिखा है कि जो लोग मंदिर नहीं आ पाते, वे दूर से ध्वज को प्रणाम कर भी पुण्य प्राप्त कर सकते हैं। 500 वर्षों की प्रतीक्षा, संघर्ष और तपस्या के उपरांत प्रभु श्रीराम के दिव्य मंदिर पर धर्म ध्वजा का आरोहण केवल एक धार्मिक क्षण ही नहीं बल्कि सनातन आस्था की वैश्विक प्रतिष्ठा का साक्ष्य बन रहा है। यह ध्वज प्राचीन काल से ही अयोध्या की पहचान रहा है और वाल्मीकि रामायण में इसका उल्लेख है, जो रघुवंश के शाही वृक्ष कोविदार और सूर्यवंश के प्रतीक के रूप में है। यह केसरिया रंग का है, जिस पर सूर्य, ओम और कोविदार वृक्ष बने हैं। इसे 11फीट चौड़ा, 22 फीट लंबा और पैराशूट फैब्रिक से बनाया गया है, जो इसे मौसम प्रतिरोधी बनाता है। यह 42 फीट ऊँचे ध्वजदंड पर स्थापित है और हवा के रुख के साथ घूमने के लिए 360 डिग्री घूमने वाले चेंबर पर लगा है। यह सारी बातें आपने समाचार चैनलों और अखबारों एवं सोशल मीडिया के माध्यम से आप सभी के पास पहुंची होंगी। संक्षेप में, मैं यहां यह बताना चाहता हूं कि अयोध्या का धर्म ध्वज न केवल एक ध्वज है, बल्कि यह सनातन धर्म, प्राचीन अयोध्या के गौरव और राम राज्य के आदर्शों का एक शक्तिशाली, दृश्यमान प्रतीक है। यह ध्वज हम सबके सबसे बड़े आराध्य और इस सनातन संस्कृति की आत्मा भगवान श्रीराम के मंदिर पर लगा है जिसको 1 मार्च 1528 में तोड़ दिया गया था। अयोध्या में लहराते ध्वजा में हजारों लाखों सनातनियों का खून है जिन्होंने इस दिन के लिए अपना सबकुछ न्योछावर कर दिया था। यह सनातन पुर्नजागरण का दौर चल रहा है। मंदिर बनने के बाद सिर्फ अयोध्या में 2024-25 में 18 करोड़ से अधिक तीर्थ यात्री दर्शन करने गए हैं। मंदिर बनने से क्या होगा, कहने वालों के लिए करारा जवाब है। विरासत और विकास के साथ सनातन के प्रति आस्था पर बहुत कुछ कहा जा सकता है। सुन्दर और उत्कृष्ट शोध आलेख भेजते रहिए। नववर्ष की शुभकामनाओं के साथ।

— डॉ. राजेश कुमार
उपसम्पादक

हरिशंकर परसाई की आलोचना दृष्टि संदर्भ : सांप्रदायिकता

डॉ. नीलम कुमारी* डॉ. मो. साबिर**

हरिशंकर परसाई के सांप्रदायिकता पर किये, चिंतन को लेकर वीरभारत तलवार 'सामना' पुस्तक में कहते हैं- ''परसाई ने सांप्रदायिकता के खिलाफ हमेशा साहसपूर्ण संघर्ष किया है पर उनकी सांप्रदायिकता संबंधी समझ के कुछ एक पक्षों पर सावधानी से विचार करने की जरूरत है।''[1] जिन पक्षों पर 'सावधानी से विचार' करने की जरूरत है उनके विषय में तलवार जी ने लिखा है-''वे (परसाई) सांप्रदायिकता की जड़ें मध्ययुगीन इतिहास और स्मृतियों में मानते हैं।''[2]

डॉ. वीरभारत तलवार ने परसाई के लेख सांप्रदायिकता : प्रकृति, कारण और निदान के आधार पर यह निष्कर्ष दिया है। वस्तुत: इस लेख में परसाई जी ने लिखा है-''हमारे देश में सांप्रदायिक द्वेष की जड़ मध्ययुग का इतिहास है, जो अर्द्धसत्य और गलत नजरिये से प्रचारित किया जाता है और पढ़ाया जाता है। अंग्रेज इतिहासकार 'मिलर' और 'स्मिथ' ने मध्ययुग का इतिहास सांप्रदायिक द्वेष को उभारते हुए लिखा। भारतीय इतिहासकारों ने इसकी नकल की।''[3]

परसाई जी सांप्रदायिकता की जड़ें मध्ययुगीन इतिहास में नहीं मध्ययुगीन इतिहास लेखन में मानते हैं जो अंग्रेजों के आने के बाद यानी आधुनिक युग में लिखा गया। भारत में मध्यकाल के इतिहास को इतिहासकारों ने इस प्रकार प्रचारित और प्रसारित किया है जिससे लगता है कि मध्यकाल में जो भी युद्ध हुए वे सब सांप्रदायिकता के कारण धार्मिक युद्ध थे।

परसाई जी ने सांप्रदायिक द्वेष की 'जड़' मध्ययुग के इतिहास लेखन को इसीलिए माना क्योंकि इसमें सांप्रदायिक विचारधारा का प्रयोग किया जाता है, मध्ययुगीन इतिहास लेखन को लेकर परसाई जी ने लिखा है-''ऐसा बताया जाता है कि पूरे मध्ययुग में 6-7 सौ साल तक इस देश में एक ही काम हुआ - हिन्दू-मुसलमान की लड़ाई। खेती, व्यवसाय इत्यादि कुछ नहीं। संस्कृति की बात ही नहीं। मुसलमानशाहों, सुल्तानों का काम हिन्दू राजाओं पर हमला करना, मन्दिर तोड़ना, मूर्ति खण्डित करना, लूटना, हिन्दुओं पर अत्याचार करना - बस इतना ही था। राजनैतिक संघर्ष को धार्मिक संघर्ष बताया गया। आर्थिक कारणों से झगड़ा-फसाद हुआ तो उसे भी धार्मिक रूप दे दिया गया। वास्तव में महमूद गजनवी ने सोमनाथ का मन्दिर इस्लाम के लिए नहीं, हीरे-जवाहरात और सोने के लिए लूटा था। औरंगजेब मन्दिरों को दान देता था। जहाँगीर और शाहजहाँ अत्यन्त उदार थे।....मुसलमान कवियों ने हिन्दू भक्त कवियों की तरह काव्य लिखा।''[4]

सांप्रदायिक इतिहासकारों में चाहे वे हिन्दुवादी हो या मुसलमान, एक पक्ष कहता है हमारा हिन्दू युग गौरवशाली था। हमारी सारी समस्याओं की जड़ मुसलमान शासकों के आक्रमण के साथ ही शुरू हुई। दूसरी ओर सांप्रदायिकतावादी मुसलमान कहते हैं कि मुसलमानों के आगमन से पहले भारत में गर्व करने लायक कुछ भी नहीं था। मुसलमान शासकों के आने के बाद ही भारत में साँस्कृतिक, राजनैतिक स्थिरता आयी। यह कहने की आवश्यकता नहीं कि इतिहास में इस प्रकार के विचारों ने सांप्रदायिकतावादी राजनीति को जन्म दिया जिसका सांप्रदायिक दृष्टि वाली राजनैतिक पार्टियाँ जमकर प्रयोग करती हैं।

हरिशंकर परसाई लिखते हैं-''अभी भी हिन्दू मन में एक विजित जाति की हीनता की भावना है। मुसलमान में भी यह भावना है कि हम विजेता जाति के हैं और हमने इन पर हुकूमत

की है। हिन्दू और मुसलमान दोनों पर अंग्रेजों ने हमला किया। दोनों पर हुकूमत की। अंग्रेज ईसाई हैं। उन्होंने हिन्दू-मुसलमान दोनों पर अत्याचार कम नहीं किये। मगर अंग्रेजों से न हिन्दू नफरत करता - न मुसलमान। स्वतंत्र भारत का सबसे पहला गवर्नर जनरल ईसाई अंग्रेज था। इसे हिन्दू-मुसलमान दोनों ने सलाम किया। अंग्रेज मूर्तिपूजक हैं। वे ईसा के बुत की पूजा करते हैं। मगर मुसलमान इन बुतपरस्तों से नफरत नहीं करता। अंग्रेज साम्राज्यवादी थे। मुसलमान साम्राज्यवादी नहीं हैं। वे भारतीय ही हो गये। मगर हिन्दू साम्राज्यवादी शोषक अंग्रेज से नफरत नहीं करता, उसे आदर्श मानता है, उसकी रहन-सहन में नकल करता है। अंग्रेजी साम्राज्य समाप्त हुआ, तो उसकी जगह ली नये प्रकार के अमेरिकी साम्राज्यवाद ने। अमेरिकी भी ईसाई हैं। मगर हिन्दू जाति के बड़े-से बड़े रहनुमा अमेरिका के भक्त हैं। यह क्या विरोधाभास है? कौन-सा तर्क है इसमें?''[5] आगे परसाई कहते हैं-''हारे हुए निराश हिन्दू मन ने अपने प्राचीन गौरव की याद की, उसका सहारा लिया और उस 'यूटोपिया' में जीकर, आधुनिकता का विरोध किया। उसने पुरातनवाद में जातीय गौरव की रक्षा खोजी। इस भावना ने उसे संकीर्ण, ज्ञान-विज्ञान विरोधी, अतीतजीवी और क्षुद्र बनाया। उधर मुसलमानों के हाथ से हुकूमत अंग्रेजों ने छीनी। उसे गुलाम बनाया। वह हीनता की भावना से ग्रस्त हुआ, तो उसे भी इस्लामी अतीत की याद आयी कि उसने यूरोप और एशिया को रौंद डाला था। इस्लामी बिरादरी की याद आयी। वह भी बुनियादी इस्लाम में पहुँचा और 7वीं सदी के मक्का-मदीना में रहने लगा। वह ख्वाब देखने लगा फिर इस्लामी साम्राज्य की स्थापना के, क्योंकि-'उठता है फिर मुसलमाँ हर करबला के बाद।' मुसलमानों के कट्टर रहबर भी अमेरिकी साम्राज्यवाद के समर्थक हैं।''[6]

मध्ययुग के सांप्रदायिक इतिहास पर दृष्टि डालते हुए परसाई कहते हैं-''मध्ययुग गलत सांप्रदायिक इतिहास ही वह जहर है जिसने सांप्रदायिक द्वेष को जीवित रखा है। इतिहास विज्ञान है कल्प-कथा नहीं है। जब तक वैज्ञानिक दृष्टि से धार्मिक द्वेष से मुक्त, तथ्यपरक इतिहास नहीं पढ़ाया जायेगा, तब तक सांप्रदायिक द्वेष जा नहीं सकता। मगर जब भी इस तरह के इतिहास को लिखने और पढ़ाने का प्रयास किया जाता है, वही सामन्तवादी-पूँजीवादी ताकतें उसे रोक देती हैं।''[7] सांप्रदायिकता को खत्म करने के संदर्भ में परसाई लिखते हैं-''यदि सांप्रदायिकता को खत्म करना है, तो नये सिरे से इतिहास लिखना, पढ़ना और पढ़ाना पड़ेगा। यही नहीं, भाषा और साहित्य की पाठ्य-पुस्तकों से भी सांप्रदायिक रचनाएँ निकालनी होगी। उत्तर भारत में स्कूलों में पढ़ाई जानेवाली हिन्दी भाषा की पाठ्य-पुस्तकें देखिए। इनमें रचनाओं का चयन सांप्रदायिक दृष्टि से किया जाता है।''[8] वीरभारत तलवार लिखते हैं-''लेकिन आज की सांप्रदायिकता एक आधुनिक विचारधारा है और यह एक दूसरी आधुनिक विचारधारा राष्ट्रवाद से घनिष्ठ रूप से जुड़ी है।''[9]

ब्रिटिश शासन के भारत आगमन के बाद ही सांप्रदायिकतावादी विचारों का जन्म हुआ। अंग्रेजी राज स्थापित होने से पहले भारत में हिन्दू और मुस्लिम शासकों के बीच जो भी युद्ध हुए वे सब सत्ता के विस्तार के लिए थे। यह युद्ध सांप्रदायिक नहीं थे क्योंकि हिन्दू राजाओं के साथ मुसलमान योद्धा लड़ते थे और मुसलमान शासकों के लिए हिन्दू सेना लड़ती थी। परसाई के शब्दो में—''औरंगजेब के कमाण्डर राजपूत थे और शिवाजी के कमाण्डर मुसलमान। सामान्य जनता में हेल-मेल था, समान जीवन-पद्धति विकसित हो रही थी, भाईचारा बढ़ रहा था, सांस्कृतिक आदान-प्रदान हो रहा था।''[10]

1857 के विद्रोह में हिन्दू और मुसलमान दोनों ने सामान्य रूप से भाग लिया। यह विद्रोह भारतीय जनता का विद्रोह था किसी समुदाय का नहीं इसलिए जनता ने बहादुरशाह जफर को बादशाह बनाया जो एक मुसलमान था। प्रेमचंद ने 'हिन्दू-मुस्लिम एकता' नामक निबन्ध में लिखा है-''1857 के विद्रोह में हिन्दू-मुसलमान दोनों ही ने जिसे अपना नेता बनाया, वह दिल्ली का शक्तिहीन बादशाह था। हिन्दू-मुसलमान नृपतियों में पहले भी लड़ाइयों हुई हैं, पर वह लड़ाइयाँ धार्मिक द्वेष के कारण नहीं, स्पर्धा के कारण थीं। उसी तरह जैसे हिन्दू राजा आपस में लड़ा करते हैं। उन हिन्दू-मुस्लिम लड़ाइयों में हिन्दू सिपाही मुसलमानों की ओर होते थे, और मुसलमान सिपाही हिन्दुओं की ओर।''[11] इस विद्रोह में जीत तो अंग्रेजों की हुई लेकिन अंग्रेजों को यह बात अच्छी तरह से समझ में आ गयी थी कि भारतीय जनता को बांटे बिना शासन नहीं किया जा सकता। इसलिए अंग्रेजों ने 'फूट डालो और राज करो' की नीति अपनायी। इसके लिए उन्होंने मध्यकाल के इतिहास का सहारा लिया।

प्रगतिशील साहित्यकारों और इतिहासकारों के मध्ययुगीन इतिहासलेखन संबंधी विचारों को देखें तो यह बात और अच्छी

तरह से स्पष्ट हो जाती है। इरफान हबीब ने लिखा है–''यह कहना शायद निरापद हो कि हमारे देश में सांप्रदायिकता विचारधारा को मध्यकाल के अध्ययन से जितनी खुराक मिली है, उतनी भारतीय इतिहास के किसी युग के अध्ययन से नहीं। अनेक विद्वानों की दृष्टि में इस्लाम के आगमन से देश जैसे दो परस्पर संघर्षरत शिविरों में स्थायी रूप से विभाजित हो गया था।''[12]

सांप्रदायिक दंगे आर्थिक और राजनैतिक कारणों से होते हैं इसमें भी मुख्य कारण आर्थिक होता है। दो समुदायों के बीच आर्थिक और राजनीतिक प्रतिस्पर्धा भी सांप्रदायिक दंगे का कारण होती। हरिशंकर परसाई सांप्रदायिक दंगों का प्रमुख कारण आर्थिक मानते हैं।''एक कारण और प्रमुख कारण आर्थिक है। नौकरियाँ, धंधे, प्रापर्टी के मामले में जब हिन्दू-मुस्लिम स्पर्धा और झगड़ा होता है, तो उसे साम्प्रदायिक रूप दे दिया जाता है।''[13]

अत: निषकर्ष रूप में कहा जा सकता है कि सांप्रदायिकता मध्यकाल की देन नहीं बल्कि आधुनिक विचारधारा है। सांप्रदायिकता के लिए मध्यकाल को जिम्मेवार मानना सही नहीं होगा क्योंकि मध्ययुग के लोग सांप्रदायिक की अपेक्षा धार्मिक थे। जिस प्रकार एक सांप्रदायिक व्यक्ति धार्मिक नहीं हो सकता। वैसे ही एक धार्मिक व्यक्ति सांप्रदायिक नहीं हो सकता। अनेक इतिहासकारों चिन्तकों की तरह परसाई जी भी सांप्रदायिकता को आधुनिक युग की देन मानते हैं। साथ ही वे सांप्रदायिकता के राजनैतिक, आर्थिक आधारों का भी विश्लेषण करते हैं। इसलिए तलवार जी ने उनके सम्बन्धी विचारों को लेकर जिस 'सावधानी से विचार' करने की जरूरत को गढ़ा है वह कल्पित और तथ्य विरोधी है।

★एसोसिएट प्रोफेसर
जाकिर हुसैन दिल्ली कॉलेज
दिल्ली विश्वविद्यालय

★★अस्सिटेंट प्रोफेसर
जाकिर हुसैन दिल्ली कॉलेज
दिल्ली विश्वविद्यालय

सन्दर्भ सूची

1. वीर भारत तलवार, सामना, पृष्ठ 197
2. वही, पृष्ठ 197
3. परसाई रचनावली-6, पृष्ठ 397
4. वही, पृष्ठ 398
5. वही, पृष्ठ 396
6. वही, पृष्ठ 397
7. वही, पृष्ठ 398
8. वही, पृष्ठ 398
9. वीर भारत तलवार, सामना, पृष्ठ 197, वाणी प्रकाशन प्रथम संस्करण : 2005
10. परसाई रचनावली-6, पृष्ठ 398
11. सं. निर्मल वर्मा, कमल किशोर गोयनका, प्रेमचंद रचना-संचयन, साहित्य अकादेमी, प्रथम संस्करण : 1994, पुनर्मुद्रण : 2002, 2004 पृष्ठ 745
12. प्रो. इरफान हबीब, भारतीय इतिहास में मध्यकाल, पृष्ठ-120, सहमत प्रकाशन, नई दिल्ली, पहला संस्करण : 1999
13. परसाई रचनावली- 6, पृष्ठ 398

डॉ. सोनू कुमार

वेद, उपनिषद् एवं पुराणों में अंतर्निहित दार्शनिक और नैतिक विचार

सारांश :

सच ही कहा गया है कि आवश्यकता आविष्कार की जननी है। यदि हम मानव सभ्यता की विकास प्रक्रिया को देखें तो हमें पता चलेगा कि मनुष्य ने अपने जीवन को आरामदायक और सुखी बनाने के लिए नित कुछ न कुछ सृजन करता रहा है। जहाँ एक तरफ मनुष्य अपने जीवन को आरामदायक और सुखी बनाने के लिए नूतन वस्तुओं का सृजन किया वहीं दूसरी तरफ अपने अन्त:मन को अशुद्ध करता चला गया । इसलिए जब भी मनुष्य को अपने अंत:करण को शुद्ध करने की ललक पैदा हुई तब-तब वह हमारे आदि ऋषि-मुनियों के बताए गए सन्मार्ग की ओर उन्मुख हुआ है। इसके लिए मनुष्य ने धर्म ग्रन्थों जैसे- वेद, पुराण, महापुराण, उपनिषद्, गीता आदि का सहारा लिया है। इन धर्म ग्रन्थों के अध्ययन से पता चलता है कि अनादि काल से ही हमारे देवताओं और ऋषि-मुनियों ने नैतिकता, कर्म, ज्ञान, पाप-पुण्य, नीति, आचरण आदि पर अनेक दार्शनिक विचार प्रस्तुत किये हैं। जिसको आत्मसात कर मनुष्य अपने कलुषित व्यक्तित्व को उज्ज्वल कर अपने जीवन को सफल बना सकता है। इस आलेख के माध्यम से वेद, उपनिषद एवं पुराणों में अंतर्निहित दार्शनिक विचारों की क्या महत्ता है। इस पर गहराई से चर्चा की गई है। इसके साथ ही इस आलेख के माध्यम से दर्शनशास्त्र, आचारशात्र, कर्मवाद, ज्ञानमीमांसा, नीतिशात्र आदि सैद्धान्तिकी के दार्शनिक आधार को भी समझने का प्रयास किया गया है।

बीज शब्द :

नैतिकता, दर्शनशास्त्र, आचारशात्र, कर्मवाद, ज्ञानमीमांसा, नीतिशात्र, पाप-पुण्य तत्व मीमांसा।

शोध आलेख :

आज बहुत सारे लोग दर्शनशास्त्र और नीतिशास्त्र की महत्ता को अच्छी तरह नहीं समझ पाते हैं। इतना ही नहीं वर्तमान में भौतिकता में लिप्त मानव और भौतिकतावादी सोच के कारण मानव, दर्शन और नैतिकता जैसे विषय पर देख ही नहीं पा रहा है जिसके कारण आज समस्त मानव जाति दु:खों से ग्रस्त होता जा रहा है। इसके सम्बंध में लोगों में बहुत सारी भ्रान्तियाँ भी दृष्टिगत होती हैं, कुछ लोग इसे अनुपयोगी और अनर्गल तक घोषित कर देते हैं।

यह हम मान सकते हैं कि वैज्ञानिक दृष्टिकोण और आविष्कार के कारण ही असम्भव चीजें भी मानव देख पा रहा है लेकिन दर्शन और नैतिकता का मानव मन पर अलग ही प्रभाव पड़ता है। दर्शन मानव जाति को चिन्तन और तार्किक दृष्टि प्रदान करता है और नैतिकता मानव को सन्मार्ग प्रदान करता है। जिस पर चलकर व्यक्ति अपने व्यक्तित्व को और अपने भारत वर्ष को ऊंचाई पर ले जा सकता है जो कि प्राचीन समय से भारत देश में निहित था।

वास्ताविकता यह है कि हिन्दू (सनातन) धर्म ग्रंथों में ही दर्शन एवं नैतिकता के बीज उत्पन्न हुए जो कि आज इन्हीं धर्म ग्रंथों, वेद, उपनिषद्, गीता एवं पुराण में अंतर्निहित विषय वस्तु भारत वर्ष ही नहीं वरन् विश्व को एक नवीन दिशा देने में अग्रसर है। भारतवर्ष में दार्शनिक विचारधारा का उद्भव कब हुआ। इस प्रश्न के उत्तर में हम कह सकते हैं कि दु:ख निवृत्ति के उपाय ही और आत्मसात्कार भारतीय दर्शन का मूल विषय है।

जब से सृष्टि की उत्पत्ति हुई तब से ही दु:ख है और

उसकी समस्याओं के उपायों को भी उसी समय से लोग खोज रहे होंगे। अतएव सृष्टि की उत्पत्ति के साथ-साथ दार्शनिक विचारधारा की भी उत्पत्ति माना जा सकता है। आज हमें दृष्टिगोचर होता है कि जीव जैसे ही माता के भ्रूणास्य (गर्भास्य) में प्रवेश करता है तब से वह सुख-दु:ख का अनुभव करने लगता है। यही इस संसार की सत्यता है। जब आप इस संसार में जन्म लिए हैं तो सुख और दु:ख का अनुभव होगा ही इससे हम यह अनुमान लगा सकते हैं कि जब दुख का अनुभव हुआ होगा तो उसके साथ-साथ उस दु:ख के निवारण के उपायों की भी खोज होती ही रही होगी। यही हमारे दर्शन का विषय है।

अगर बात करें इस विषय पर तो गौतम बुद्ध ने बहुत ही गहन चिंतन-मनन करके अपना दार्शनिक मत उन्होंने संसार के समक्ष प्रस्तुत किया है। वह मानते हैं कि संसार में दु:ख, दु:ख के कारण हैं और दु:ख का निवारण भी है। उन्होंने बताया है कि संसार में दु:ख क्यों है, इस दु:ख के कारण क्या-क्या है और दु:ख को कैसे खत्म किया जा सकता है। इसलिए यदि देखा जाए तो भारतीय मनीषियों में दु:ख पर चिंतन करने वाले गौतम बुद्ध सबसे पहले दार्शनिक ठहरते हैं।

इन सभी विषयों का लिखित प्रमाण हमें वेदों से मिलता है। क्योंकि यह भारत वर्ष के सबसे प्राचीन एवं विश्वसनीय ग्रन्थ हैं। वेद का अर्थ ज्ञान है। वेद को भारतीय ऋषि मुनियों ने कठिन तप के द्वारा इसका साक्षात्कार किया था।

ऋषि-मुनियों के कठिन तपस्या के द्वारा जो अंत:करण में स्फुटन हुए शब्द थे उसे ऋषि-मुनियों ने मंत्र के रूप में प्रकाशित किया था। ये मंत्र परमात्मा का स्वरूप है। वेदों में कहा गया है कि बिना कर्म के ज्ञान नहीं और बिना ज्ञान के कर्म नहीं। इसलिए ऐसा माना जाता है कि मनुष्य जीवन तभी सफल माना जाता है, जब वह इन दोनों को अपने जीवन में उतारता है। ऐसा माना जाता है कि मनुष्य द्वारा जो धार्मिक कार्य, धार्मिक वाचना की जाती है, वह सभी मनुष्य के कर्म के अंतर्गत आता है। इससे मनुष्य के शरीर का शोधन होता है अर्थात् मनुष्य का अंत:करण शुद्ध होता है और जैसे ही मनुष्य का अंत:करण शुद्ध होता है वैसे ही मनुष्य को ज्ञान की अभिव्यक्ति होती है। इसके बाद ही मनुष्य परमतत्व को प्राप्त करता है।

वेदों में आचार शास्त्र : यह कहना कदापि अनुचित नहीं है कि अच्छे कर्म से ही व्यक्ति ज्ञान मार्ग पर अग्रसर होता है और ज्ञान की प्राप्ति करता है। बिना अच्छे कर्म के अंत:करण की गन्दगी को दूर नहीं किया जा सकता और न ही बिना अंत:करण की शुद्धि के अहंकार को नष्ट नहीं किया जा सकता है। ऋषि-मुनियों की तपस्या और देवताओं की स्तुतियों का वर्णन वेदों में मिलता हैं। ये तपस्या एवं स्तुतियाँ पवित्र कर्म ही हैं। इस क्रिया में सफलता पाने के लिए ऋषियों एवं देवताओं को आचरण की शुद्धता को हमेशा बनाये रखना अति आवश्यक था। इसलिए कहा गया है कि रामतत्व की प्राप्ति के लिए अच्छे कर्म एवं पवित्र विचारों का होना बहुत आवश्यक है। इसके बिना जिज्ञासु या ऋषि अपने चरम लक्ष्य तक नहीं पहुंच सकते।

कर्मवाद क्या है? इस पर प्राचीन समय से ही हमारे भरतीय ऋषि-मुनियों ने चिंतन-मनन करके धार्मिक ग्रन्थों जैसे-वेदों, उपनिषदों और पुराणों आदि में अपना मत प्रस्तुत किये हैं।

कर्मवाद : हमारे भारतीय ऋषि-मुनियों ने कहा है कि पवित्र नैतिक कर्म से ही पुण्य प्राप्त होता है और भविष्य में उसी से ही सुख की प्राप्ति होती है। अनैतिक कर्म से मनुष्य पाप फल का भागीदार होता है जिसके कारण उसका सम्पूर्ण जीवन दुखमय बना रहता है। इसलिए कहा गया है कि मनुष्य के इस जन्म में पिछले जन्म या पूर्वजन्म का अस्तित्व रहता है। पूर्वजन्म के किए गये कर्म का फल भोगने हेतु संसार में जीव को फिर से जन्म लेना होता है। इसलिए कर्म एक गतिशील प्रक्रिया है। कर्म की गति को वैदिक काल के लोग बहुत कम ही जानते थे।

दार्शनिक ब्रह्मांड की प्रत्येक चर-अचर वस्तुओं के बारे में चिंतन-मनन करते हैं इसलिए दार्शनिकों के विचार में कर्म की बहुत ही महत्ता रही है। वास्तव में संसार में जितनी भी घटनाएं घट रही हैं। वह कर्म के अनुसार ही घट रही हैं। यह समस्त जगत ही कर्म की गति का फल है। यहाँ तक कि देवता भी इस कर्म के बन्धन से मुक्त नहीं हैं। मनुष्य पूर्वजन्मों में किए गये पाप कर्मों से छुटकारा पाने हेतु देवताओं की प्रर्थाना करते हैं ताकि उनके पूर्वजन्मों का पाप नष्ट हो जाए। पूर्वजन्मों में संचित पाप कर्मों का वर्णन भी मंत्रों में है। इससे यह स्पष्ट होता है कि वैदिक काल के लोग कर्मवाद प्रत्येक स्वरूप से पूर्ण रूप से परिचित थे। ऊपर वर्णित प्रसंगों के आधार पर यह कहा जा सकता है कि भारतीय दर्शन के विषय वस्तु, साधारणतया प्राचीन भारतीय धर्म ग्रन्थों में यदा-कदा मिलता है तो हमें पता चलता है कि भारतीय विचारधारा का

जीवनस्रोत, सभी परमतत्व की प्राप्ति के लिए अविच्छिन्न रूप से अनादि काल से चली आ रही है।

उपनिषदों के दार्शनिक विचार : संहिता, ब्राह्मण और आरण्यक को पहले मुख्य रूप से उपासना का ग्रंथ बताया गया। ये तीनों दार्शनिक ग्रंथ नहीं हैं। परन्तु जैसा कि ऊपर वर्णित किया गया है, उपासना भी तो दर्शन के ही अंग है। उपासना के बिना अन्त:करण की शुद्धि कदापि नहीं हो सकती। उपासना से ज्ञान का उदम अर्थात् आत्मा का दर्शन। ज्ञान और आत्मा इन दोनों में घनिष्ट सम्बन्ध है। इसलिए संहिता आदि ग्रंथों में कर्मकाण्ड का विचार करते हुए आत्मा के सम्बन्ध में साक्षात् तथा परम्परागत रूप से अनेक विषयों का विचार मिलता है। यही कारण है कि उपासना के विचार के साथ-साथ अध्यात्मिक नैतिक विचार भी ब्राह्मण तथा आरण्यक ग्रन्थों में मिलते हैं तथा आत्मा के विकार के साथ-साथ उपासनाओं का विचार भी हमें उपनिषदों में मिलता है। उपनिषदों का अपना कोई नैतिक दर्शन नहीं है। इसका कोई विशेष विषय नहीं है। इसका सभी विचारों के प्रति समान आदर-सम्मान है। उपनिषदों का चरम लक्ष्य या ध्येय सत् चित् आनन्द परमात्मा का विचार या साक्षात्कार है।

ज्ञान-विज्ञान का वास्तव में परम लक्ष्य तो वही एक अखण्ड परमतत्त्व है। यही जीवन का मुख्य लक्ष्य है उसी की प्राप्ति की अनुभूति में दु:ख की निवृत्ति और जिज्ञासा की पूर्ति होती है तथा जन्म-मृत्यु के बन्धन से सदा के लिए मुक्ति मिलती है।

पुराणों का नीति दर्शन : पुराणों के अनुसार ब्रह्म ज्ञान ब्राह्मणों को प्राप्त विषय था। इसका वर्णन वेदान्त में आचार्य शंकर ने अपने शब्दों में कहा ''ब्रह्म सत्यम जगत मिथ्या'' अर्थात् पूरे ब्रह्माण्ड में बस एक वास्तविक सत्य ब्रह्म अर्थात् आत्मा है और सारा जगत आकाश कुसुम बन्धया पुत्र की तरह नितान्त असत् है। आचार्य शंकर ने अपने तत्त्वमसी सिद्धांत में तत्त्व और त्वम् का विश्लेषण करते हुए एक वास्तविक सत्य ब्रह्म की स्थापना कहते हैं। इसका विस्तृत विवरण उपनिषदों एवं पुराणों में ब्रह्म के मूर्त एवं अमूर्त दोनों रूपों की विस्तृत चर्चा हुई है। यही ब्रह्म अविद्या के कारण जकड़कर जीवात्मा कहलाता है। पुराणों एवं उपनिषदों में जीवात्मा अर्थात् आत्मा और ब्रह्म को एक ही बताया गया है। जिस प्रकार स्थूल शरीर के अंगों को छिन्न होने पर जगत अवस्था से स्वप्न अवस्था में जीव प्रवेश करता है उसी प्रकार अपने जर्जर स्थूल शरीर को छोड़कर अविद्या के अभाव में वह दूसरा नया शरीर धारण करता है । इसका वर्णन गीता में भी वर्णित है। अन्त:करण में आने वाले चार तत्त्व बुद्धिचित्त, मन एवं अहंकार को कुशल कर्मों के माध्यम से जनमानस परमात्मा की ओर अपना मार्ग प्रशस्त करता है। परमात्मारूपी आत्मतत्त्व में विलीन होकर मनुष्य अपने परम लक्ष्य को पा सकता है। उपनिषदों एवं पुराणों में नैतिक कर्म की गति का सचित्र वर्णन है। उन कर्मों से अच्छी योनि में पाप कर्मों से कलुषित योनि में जीव का जन्म ग्रहण करना पड़ता है। आत्मा का साक्षात्कार के लिए तथा ब्रह्मज्ञान के लिए जीव को कायिक, वाचिक तथा मानसिक का संयम करना आवश्यक है। जीव संसार के बंधन से मुक्ति पाकर जन्म-मरण से छुटकारा पाकर उस आनन्दमय, सच्चिदानंद, परमपद को प्राप्त कर ब्रह्म में विलिन हो जाता है।

इतिहास विभाग
देशबंधु कॉलेज
दिल्ली विश्वविद्यालय, दिल्ली

सन्दर्भ सूची

1. श्रीमद्भगवद्गीता, गीताप्रेस गोरखपुर, शंकरभाष्य
2. वैदिक वाङ्मय, ऋग्वेद संहिता शांकलक शाखा, दशम मण्डल
3. छान्दोग्योपनिषद्, गीताप्रेस गोरखपुर
4. ए.सी. भक्तिवेदान्ता एवं स्वामी प्रभूपदा, श्रीमद्भगवद्गीता, गीताप्रेस गोरखपुर
5. डॉ. राधाकृष्णन्, भारतीय दर्शन, भाग एक, राजकमल प्रकाशन, वाराणसी
6. डॉ. राजकुमार, हिन्दू दर्शन के विविध आयाम, अर्जुन पब्लिशिंग हाउस, नई दिल्ली, 2005
7. पाण्डेय, प्रो. संगम लाल, नीतिशास्त्र का सर्वेक्षण, सेन्ट्रल पब्लिशिंग हाउस, इलाहाबाद, 1999
8. सिन्हा, प्रो. हरेन्द्र प्रसाद, भारतीय दर्शन की रूपरेखा, राजकमल प्रकाशन, वाराणसी
9. शर्मा, चन्दधर, भारतीय दर्शन का इतिहास, भारतीय प्रकाशन वाराणसी
10. महीप, डॉ. महीपाल सिंह, बुद्ध वचन का पहचान, उत्तर प्रदेश हिन्दी संस्थान लखनऊ

डॉ. कुमारी अनीता

तुलसीकृत प्रसिद्ध काव्यों में रामचरितमानस के संदर्भ

तुलसी ने जो कुछ लिखा है वह सब भक्ति के संदर्भ में ही है। तुलसी की दृष्टि राम पर केन्द्रित है और उन्हें सर्वांगीण रूप में ग्राह्य बनाने के लिये ही उन्होंने राम के चरित्र में शील, शक्ति और सौन्दर्य का समन्वय किया है। अपने आराध्य के मंगलमय रूप की झांकी दिखाते हुए उन्होंने उनके चरित्र की उन विशेषताओं का उल्लेख किया है, जिनके कारण वे समाज के लिए अनुकरणीय और आदर्श पुरुष बने हैं।

तुलसी के विविध ग्रन्थों में इन संदर्भों की भिन्न-भिन्न भूमिकायें हैं और कोई एक संदर्भ विभिन्न ग्रन्थों में एक ही भाव को लेकर नहीं चला है। भक्ति सिद्धान्तों की पृष्ठभूमि में राम के महत्व को स्पष्ट करने के लिए में रामायण कालिक इन तुलसी ने इन संदर्भों का प्रयोग किया है। कवि तुलसी के सभी प्रसिद्ध ग्रन्थों में रामायण कालिक इन आख्यानों का उपयोग भिन्न-भिन्न स्थलों पर भिन्न-भिन्न रूपों में हुआ है। उदाहरणार्थ- जयन्त की कथा विनयपत्रिका में राम के दीन हितकारी रूप को प्रत्यक्ष करती है तो 'गीतावली' तथा 'कवितावली' में राम का प्रताप करने में, 'रामाज्ञा-प्रश्न' में शुभ-अशुभ शकुन बताने में तथा 'दोहावली' में अविवेक को दु:ख का मूल कारण स्पष्ट करने में प्रयुक्त हुई है। हनुमान् द्वारा सिंहिका वध कथा 'रामाज्ञा-प्रश्न' में शकुन प्रसंग में आई है, किन्तु 'विनयपत्रिका' में हनुमंत स्तुति प्रसंग में वर्णित है। विराध वध की कथा 'कवितावली','गीतावली' तथा 'विनयपत्रिका में राम की स्तुति, गुणगान तथा प्रताप वर्णन में अवतरित हुई है, किन्तु रामाज्ञा प्रश्न में शुभाशुभ बताने के प्रसंग में वर्णित हुई है। रावण द्वारा शिव एवं ब्रह्मा की भक्ति 'गीतावली', 'दोहावली' एवं 'विनयपत्रिका' में विभीषण की राम को शरणागत वत्सलता के प्रसंग में तथा 'कवितावली' में लकादहन तथा मंदोदरी द्वारा रावण को प्रबोध के प्रसंग में वर्णित है। रावण द्वारा कैलाश पर्वत उठाने का प्रसंग 'गीतावली' में ही एक स्थान पर राम के पौरुष वर्णन में तथा दूसरे स्थान पर रावण के अतुलित बाहुबल वर्णन में और 'कवितावली' में वानर दैत्य संग्राम के प्रसंग में प्रयुक्त हुई है।

समुद्र मंथन को कथा 'कवितावली' एवं 'गीतावली' में राम-महिमा एवं गुणगान वर्णन में तथा 'विनयपत्रिका' में ईश्वर भक्त रक्षक के संदर्भ रूप में वर्णित है। सगर पुत्रों द्वारा सागर खोदने की कथा 'गीतावली' में एक स्थल पर भरत महिमा प्रसंग में और दूसरी जगह राम महिमा के प्रसंग में उल्लिखित है। शबरी की कथा 'दोहावली', 'कवितावली' तथा 'विनयपत्रिका' में कुछ स्थलों पर नामस्मरण के प्रभाव के प्रसंग में आई है, किन्तु 'विनयपत्रिका' के ही कुछ अन्य स्थलों पर तथा गीतावली में भगवान् को शरणागत वत्सलता, भक्तों के प्रति प्रेम भावना तथा संकट हरण के प्रसंग में वर्णित है। इसके अतिरिक्त कुछ ऐसी भी कथाएँ हैं जो भिन्न-भिन्न ग्रन्थों में एक ही संदर्भ में प्रयुक्त हुई हैं जैसे राम द्वारा ब्राह्मण पुत्र को जिलाने को कथा, 'गीतावली', 'दोहावली' एवं 'रामाज्ञाप्रश्न' में सर्वत्र राम द्वारा नीतिपालन के प्रसंग में प्रयुक्त हुई है। सूर्पणखा तथा मारीच वध की कथा 'दोहावली' एवं 'गीतावली' में राम को अन्तर्यामी तथा कपटी के कपट को जानने के प्रसंग में वर्णित हैं। कवि के समस्त ग्रन्थों में हमें कहीं-कहीं यह भी मिला है कि एक कथा केवल एक प्रसंग में ही वर्णित है। जैसे 'विनयपत्रिका' में लवणासुर के वध की कथा, शत्रुघ्न महिमा प्रसंग में, मृग कथा भक्तों की आपदाओं को दूर करने के प्रसंग

में, जटायु की भक्ति राम नाम महिमा प्रसंग में तथा मय दैत्य की कथा सत्संगति के प्रभाव के वर्णन के प्रसंग में वर्णित है।

उक्त विवेचन से हम इस तथ्य पर पहुँचते हैं कि तुलसी ने रामायणकालिक संदर्भों को अपने ग्रन्थों में जिस उद्देश्य विशेष को ध्यान में रखकर प्रयुक्त किया है वह भक्ति की महिमा है और आराध्य राम के चरित्र को सर्वगुण सम्पन्नता प्रदान करना है। ये रामायणकालिक प्रसंग आलोच्य ग्रन्थों में संकेत रूप से ही वर्णित हैं। अत: इन्होंने अन्तर्कथाओं का रूप धारण कर लिया है। इन संदर्भों के प्रकटीकरण में संत कवि तुलसी ने अपना उद्देश्य स्पष्ट रूप से प्रतिपादित किया है जिसको ध्यान में रखकर हम कविकृत सभी ग्रंथों में संदर्भों की उपयोगिता एवं महत्व को वर्गीकृत रूप में उपस्थित कर रहे हैं, जो इस प्रकार हैं-

1. श्री राम की भक्त वत्सलता एवं शरणागति

तुलसीदास श्री राम के अनन्य भक्त होने के नाते इस चराचर जगत् का पालक एवं रक्षक केवल राम को ही मानते हैं। तुलसी के राम अति दयालु हैं, वे शरण में आये भक्तों की रक्षा करके उन्हें सब प्रकार से प्रसन्न करते हैं। रावण जैसे गर्वशाली योद्धा ने भी जब कैलाश पर्वत को उठाना चाहा तब उसका शरण में आने पर उसे मुक्त करके अभय दान दिया।[1] हरि के अतिरिक्त दीन शरणागतों पर ममता करने वाला कोई नहीं। रावण ने शिव और ब्रह्मा की भक्ति चाहे अपनी स्वार्थ सिद्धि के लिए ही की हो, लेकिन शरण में आने पर उसकी कामनायें पूर्ण करना केवल हरि की सामर्थ्य के अन्तर्गत ही आता है।[2] विभीषण और शबरी जैसे अनन्य राम भक्त भी अपने को हरि की शरण में जानकर कृत-कृत्य मानते हैं और अपने भाग्य की सराहना करते नहीं थकते। शरणागत वत्सल भगवान् के हाथ में क्या नहीं है? रावण को शिव जी के सम्मुख दश सिर बलि चढ़ाने पर प्राप्त हुई सम्पदा विभीषण को राम से तृणवत् ही प्राप्त हो गई।[3] राजा नृग इतने धर्म परायण दानी एवं उदार वृत्ति के होकर भी अनजान में हुई जरा सी भूल के कारण शाप भोगते हैं किन्तु राम ने शाप भोगते हुये नृग पर भी अति कृपा करके उसे अपने धाम तक पहुँचाया।[4] इस प्रकार तुलसी ने अनेक कथाओं तथा रामभक्तों के उदाहरण दे-देकर राम की भक्त वत्सलता सिद्ध की है।[5]

2. राम का दीन हितकारी रूप

गोस्वामी तुलसीदास जी का अटूट विश्वास है कि हरि द्वारा अंगीकार किया गया व्यक्ति पवित्र, सुशील, विद्यासागर तथा गुणों की खान होता है।[6] अंगीकार करने के पश्चात् भगवान् अपने भक्तों की समस्त आपदाओं को दूर करते हैं। उनके चरणों की कृपा मात्र से ही भक्तों के लिये सब कुछ मंगलमय होता है। हरि के अतिरिक्त दीन शरणागतों पर ममता करने वाला कोई नहीं है। शबरी की भक्ति तथा राम का उस पर स्नेह इसी बात का द्योतक है।[7] गर्वोन्मत एवं काम से पीड़ित जयन्त को कहीं भी कोई शरण देने वाला नहीं मिला, वह राम की शरण में जाकर ही अभय में दान पाता है।[8] इस प्रकार तुलसी ने अपने काव्य में यह सिद्धि किया है कि संसार राम के समान दीनबन्धु और दयानिधान कोई नहीं है। इस विश्वास के आधार पर ही वह इस बात की आशा करते हैं कि दीनानाथ राम दीन भक्त तुलसी पर भी कृपा करेंगे, क्योंकि करुणामय राम ही संसार सागर में डूबते हुए को उबार कर सब संताप हरने वाले हैं।[9]

3. राम की उदारता एवं कृपालुता

राम का दयालु एवं कृपालु रूप प्रकट करना तुलसी का सर्वोच्च उद्देश्य रहा है। अपने इस उद्देश्य की पूर्ति के लिए उन्होंने अनेक आख्यानों का समावेश करके काव्य को उत्कृष्ट एवं हृदय ग्राह्य बनाया है। जटायु की भक्ति, सगर पुत्रों द्वारा सागर खोदना, लंका का इतिहास वर्णन आदि कथाएँ इसी उद्देश्य की पूर्ति करती हैं।[10] रावण जैसे कुकर्मी योद्धा को लंका जैसी वैभवशाली नगरी प्रदान करना राम की उदारता का सूचक है। अपने भक्तों पर तो राम कृपा करते ही हैं, कभी-कभी राम विमुख प्राणी भी राम की कृपा का भाजन बनते हैं, उसका एक मात्र कारण राम का उदार होना ही है।[11] जो व्यक्ति उनका नाम जपकर उन्हें प्रसन्न कर लेते हैं राम उनकी सब प्रकार से सहायता करते हैं। भक्तजनों के लिए राम की कृपा का विशेष महत्व है। जटायु राम भक्त हैं और तुलसी द्वारा वर्णित राम कथा में जटायु का महत्वपूर्ण स्थान है। वे राम की कृपा का सबसे अधिक अनुभव तब करते हैं, जब राम उन्हें अपने हाथ से सहलाते हुए गोद में लिटा लेते हैं और वहीं उनका देहत्याग होता है।[12] इस प्रकार तुलसी के राम में जो उदारता एवं कृपाशीलता है, वह अन्यत्र नहीं मिलती।[13]

4. राम-नाम-स्मरण का प्रभाव

राम नाम के स्मरण पर बल देते हुए तुलसी ने राम नाम की महिमा को बहुत उच्च एवं जीवन का एक आवश्यक अंग माना है। राम नाम का स्मरण करने से ही नीच जाति को भीलनी शबरी को प्रभु ने अपने परम पद का अधिकारी बनाया।[14] इस प्रकार महापापी भी राम-नाम जपकर इस भवसागर से पार हो

जाते हैं। इस राम-नाम के प्रताप से ही रावण जैसे गर्वशाली दैत्य भी लंका जैसी वैभव सम्पन्न नगरी एवं राजसमाज को प्राप्त कर सका।[15] राम नाम की महिमा के कारण हो सगर पुत्रों ने समुद्र को खोदा और अगस्त्य ने उसका शोषण भी किया।[16] नाम जपने से भक्त अतुल बल का भंडार ही जाता है। भक्त हनुमान भी राम-नाम स्मरण से ही महान् बलशाली योद्धा बनकर उस उच्च पद को पाने में समर्थ हुये जिसको कोई विरले ही प्राप्त कर पाते हैं।[17] इन ग्रन्थों में तुलसी ने जितना बल राम-नाम स्मरण पर दिया है, शायद ही उतना किसी अन्य विषय पर दिया हो। इसीलिए प्रत्येक मानव के लिए राम-नाम स्मरण अति आवश्यक है, क्योंकि इसके बिना जीव संसार के आवागमन से मुक्ति नहीं पा सकता। ईश्वर के दिव्य धाम को पाने में व्यक्ति के लिए केवल राम गुणगान की सहायक एवं पथ-प्रदर्शक होता है।[18]

राम का नीतिपालक रूप

भगवान् राम के राज्य में नीतिपालन पर विशेष महत्व दिया गया है। राम प्रजाजनों की आर्त पुकार को सुनते थे।[19] और उन्हें सुख प्रदान करने हेतु वरदान देते थे जिससे उनका कल्याण हो। ब्राह्मण के मृत पुत्र को जीवित करने की कथा से यह स्पष्ट रूप से ज्ञात हो जाता है कि राम धर्मात्मा होने के साथ-साथ प्रजापालन में नीति-निपुण थे। ब्राह्मण का पुत्र जीवित हो गया तथा शूद्र को दण्ड मिला।[20] इससे राम ने अपनी न्यायपरायणता का उदाहरण दिया है। जटायु का मृत्यु अन्तिम संस्कार करना, क्योंकि वह उनके पिता दशरथ का मित्र था, उनकी नीति के पश्चात् निपुणता का परिचायक है।[21] राम के राज्य में प्रजाजन अपने को अनाथ नहीं समझते, क्योंकि अनाथों के नाथ सदा उनका कल्याण एवं कुशल करते हैं।[22]

6. श्रीराम का पौरुष वर्णन

श्रीराम अतुल गुणों की खान हैं। तुलसी ने उनके सुयश को समस्त संसार में फैलाने का भरसक प्रयास किया है। जयन्त की कथा, विराध का वध, ताड़का का वध, एवं रावण के गर्व हरण में राम के पौरुष का परिचय मिलता है। जयन्त सारे संसार में शरण पाने को भटकता है किन्तु राम का छोड़ा हुआ ब्रह्मास्त्र उसका पीछा नहीं छोड़ता। वह जब राम की शरण में आता है तभी उसका कल्याण होता है।[23] विराध जैसे महाबली राक्षस का वध करना कोई सरल कार्य नहीं था। राम की सामर्थ्य से ही उसका अन्त हुआ।[24] कैलाश पर्वत उठाने में रावण ने जिस गर्व के साथ कदम बढ़ाये थे, उसमें उसका गर्वहरण हुआ, क्योंकि उसे राम की शरण में जाने पर ही मुक्ति मिली और इस प्रकार अन्ततोगत्वा उसे राम का पौरुष स्वीकार करना पड़ा।[25] रावण की बहन ताड़का राम को बलशाली जानकर ही उस पर मोहित हुई थी।[26] किन्तु दानवी वृत्ति वाले प्राणी भी राम से अपनी करनी का फल पा जाते हैं, इस तथ्य को तुलसी ने अपने काव्य में साकार रूप दिया है। राम के पौरुष एवं प्रताप की साम्यता अन्यत्र न होते हुये भी उनकी करुणा असीम है। मन्दोदरी-प्रबोध प्रसंग में उनका करुण रूप अधिक मुखरित हुआ है।[27] उक्त प्रसंगों के वर्णन में राम के करुणामय स्वरूप के साथ उनका पौरुष भी उभर कर सामने आया है।[28]

7. राम का अन्तर्यामी रूप

सांसारिक व्यक्ति कपट से परिपूर्ण होते हैं और अविवेक के कारण एक दूसरे के कपट, छल इत्यादि को परख नहीं सकते। शूर्पणखा जिस सज-धज के साथ राम-लक्ष्मण को मोहित करने के लिए आती है उसके कपटी रूप को केवल राम ही पहचान सके, क्योंकि श्रीराम सर्वान्तर्यामी हैं।[29] इसी प्रकार मारीच ने स्वर्ण मृग का रूप धारण किया, किन्तु उसे राम के अतिरिक्त और पहचान सका।[30] व्यक्ति रूप से सुन्दर तथा वचनों से कोमल एवं मधुर होने पर भी मन से मलिन हो तो वह राम की दृष्टि से छिप नहीं सकता, संसारी लोगों की दृष्टि से वह भले ही छिप जाए। उक्त प्रसंगों का संदर्भ रूप में वर्णन करके तुलसीदास ने यह स्पष्ट किया है कि कपटी को पहचानना बहुत कठिन एवं दुष्कर कार्य है, किन्तु अन्तर्यामी श्रीराम के लिए यह कोई - कठिन कार्य नहीं है।[31]

8. राम भक्तों की महिमा

गोस्वामी तुलसीदास ने अपने काव्य में राम की स्तुति तो स्थल स्थल पर की है, इसके साथ-साथ उन्होंने राम भक्तों की महिमा का भी गुणगान किया है। श्रीराम के भक्तों एवं लेखकों की महिमा अपरम्पार है। अंगद श्रीराम के भक्त थे और रावण की सभा में राम दूत के रूप में उपस्थित होकर उन्होंने जिस शौर्य एवं पौरुष का प्रदर्शन किया वह राम की कृपा के कारण ही सम्भव हुआ।[32] लंका का पूर्व इतिहास भी स्पष्ट करता है कि रावण को लंका की प्राप्ति तभी हुई थी जब उसने तन-मन-धन सर्वस्व श्रीराम को अर्पण करके हजारों वर्षो तक तपस्या की। उस समय ईश्वर के परम भक्तों की कोटि में आने के कारण ही उसकी महिमा इतनी बढ़ गई कि राम से मनचाही वस्तु पाने का अधिकारी हुआ।[33] मेघनाद इन्द्र को बन्दी बनाने में तभी सफल हुआ, जब उसने तप करके ब्रह्मा से अदृष्य होने

का वर प्राप्त किया था।[34] भक्त की भक्ति भावना के प्रति प्रभु की उदार हृदयता भी वर्णनातीत है। प्रभु भक्तों की प्रीति के आधीन ही रहते हैं।[35] उनकी जांति-पांति नहीं परखते, केवल भावना को ही परखते हैं। शबरी की महिमा कौन नहीं जानता।[36] विभीषण का नाम राम भक्तों की कोटि में उच्च स्थान पाता है।[37] यही कारण है कि अहंकाररहित भक्त ही अनन्य भक्ति पाकर कृपा के पात्र बनते हैं। वहाँ राम कृपा ही भक्त की महिमा को ऊँचा उठाती है। हनुमान् रामसेवक एवं राम कृपा का पात्र होने के कारण ही साधारण वानर न होकर अति बलशाली योद्धा है। उन्होंने सिंहिका एवं लंकिनी का वध करने में जिस पौरुष का परिचय दिया है वह केवल राम का हो प्रताप है।[38] सम्पाति गृध्र को नये पंख, नेत्र एवं दिव्य शरीर प्रदान करने वाले भी हनुमान् ही है और हनुमान् को केवल राम का सहारा ही है जिसके प्रताप एवं आश्रय से वे दुर्गम कार्य करने में भी समर्थ हो पाते हैं। इन अनेकानेक राम भक्तों के साथ-साथ तुलसी ने लक्ष्मण, शत्रुघ्न और भरत की स्तुति भी बहुत विनम्र शब्दों में की है। ये तीनों भाई राम के सेवक पहले हैं और भ्राता बाद में है। लक्ष्मण का सौन्दर्य एवं पौरुष वर्णन भी तुलसीकृत ग्रन्थों में अनेक बार हुआ है। लक्ष्मण को शेषावतार कहकर राम के विश्राम का समस्त कार्यभार ही लक्ष्मण पर सौंप दिया गया है।[39] इसी प्रकार शत्रुघ्न की महिमा भी कम नहीं है, क्योंकि उन्होंने लवणासुर जैसे दैत्यों का वध करके श्रीराम के कार्य में सहायता दी और रामराज्य की स्थापना में योगदान दिया।[40] भरत तो अतुल गुणों की खान हैं, उनके महिमा रूपी समुद्र का कोई पार नहीं पा सकता। भरत के मन में राम के प्रति अपरिमित अनुराग है, किन्तु ऊपर से वह शान्ति की एक मूर्ति ही दिखाई देते हैं।[41] इस प्रकार तुलसी ने जहाँ एक ओर राम-नाम की महिमा तथा राम के उदार कृपालु रूप तथा पौरुष का वर्णन किया है, वहां दूसरी ओर राम के भक्तों की महिमा का भी गुणगान किया है और उन सब की स्तुति करके उन्हें राम का परम भक्त एवं परम प्रिय जन सिद्ध किया है।

9. सत्संगति की महिमा

सत्संग की महिमा कितनी महान् है और मानव जीवन पाकर सत्संग प्राप्त करना कितना आवश्यक है, इस तथ्य पर तुलसीकृत ग्रन्थों में स्थल-स्थल पर बल दिया गया है। सत्संग के प्रभाव से अधम प्राणी और पापी जीव भी राम की कृपा के भाजन बनते हैं। मतंग ऋषि की संगति के प्रभाव से ही शबरी जैसी नीच जाति की भीलनी परम पद को पा गई। कृपा के भाजन बनते जाति को भीलनी परम पद को पा गई।[42] सम्पाति गृध भी बल से गर्वित होकर सूर्य का स्पर्श करने गया था, किन्तु चन्द्रमा नामक मुनि के पास रहने से उन्हें राम दर्शनों की अभिलाषा बनी रही। उन मुनि की संगति का ही प्रभाव था जो सम्पाति पुनः पंख और दिव्य देह को प्राप्त कर सका।[43] इसी प्रकार तुलसीदास ने अनेक संदर्भों द्वारा अविवेक को दुःख का मूल सिद्ध किया है[44] और विवेक की प्राप्ति सत्संग द्वारा हो बताई है। आवागमन के चक्कर से छूटने के लिए मानव को विवेकी होना चाहिए, इसलिए सत्संग की महानता और आवश्यकता पर उन्होंने बहुत बल दिया है।[45]

10. शुभाशुभ विचार

तुलसीदास कृत रामाज्ञाप्रश्न में अनेक ऐसे प्रसंग आये हैं जिनमें शुभ और अशुभ पर विचार किया गया है। शुभ शकुन के लिए कुछ ऐसे प्रसंगों की अवतारणा की गई है, जिससे शुभ विचारों एवं कार्य में आने वाली बाघा नष्ट होने के शकुन प्रतीत होते हैं जैसे हनुमान् द्वारा सिंहिका और लकिनी वध का प्रसंग।[46] ऐसे ही शकुन बताने के प्रसंग में जयन्त, विराध और शरभंग ऋषि के तीन दृष्टान्त हैं, जो क्रमशः हानि, मृत्यु और अनर्थ आदि अशुभ अवसरों के सूचक हैं।[47] हनुमान् द्वारा सिंहिका और लंकिनी वध के प्रसंग से यह भी स्पष्ट होता है कि मार्ग में पापी कपटी और धूर्त और दुष्ट मिलेंगे उनसे सावधान रहना चाहिए।[48] हनुमान् को मुनि द्वारा दिये गये शाप से यह स्पष्ट होता है कि हृदय में हार नहीं माननी चाहिए, [49] अन्ततोगत्वा तो प्रभु सब कुशल मंगल ही करेंगे। इस प्रकार रामाज्ञाप्रश्न एक ऐसा ग्रन्थ है जिनमें विभिन्न प्रसंगों का उल्लेख करके तुलसीदास ने शुभ और अशुभ शकुनों पर विचार किया है।[50]

उक्त विवेचन से यह स्पष्ट है कि गोस्वामी तुलसीदास ने राम महिमा के प्रसंग में अथवा भक्ति के स्वरूप विश्लेषण में रामायण कालिक प्रसंगों को अपने विविध ग्रन्थों में उद्धृत किया है। संदर्भ रूप में उल्लिखित ये समस्त प्रसंग राम कथा के व्यापक परिवेश में अपनी सार्थकता रखते हैं, यह उक्त विवेचन से स्पष्ट हो जाता है। भक्ति के व्यापक रूप को स्पष्ट करने के लिए ये संदर्भ अपनी विशेष उपयोगिता रखते हैं।

एसोसिएट प्रोफेसर, हिन्दी विभाग,
कमला नेहरू कॉलेज
दिल्ली विश्वविद्यालय, दिल्ली

सन्दर्भ सूची

1. दोहावली, 167

2. विनयपत्रिका, 216, दोहावली, 163
3. गीतावली सुन्दरकाण्ड 38, 41, 43, दोहावली 156, विनयपत्रिका 134
4. विनयपत्रिका 240, 213
5. दोहावली 176, विनयपत्रिका, 106 आदि।
6. विनयपत्रिका 213
7. विनयपत्रिका, 152
8. विनयपत्रिका, 166
9. विनयपत्रिका, 58, 114, 209
10. विनयपत्रिका, 57, 94, 99, 101, 134, 144, 162, 180, 191, 225 आदि–आदि। गीतावली, सुन्दरकाण्ड 12, 46, दोहावली, 222, कवितावली, लंकाकाण्ड 10, उत्तरकाण्ड 7, 21
11. कवितावली, 32
12. गीतावली, अरण्य. 16, दोहावली, 32, रामाज्ञा–प्रश्न, 31, 36, कवितावली, उत्तरकाण्ड 10, विनयपत्रिका, 106
13. विनयपत्रिका, 226, 248, 262, 193, गीतावली, सुन्दरकाण्ड 46 आदि।
14. विनयपत्रिका, 106, दोहावली, 32
15. कवितावली सुन्दरकाण्ड 2
16. गीतावली सुन्दरकाण्ड 12
17. रामाज्ञा प्रश्न 5/1/3
18. कवितावली उत्तरकाण्ड 112, 43, गीतावली उत्तरकाण्ड 38 जानकीमंगल 36, विनयपत्रिका 138, 144, 152, 162, 180, 201, 215, 225, 240 आदि।
19. रामाज्ञाप्रश्न 6/5/1, 6/5/4
20. गीतावली, उत्तरकाण्ड 24
21. गीतावली, अरण्यकाण्ड 16, रामाज्ञाप्रश्न 3/3/6, विनयपत्रिका 78
22. विनयपत्रिका 58, गीतावली सुन्दरकाण्ड 46
23. विनयपत्रिका, 43, गीतावली, लंकाकाण्ड 1
24. गीतावली उत्तरकाण्ड 38, विनयपत्रिका 43
25. गीतावली, बालकाण्ड, 89
26. जानकी मंगल 36
27. गीतावली लंकाकाण्ड 1, कवितावली, लंकाकाण्ड 19
28. गीतावली सुन्दरकाण्ड 46
29. दोहावली, 408
30. दोहावली
31. विनयपत्रिका, 166
32. गीतावली, लंकाकाण्ड 2, 3, कवितावली, लंकाकाण्ड 10, 16
33. कवितावली 32
34. गीतावली, लंकाकाण्ड 3
35. विनयपत्रिका, 162, 165, 166
36. विनयपत्रिका, 215, 261
37. गीतावली
38. रामाज्ञा प्रश्न, 5/2/3, विनयपत्रिका, 25
39. विनयपत्रिका, 37, 38, वरवैरामायण, 27
40. विनयपत्रिका, 28
41. गीतावली, लंकाकाण्ड 11
42. गीतावली, अरण्यकाण्ड 17।
43. विनयपत्रिका, 28
44. विनयपत्रिका, 57
45. विनयपत्रिका 180, 191, 215, 225, 262
46. रामाज्ञाप्रश्न 5/2/1, 5/2/2
47. रामाज्ञाप्रश्न, 2/6/5
48. रामाज्ञाप्रश्न, 5/2/1
49. रामाज्ञाप्रश्न, 5/1/3
50. वही, 3/7/5

Research Paper

Ornaments and dresses of women in the Maurya period – a brief study

Sadhana Nai

Introduction :-

In the history of development of mankind since million of year women were fond of ornaments, dresses and jewellery. In the ancient history it is found that women were using woods, soils, snails and other natural products for decorating themselves. History says that after the development of civil society, higher and lower status women - making and using ornaments - decorating themselves. Its the true phenomena of the history.

First civilization of Indian subcontinent - Harappa civilization / Harappa-Saraswati civilization / Indus civilization gave many proof regarding female jewellery. In 1921-1922 excavations done by Rakhal Das Banerjee and Sir John Seeley accomplished many things from Indus Civilization. Women of Indus society also found using ornaments according to status in the society. In the history of sanskrit literature **Abhijñanaśakuntalaṃ (अभिज्ञानशकुन्तलम्)** is the famous drama of Kālidāsa where Śakuntalā is using ornament that is environment and nature friendly[1]. New soft red branches or buds for her lips as a lipstic. Plants gave her many ornaments during her wedding period. Pros and cons the story of Śakuntalā shows the desire of decorating the self by Indian women.

In many era like **Indus era**, **Mauryan era**, **Gupta era**, **Harshavardhana era** even in the **Muslim era** and also **Modern era** women were found of ornaments and decorations. Since the old stone age to new stone age, every segment of the time of human evolution, women were decorating and dressing herself. According to **Kumārasambhavaṃ (कुमारसम्भवम्)** epic – before doing penance (तपः) Pārvatī kept her ornaments to the trees as a trust (न्यासः) and wore the dress made by **tree's skin (वल्कलवस्त्रं)** [2] like many eras. Murya period was also mentioned many type of ornaments and dresses. Yakshini found from Besnagar, Didarganj, Patna also describe the ornaments of women of Maurya period.

1. Saree -

The sculptural evidence of the Maurya period was quite lacking. Only **Besnagar** and **Didarganj Yakshis** throw light on the female costume of this period.

The **Didarganj Yakshi** is one of the best example among the earliest Indian stone sculptures. During this time saree was worn without the formation of hind pleats. The manner of wearing saree was similar to that of dhoti-wearing of the male Yakshas. A single sweep appears over the waist as seen from the back and reveals almost the complete contour of the hips. Some transverse folds are formed in the material due to the forward tucking. The saree is treated wide and the excess portion brought forward from the right side is tracked forming an ornamental cone for hanging the lower part.

Art historian **Dr. Moti Chandra** explains it as a 'Paṭakā' with one end attached to the loincloth

and the other hanging between the feet[3]. The saree is held by the waist. American archaeologist and linguist **David Brainard Spooner** describes the garment of this Yakshi, thus ''The garment which is apparently in one piece is thin and clinging though these qualities are better remembered by the artist in fashioning the front of the image than in his treatment of the sides and back. It is worn wrapped round the hips dhoti fashion, being gathered into elaborate folds in front which caught in one long loop, fall gracefully to the feet. The left hip shows some kind of knot from which one end of the costume is then drawn up obliquely across the back to be caught in the folds of the right elbow, whence it falls at first with twisting folds, to the ground leaving the upper portion of the body quite uncovered.''[4]

The female sculpture at **Besnagar** also has worn the saree without hind pleates. The waist cloth is heavy and falls below the knees. Nothing here matches the graceful folds of the drapery of the Didarganj Yakshi. **Dr. Govind Sadashiv Ghurye** has written about the dress of Besnagar Yakshi in his book 'Indian Costume', ''The lower body of the Besnagar Yakshi is swathed in a 'dhoti' in the style that we have found to be fairly common so far. One peculiarity is that the front pleats are pulled down at the abdomen rather very low, exposing to view much larger portion of the lower abdomen than the other draperies of the 'dhoti'. It must have been arranged on a waist-string as a hanger. At the back the 'dhoti' runs high and fairly horizontally so that the girdle-zone, which flatly covers the whole expanse of the buttocks lies entirely on the wrap of the 'dhoti 'round the loins.''[5]

2. Skirt -

A **dancing girl of Bulandibag** wears the sleeveless close- fitting **'Kurpasaka'** and fluttering a skirt. Her skirt is tied at the waist by belt. The skirt covers the lower portion upto the knees. Other terracotta figurines attained from Bulandibag had been wearing tight fitting **'Choli'** and a skirt. The skirt is tied at the waist. The length of the skirt is very short ṃ upto the mid-thigh, which may be called **'Ardhoruka'**.[6]

The figurine is wearing **'Antariya'** below the skirt and also upto the knees. Third girl figurine attained from Bulandibag had been wearing the 'Kūrpāsaka' and 'Ghāgharā' expanding on the both side and the skirt is decorated with natural rose. It seems that Mauryan women using two types of lower garments, the saree and the skirt. It also seems that a skirt was worn by the young ladies and dancers. Opposite Saree was worn by elderly ladies.

3. Head-dress and coiffure -

In the Maurya period we get stone sculpture where some Yakshi's images and some metal objects described head-dress and coiffure system of the women. The stone sculptures seen in simple head-dress but terracottas have been shown wearing simple well as elaborated head-dresses. A female found from Mathura wearing **'Orhani'** and also a figurine **Mathura mother Goddess** is also wearing 'Orhani' with double beaded chain.

Besnagar Yakshi is also wearing 'Orhani'/ Dupatta decorated with beads lining. Similar to coif/ khoppā like head-dress was also in the fashion. Mother Goddesses mostly worn this type of dresses. A dancing girl found from Patna had been wearing horn like head-dress decorated with natural rose. Other types of head-dresses variety is represented by a smiling girl figurine attain from **Bulandibag**, Patna.

4. Rosettes / natural roses -

It is seen that during Maurya period sometimes head-dresses of women consisting with rosettes. Rosette was popular feature of mother Goddess of Mathura terracotta. Generally it was used single and sometimes consist of four rosettes. A **Mathura terracotta** recently found with the head-dress consisting of rosettes and flower decorated in the middle. Sometimes coiffure system is used by females arranging their hair in artistic manner and decorated with pearls and ornaments. The **Didarganj Yakshi** from Patna is example of this. Some women combed the hair parted in the middle, covering most part of the forehead and then a **'Lalatika**' ornament appears in the middle of hair in the forehead and also sometimes parted hair

trimmed with beaded ornament and surmounted with a rosette plaque. The head-dress of mother Goddess found from **Vaishali ring** stone declares that the hair falls in a 'Choti' (braid) on the proper left secured by a clasp resembling Naga-mudra.[7]

5. Ornaments-

A. Ear ornaments-

During Maurya period ear ornament was Kundala. Although it was weared by both male and female. Variety of Kundalas ear ornament found of stone sculptures and terracottas.

a. Rounded ear ring-

Rounded ear rings were very common among the women society. **Patna** and **Bombay Yakshas** shows the reflection of ear ring is used by them.

The dancing figure of Bulandibag of Patna had been wearing two types of ornaments in ears. She was worn long cup-shaped in the right ear and rounded ear ornament in the left ear.

b. Ear pendant -

The ear pendant of **Lauria Nandangarh** mother Goddess is circular and simple. Opposite circular ear ornaments of **Buxer terracotta** looks like wheel (chakra). **S.P. Gupta** has interpreted as cup-shaped ear top with floral pattern. The Didarganj Yakshini had been represented wearing coiled/ rounded ear pendant.

That's why Spooner had said that her ear ornaments - ''Which are shaped something like an hourglass or double drum, with the lower member ending in an inverted cone are extraordinarily massive and distend the lobe enormously, though not perhaps to quite Peruvian dimensions''[8]. It is peculiar ear ornaments.

B. Neck ornaments-

There are two types of neck ornaments mention in the Maurya period. One ornament was short necklace and other one was long necklace. Many figurines represented with both types of necklace. The **Mathura terracotta figurine** is seen wearing only one single collar and no long necklace.[9] **Patna Yaksha** had been found wearing one flat torque close to the neck. Opposite this **Parkham Yaksha** had two necklacesṃ one close to the neck and other **'Phalakahara'** of triangular shape.[10] There are many other varieties of necklaces which were very popular during Maurya period. Flat torque, Phalakahara, Triratna torque rosettes necklaces, Pearl necklaces were popular at that time. These necklaces/ hara/ garlands were popular at Maurya period.

A Patna female terracotta figurine is wearing a necklace with a central piece wearing the design of rosette. **Patna Didarganj Yakshi** had wearing pearl necklaces also with three strands of pearls two lari of which are of substantial length and fall between both the breast. While the third one which close to the neck. Also a long pearl necklace found with three oval pendants.[11]

There is a place named **Ahichchhatra (अहिच्छत्र)** where mother Goddess is wearing and applied collar of two rows and one line of pin head marks, probably for the pearls passed round the breast with a vertical string between them.

C. Waist ornaments-

Girdle/ Kamarbandh/ Kardhani are ancient Indian ornaments for the women since long past. Basically it is ornaments of female. It is very useful for beautiness and to keep the lower garments in the proper shape. There are many types of Mekhala made of one, two, three or many strings of different kind of beads and pearls. Daughter of Himalaya weared Mekhala of munja (variety of grass etc) when she was doing penance to getting Shiva as her husband. After wearing Mekhala waist area of Parvati became red because it may be that munja/ grass may reacted differently with Parvati's body.[12]

Didarganj Yakshi is wearing beautiful girdle of five strands, **D.B. Spooner** had described regarding beauty of Didarganj Yakshi. He mentions that, Yakshini figure wears and elaborate and highly decorative girdle of five strands, opening naturally and gracefully over the hips. But gathered to a single rope infront which passes through two opposed flaring bell-shaped fasteners disposed at either side of the central pendant folds.

The girdle/ kamarbandh/ karadhani of the Besnagar Yakshi is also very elaborate. **Besnagar Yakshi** had also worn five stranded girdle, four strands composed of egg-shaped ribbed beads and

one strands of circular plaque with floral pattern.[13]

Mother Goddess figurine of **Lauria Nandangarh** is represented naked but shows the use of girdle of one string composed of triangular beads. From Patliputra a female dancer is found which had worn one lari Mekhala having belt pendant infront[14]. **Professor Vasudeva Sharan Agarwala** clarify that it is a Santanaka mekhala. The **mother Goddess figurine of Piprahwa** - on a gold plaque had been wearing and elaborate girdle/ karadhani of three strings of beads with a central square clasp.

D. Arm ornaments-

Arm ornaments are also popular in the Maurya period. Generally this ornaments were worn in the upper arm was known as armlet (बाजूबन्ध). An ornament worn in the forearm was a bracelet (कङ्कन) or bangle or churi. The Patna Yaksha has been wearing the twisted coiled / round the mid portion of upper arm-shaped like a rope, the spiral has both its ends treated in the form of lion heads.[15] The **Palwal Yaksha** (Haryana) had worn a armlet with tripal vartical projection. These types of armlet is also seen many times in **Bharhut Sculpture**.

E. Bangles and kaṭaka or churi-

Bangles and kaṭakas were very common ornaments. A figurine Yakshini found from Didarganj, Patna is wearing fourteen or fifteen bangles. A female torso from Sarnath has worn only five bangles of cylindrical beads. In Lauria Nandangarh, a mother Goddess is found which has wearing five or six bangles seen each hand. The dancing girl of Bulandibag, Patna is wearing one heavy kaṭaka. The Bombay Yaksha has wearing only one wristlet. From **Bhir Mound** the bangles of glass, copper, shell, bond etc are excavated. There of many designsṃ some are decorated plain of twisted wire, decorated with simple design and also some are very heavy. A light weight bangle for child is also found. Its diameter is 2 inches only.

F. Finger ring-

During Maurya period fingers were worn in plenty but evidence of it not found. But from **Bhir Mound** some finger rings are excavated of 4th - 2nd century BC as Sir John Marshall said. One of this is made of silver, nine are made of copper, one is made of iron, one of the lead and one of the shell. The gold rings are found from **Sirkap**, **Taxila.**[16]

G. Foot ornaments-

During this period out of foot ornaments anklets were also worn by women. This type of ornament is found on the female figure found from Didarganj. This figurine worn very thick anklets. Each thick anklets one is each leg. The anklet of Yakshi is very decorative and full of with pearls. The figure on the gold leaf from **Piprahwa** has worn the anklets and rings on her toe. The terracotta female figurine although doesn't show the use of these type of ornaments. But nevertheless it can be said that these ornaments not used by all women but such of them may be wealthy women.

Conclusion-

Women were ornaments lover, this is truth. Million of years took place becoming the present civil society. The whole era of history many types of history of ornaments and the history of mankind, in the Indian subcontinent starting from Indus civilization to Maurya era and also later era of Indian history, confirms the story of ornaments and dresses of the women of Indian subcontinent. Many excavations coins, seals, inscriptions also describe the ornaments of women.

Research Scholar
Dept. of Sanskrit, Pali & Prakrit
Visva Bharati University
Santiniketan, WB- 731235
Email id:-sadhana02121@gmail.com

सन्दर्भ सूची

1. क्षौमं केनचिदिन्दुपाण्डु तरुणा माङ्गल्यमाविष्कृतं
निष्ठ्यतश्चरणोपभोगसुलभो लाक्षारसः केनचित्।
अन्येभ्यो वनदेवताकरतलैरापर्वभागोत्थितै
र्दत्तान्याभरणानि तत्किसलयोद्भेदप्रतिद्वन्द्विभिः॥ (अभिज्ञानशकुन्तलम् -4/5)

2. विमुच्य सा हारमहार्यनिश्चया,
विलोलयष्टिप्रविलुप्तचन्दनम्,
बबन्ध बालारुणबभ्रु वल्कलं
पयोधरोत्सेधविंशीणसंहति॥ (कुमारसम्भवम् - 5/8)

3. Dr. Moti Chandra; Costumes, Textiles, Cosmetics & Coiffure in Ancient and Mediaeval India; p. 18
4. D.B. Spooner, ''The Didarganj Image now in Patna Museum'' vol. v, Journal of Bihar and Orissa Research society, Patna; p. 1919
5. G. S. Ghurye, Indian Costume, p. 91
6. S.P. Gupta, The Roots of Indian Art, p. 60
7. Amarkosa, 2.6.117
8. D.B. Spooner, The Didarganj Image now in Patna Museumṅ, Journal of Bihar and Orissa Research Society, Patna, vol. v, p. 110.
9. P. L. Gupta, Gangetic Valley Terracotta Art, figure -4.
10. L. Bachhofer, Early Indian Sculpture
11. P. L. Gupta, Gangetic Valley Terracotta Art, figure 11.
12. प्रतिक्षणं सा तरोमविक्रियां
    व्रताय मौञ्जीं त्रिगुणां बभार याम् ।
    अकारि तत्पूर्वनिबद्धया तया
    सरागमस्या रसनागुणास्पदम्॥
    (कुमारसम्भवम् - 5/10)
    (सा देवी प्रतिक्षणं क्षणे क्षणे तरोमविक्रियां पारुष्यात् तरोमाञ्चां त्रिगुणां त्रिरावृतं यां मौर्ज्जीं मुञ्जिमयीं मेखलां व्रताय तपसे बभार। तत्पूर्वनिबद्धम् तदेव पूर्वं प्रथमं यस्य तत्पूर्वं तथा निवद्धया तथा मौञ्जया अस्याः देव्याः रसनापुणस्यास्पदं स्थानं जघनम्। सह रागेण सरागं सलोहितम् अकारि कृतम्।) Shimadgurunath Vidhanidhi Bhattacharya (ed), p.153
13. L. Bachchofer, Early Indian Sculpture, p. 63
14. P.K. Agarwala, Early Indian Bronzes, p. 70
15. K.K. Ganguli, Jewellery in Ancient Indiaṅ, Journal of Indian Society of Oriental Art, Calcutta, vol.x, p.153
16. Sir John Marshall, Taxila, vol.2, p. 639

Bibliography

1. Ghurye, G.S, Indian Costume; Popular Prakashan, Bombay; 1966
2. Verma, Mohini, Dress & Ornaments in ancient India: The Maurya and Sunga periods; Indological Book House, Delhi; 1988
3. Kumar, Arvind, Yakshini; Sunita Publishing House, Patna; 1st January, 2017
4. Gupta, S.P, The Roots of Indian Art; B.R. Publishing Corporation, Delhi; 2011
5. Gupta, P.L, Gangetic Valley Terracotta; Prithivi Prakashan, Varanasi; 1972
6. Bachhofer, Ludwig, Early Indian Sculpture; The Pegasus Press, Paris; 1864
7. Agarwala, Prithvi.K, Early Indian Bronzes; Indica Books, Varanasi; 1977
8. Spooner, D.B, The Didarganj Image now in Patna Museum; Journal of Bihar and Orissa Research Society, Patna, vol.v; 1918
9. Chandra, Dr. Moti, Costumes, Textiles, Cosmetics & Coiffure in Ancient and Mediaeval India; Oriental Publishers; 1973
10. Ganguli, K.K, Jewellery in Ancient India; Journal of Indian Society of Oriental Art, Calcutta, vol.x; 1937
11. Unni, Dr. N.P. (ed.), Kumarsambhavam; New Bharatiya Book Corporation; 2014
12. Bhattacharya, Shrimadgurunath Vidyanidhi (ed.); Sanskrit Pustak Bhandar, Kolkata; p.153

Research Paper

Sudhanshu Kumar Kantha

China's Strategic Perspective on the Israel-Palestine Conflict: Analyzing the Dragon's Approach

Abstract

This article analyzes the reasoning, goals, and diplomatic activity that shapes Beijing's stand on the Israel-Palestine dispute paying particular attention to developments after 2023. China pursues a estimated and instrumental approach, combining each of (1) supportive diplomatic rhetoric favourable to Palestinian right; (2) pragmatic Israel bilateral relations (economic, technological); and (3) emerging mediator to Arab and Palestinian factions, which all seek to expand Beijing's geopolitical reach, and economic interests, while tightening the screws on the Unites States engagements in the middle East region. This includes the more recent initiatives, such as hosting talks on Palestinian unity in Beijing, the high frequency of Wang Yi's statements, votes and comments at the UN, as well as other initiatives that align with China's broader strategies.

Introduction

With just 95 lakh population, and a workforce of less than 40 lakh, Israel would seem a peculiar partner for a giant like the People's Republic of China and its 140 crore populace. Notwithstanding their demographic differences, these two nations are complementing each other's economic, military and technological needs. Israel has emerged as a leading nation in the field of Research and Development (R&D) and Beijing has been named as the top manufacturer by New York based news agency Bloomberg News. One of Israel's noted scientist Avi Hasson stressed on the importance of how both can cooperate and offer to each other, "What China needs, we can offer. We are a pioneer at innovation And technology transfer, and China has the capacity to expand manufacturing sector and beyond."

China's Diplomatic Principles and the Middle East Context

The core principles on which Chinese diplomacy revolves are "the major country is the key, the neighbourhood is the primary, the developing countries are the foundation, and the multilateral is an important stage". The Middle East region has only "developing nations", the region lacks a great power and PRC's immediate neighbourhood too.. For China's overall energy security, the Middle East region is crucial. Due to its energy and political interests in the region, Beijing cannot avoid the Israel-Palestine issue. The unprecedented emotional connection with the Palestine and its Islamic identity, China has to maintain strong relations with the Arab countries. As a responsible power, permanent member of the United Nations Security Council and to elevate its global image, Beijing as to take its own stand on the issue for both parties. Although the importance of Palestinian issue has decreased in the region substantially in last three decades. Correspondingly, as PR Kumaraswamy says, you go to at any Middle East nation, ask Them their 5 priority problems, Israel- Palestine doesn't seems to make a cut to any of Them.

China's Balanced Formula: Moral Support and Pragmatic Ties

In relation to the Israel-Palestine dispute, Beijing

forms its pragmatic stance that is "Moral Supremacy with Palestine, Cooperation Supremacy with Israel". The PRC continues to support the Palestinian cause and its legitimate right of independent state while simultaneously giving importance to the commercial relations with Jerusalem. Historically Beijing never had any dispute with both the conflicting parties. Jews never experienced any type of discrimination, Arabs too had good relations with China.

Beijing has consistently supported the Palestinian people's righteous struggle. After its formation in1949, the PRC has backed Arabs. The Bandung Conference was the defining moment when China decided to back Palestinian issue. The political support of the Afro-Asian countries was crucial for Beijing to go ahead with Palestine. The Middle East region is also vital for the success of China backed "Belt and Road Initiative". There are more than 56 nations which are members of the "Islamic Cooperation Organization" which is numerically almost one-fourth of the total United Nations membership. Terrorism and constant conflict is one of primary features of this region, it's extremely important for Beijing to maintain good relations with the Arabs to secure its commercial interests.

Historical Roots: From Kaifeng Jews to PRC Recognition

China and the Jewish community have enjoyed cordiality in their relations for centuries. The Kaifeng province emerged as a centre for Jewish community in China in its starting phase and formed Kaifeng Jewish community. These Jews were relocated from Central Asia and also built their temple or prayer place known as synagogue in the year of 1163 A.D in Kaifeng. The ruling Chinese dynasties always treated Jews with respect and equality who immigrated to China at any point of time. The prominent Chinese dynasties including Jin, Yuan, Ming and Qing never discriminated Jews in any manner nor persecuted.

Before the formation of the People's Republic of China, only six Middle Eastern countries had official relations with China or then Taiwan. After a long civil war, the People's Republic of China was formed on 1st October 1949. The Israeli State which was established just a year before in 1948 formally recognized the Mao led PRC in less than 100 days of its formation. Israel became the first state in the region to formally recognize the PRC. Israel's step of recognition was based "actual control" of mainland China by Mao Zedong's led communist government and had legal basis too known as "Foremost de jure". However, Beijing failed to reciprocate the Israel's hand of friendship due to various reasons. The non-relations continued for more than four decades and finally ended when on 24 January 1942, the Chinese government agreed to establish full diplomatic relations with Israel. [Chen, 2017]

In the initial period, China's attitude towards Israel was cool and friendly towards the Palestinians. Beijing had demonstrated interest and support in establishing relations with the Arabs. Due to historical animosity, the Arab nations were not in favour of establishment of independent state of Israel. They strongly opposed the state of Israel on their land. Regardless of Beijing's cool attitude, Jerusalem tried to have formal ties with the PRC in 1950. Beijing focus was on the Korean War during 1950-53 due to its involvement. To consolidate and acceptance in the global South, the PRC adopted its stand of going with the Palestinian issue in the Afro-Asian Conference in Bandung in April 1955. The Palestine Liberation Organization was supported by the Communist government through militarily and financially although the support was not substantial in its struggle against Jerusalem. [Shichor, 1980]

Bandung Conference and Mao's Ideological Policy

The newly independent African and Asian countries took a strong stand to support the legitimate rights of Palestinian Arabs officially and at the same time black listed Israel and its entry in the Bandung Conference. The isolated Jerusalem presented a note to Beijing to establish formal ties with the communist government. But the Chinese were determined to go with the Arab support in its new Middle East policy and under the international political situation. The Arab countries were superior in numbers and their political recognition for Beijing was too crucial at that time. The Mao Zedong's communist China was inspired by revolutionary and ideologically in which colonial

and revisionist powers were strongly opposed. Beijing was soon rewarded with establishing diplomatic relations with Egypt, Syria and Yemen just after the Bandung conference from May-September 1956. Soon Suez-canal crisis started and led to Egypt's invasion by Britain, France and Israel in October 1956. The Chinese government severely condemned the collaborated attack on Egypt. The Israeli participation in attack further led to "freezing" of relations between Beijing and Jerusalem for 20 years. There was no looking back for the PRC on Israel and went ahead with the Arab nations.

Although the Chinese side never shied away from their support to Palestine but they also criticized the Palestinian's terrorist activities that was committed at different time periods. . Beijing also supported the survival of Israeli state and denounced the Arabs advocacy of throwing Jews into the Mediterranean Sea in strong words. [Chen, 2012]

China and Israel relations can be narrowed down to 4 phases:

Phase I: - A "Friendly State" (1950-55)

Phase II:-The "Imperialist Dagger"(Mid 1950s to Late 1970s)

Phase III: - An "Objective Fact" (Early 1980s to 1989)

Phase IV: - 'An Important State"(1989 to the Present) [Han, 1993]

Beginning with recorded contact between a Chinese delegation and the Israeli pavilion at the Paris Air Show in 1975, covert military manoeuvre's between the Israeli Defence Forces and the People's Liberation Army of China ensued. China needed to make the most of its available resources to help develop its shattered economy forced China to adopt a flexible foreign policy after it's almost 10 years of Cultural Revolution. Beijing was in search of foreign investment and technology transfer to give boost to its developmental process. The "open door policy" of 1977 was the right call by the Communist government since then Jewish investments also played an important role in rapid growth of Chinese economy. Israel came forward to provide its military, agricultural and economic help by enhancing Beijing's performance. Deng Xiaoping's arrival as the paramount leader of China, gave a new lease of life to Sino-Israel ties with pragmatic approach. The 1977 visit of Egypt's President Anwar Sadat to Israel allowed Beijing to make "timely adjustment in China's regional foreign policy". The PRC was supportive of Egypt's peace initiative with Jerusalem.

Egypt and Israel successfully signed the Camp David Agreement on 17 September 1978. The 12th Arab League Summit proposed the "Fez Plan" in September 1982, which for the first time completely recognized Jerusalem's right to exist. China was in favour of Fez plan. The establishment of the State of Palestine was announced by the Yasser Arafat led Palestine Liberation Organization in November 1988. The PLO too recognized Israel right as a state and its existence through its proposed peace initiatives. Through these three peace initiatives, the Palestinian side also agreed to give up on its terrorist activities of all forms.

Transition to Pragmatism: The 1989 Five-Point Proposal

China embraced the announcement or peace initiative of the PLO wholeheartedly. During his visit to Cairo in September 1989, the Chinese side led by their Foreign Minister Qian Qichen came with his five-point peace proposal to resolve the Israel-Palestine dispute.

1. The conflict in the Middle East must be resolved politically;

2. The captured Palestinian territories must be returned to Palestine, the Palestinian people's rights must be restored, and Jerusalem's security must be protected

3. The Middle East Peace Conference should be led by the five permanent security members of the United Nations

4. Various kinds of dialogue should be supported and participated by the Middle East parties in the region.

5. Palestine and Israel should recognize each other. The Israeli side tried their best to end the status of non-relations between Beijing and Jerusalem. Israel's use of various channels to end the stalemate with Beijing failed. [Chen, 2012]. Beijing came to realize the reality only when all major powers of the

Security Council of the United Nations was preparing for the Madrid Peace Conference. The PRC took the pragmatic step not to remain alone and establish full diplomatic ties with Jerusalem in 1992.

Beijing realization to have diplomatic ties with Jerusalem was also motivated by the fact that the pro-Jewish lobby has dominated the Washington's foreign policy on the Middle East has damaged that policy's credibility and created a vacuum. The Chinese side wanted to fill that vacuum through participation and perform a big in the Arab-Israeli issue.

Post–Cold War Era and the Oslo Accords

Jerusalem and Palestine finally agreed to have an agreement on the status of Israel as a state and PLO as the sole representative of Palestinian people. A deal was successfully signed by the then Israel's Prime Minister Yitzhak Rabin and the PLO led by Yasser Arafat on 13 September 1993 known as "Oslo Accord" at the White House. The deal through a Declaration of Principles (DOP) accepted PLO as the Palestinian representative by Israel and the PLO also agreed to renounce terrorist activities. The PLO in return of its recognition by Jerusalem agreed to accept Israel's right to exist as a state. They both agreed to create a Palestinian Authority to govern West Bank and Gaza strip for five years. The permanent status of controversial issues like border, refugees and Jerusalem should take place later. Noted scholar Edward Said criticised the deal and termed it as "a Palestinian Versailles". According to Said, the Palestinian side made substantial concessions but Israel made none. Though Beijing had no role to play in Oslo accords but it had keen eyes at these events as the United States President Bill Clinton played a major role in bringing negotiation to terms. [Burton, 2019]

U.S. Pressure and the Phalcon–Harpy Controversies

1990s gave 2 setbacks for Israel and China relations. In 1999, Israel entered into a deal to sell China four Phalcon worth $1 billion deal. The aircraft was developed with latest sophisticated technology as reconnaissance aircraft. The deal gave advantage to Beijing as the aircraft was able to intercept intelligence from substantial distance. The interception ability was crucial for the PRC in case of conflict broke out in Taiwan Strait. The Pentagon criticised the deal and voiced strong objections. Due to American pressure, the deal was finally cancelled by Israel in year 2000 and paid compensation to Beijing 319 million US dollar.

In 2004, Jerusalem consented to repair and upgrade Harpy drones. The unmanned vehicles were earlier sold to China in the year 1994. Washington again objected and directed Tel-Aviv with new directives regarding the transfer of technology to Beijing. The PRC complained of harsh restrictions on dual-use technology that is civilian trade too. It was expected that that the bilateral relation would suffer due to these failed deals. But Beijing followed a pragmatic approach on these issues without hampering bilateral ties with Israel. It kept keen eye on the events advancing its national interest as guiding force. [Kumaraswamy, 2005]

Economic Deepening in the 21st Century

In the last phase, China economy has grown to become 2nd largest global economy since 2000. Trade figures show that the Middle East has emerged as an important centre of Beijing's economic activity amounting to $7.7bn to the Middle East and North Africa and imported $10.2bn in the year 2000. These trade figures has impressively increased to $124bn and $114bn in the year 2017.

As a result, trade interactions between Israel and China are burgeoning and the impressive figures are testimony of it. The chief of the Israeli Economy Ministry's Foreign Trade Administration Ohad Cohen mentions that, "Bilateral trade with China has skyrocketed…with volume leaping from $50 million in 1992 to almost $11 billion in 2013. Israel has also offered China opportunities in the form of infrastructure projects (e.g. the "Red to Med" railway and contracts to develop the Ashdod and Haifa ports) and its hi-tech sector has begun to attract increasing Chinese interest and investment. Israelis are pleased to gain access to China's immeasurable market.

China is looking to restructure its economy, so it requires assistance primarily in preventing desertification, refining water desalination, improving agricultural capacities, and integrating high- tech into

the economy. This is where Israel, the "Start-Up Nation," shows up. [Tepper, 2015]

Israel's Council for Higher Education began allocated hundreds of scholarships in 2011 for Chinese collegiate students in hopes that more Chinese will pursue higher education in Israel. In 2012, Carice Witte, the founder and executive director of SIGNAL (Sino-Israel Global Network & Academic Leadership), an institute devoted to strengthening ties between the two countries, observed Academic cooperation continues to grow, with Chinese students studying in Israel, Israel Studies programs developing in China, and Israeli and Chinese universities expanding their collaboration. In addition, Tel Aviv University (TAU) and Tsinghua University in Beijing signed a bilateral agreement to jointly invest $300 million to establish the XIN Centre for scientific cooperation exchange andin May 2013, Chinese President and Premier both met with Palestinian leader Mahmoud Abbas and Israel PM Netanyahu both. Abbas said he would urge the Chinese leadership "to use its relationship with Israel to remove the obstacles that obstruct the Palestinian economy". The Foreign Ministry also made a statement that it would be willing to help set up a meeting between Abbas and Netanyahu if they want to.

Economically, most of the collaboration is likely to materialize in the backdrop of China's dream project, the "New Silk Road." The plan, also called "One Belt, One Road," is destined to create an infrastructure for land and maritime routes across Asia, Africa, Europe, and their adjacent seas.

The Belt and Road Initiative and Israel's Strategic Role

The Chinese government, in March 2015 emphasized that the "New Silk Road" will "change the world's political and economic landscape through development to countries along the routes. It came as no surprise, that the China Harbor Engineering Company is building a new port in the city of Ashdod, Southern Israel. The plan is to link the port into the "New Silk Road" by off-loading goods at the Red Sea port of Eilat, taking them by train to the Mediterranean port of Ashdod, and then sending them on to Europe. Another Chinese firm is bidding for the contract to build the Eilat-Ashdod railroad. Asian Infrastructure Investment Bank, which was China's proposal to the world is part of the larger strategy. China's bulk investment in infrastructure is aimed at increasing the country's economic strength and its international market presence.

Israel was one of the 51 original signatories of the Beijing led AIIB. On top of that, both the nations are thinking of signing a free trade agreement in the Next few years, and Israel hopes to increase Chinese tourism (already up by 30%) Through direct flights between Beijing and Tel Aviv—expected to be announced soon by cancelling visa requirements. As a nation that boasts 22% of the world's population, but just 7% of the world's Arable land, is still figuring out to develop a sustainable agriculture sector to

Efficiently maximize output and to develop a proficient water purification and Reclamation apparatus remains a pressing concern for China. A study published in The Proceedings of the National Academy of Sciences highlighted that Chinese Agriculture accounts for around 65% of all water used in China, with significant Waste due to inefficient farming practices. The report further stated that "fast socioeconomic development, rapid urbanization and climate change, along with Very limited water resources and arable land per capita" presented China with "a Grave situation to sustainable agriculture". This dilemma has been aggravated by Uncontrolled pollution, desertification that has besieged 30% of the country, and a Massive urbanization movement in which some 10 million rural residents are Relocating to China's 850 cities annually. In 2012, Israel signed a $300 million deal With China to export Israeli water technology that will improve agricultural Efficiency in China. [Poulin, 2014]

Xi Jinping's Four-Point Peace Proposal (2017)

During his meeting with President Abbas of Palestine In July 2017, Chinese President Xi Jinping presented a new four-point proposal. First, we must vigorously Advance the political settlement based on the "two-state solution." China had at Times resolutely supported the "two-state cause" and the establishment of a fully

Sovereign, independent State of Palestine based

on the 1967 borders with East Jerusalem as its capital. It will, as always, play a constructive role in resolving the Palestinian issue. Second, adhere to a common, comprehensive, cooperative and Sustainable security," a supportive role to be played by the international community and the integration of peace and development. China calls for the effective Implementation of UN Security Council Resolution 2334, ceases all settlement Activities in the occupied territories immediately, resume peace talks and take Measures to prevent violence against civilians immediately. Third, further coordinate the efforts of the international community to strengthen and promote Synergy. China is willing to join and support all efforts that are conducive to the political settlement of the Palestinian issue. It is planned to hold a Palestine-Israel peace symposium so as to provide new ideas for solving the Palestinian issue. Fourth, adopt a comprehensive policy to promote peace through development. While advancing political negotiations, we should attach great importance to development issues and promote Palestine-Israel cooperation. China regards both Israel and Palestine as important partners in the "Belt and Road Initiative" and is willing to carry out mutually beneficial cooperation in the spirit of "peace through development" to support the accelerated development of Palestine continually. China proposes to launch a three-party dialogue channel with Israel and Palestine to coordinate and promote key projects for aiding Palestine. [Chen, 2017]China's efforts to position itself as a peacemaker is part of a larger strategy, embedded in its Global Security Initiative, to present China as a leading global actor. "China's current mediation push seems to be largely a reflection of its geopolitical competition with the United States and its ambition to expand its global influence at the expense of the West", says a 2023 report Mercator Institute for China Studies.

The 2023 Hamas–Israel Conflict: A Turning Point

Since the Hamas attack on Israel on October 7, 2023, China has not pursued an arbiter role, instead it has sided firmly with Palestine while frequently condemning Israel and the US. Consciously, it did not blame Hamas for the attack and has seemingly made the 'one man's terrorist is another man's freedom fighter' argument; during International Court of Justice hearings Ma Xinmin, a legal advisor for the Chinese Ministry of Foreign Affairs, supported Palestine that Palestinian acts of violence against Israelis are a legitimate "use of force to resist foreign oppression and to complete the establishment of the Palestinian state. "This stand makes China look very transactional and self-interested in the region, rather than a responsible extra- regional power with substantial Middle East influence. [Fulton, 2024]

In fine, looking at all the arguments, we can't deny the fact that China is a relative newcomer to Middle East political diplomacy, it is merely an economic actor in the region, and despite its special envoys, cooperation forums, and strategic partnerships, it does not have the depth of regional specialization that the US or some European countries have, given their long-established interest in the region. With respect to the Israel-Palestinian conflict, "constructive participation strategy" entails two types of involvement by the Chinese, not necessarily by the government only, but also by businesses and NGOs. The first type of involvement would be the act of participating instead of only making word statements on occasion, such as in the UN or during routine meetings with the area's leaders. The second element of involvement would need to be constructive, i.e., contributing to the development of the region. Whether it is settlement issues or the Palestinian refugee issue.

Conclusion

China's approach to the Israel-Palestine conflict showcases both the opportunities and challenges of China's approach to global engagement. Beijing's methods and strategies remain multi-layered and hyper-symbolic regarding realism, constructivism, world-system theory, multipolarity, soft power, and even Chinese IR theory. From the paradigm of realism, the balancing act of Israeli partnerships and Palestinian solidarity is visually breath-taking. How constructivism clearly initiates the design and implementation of the 'champion of the global south' identity. From world-system's perspective, the dual engagement is relative to the overarching global hierarchy. Multipolarity frames the engagement relative to the diminishing US

hegemony. Soft power deals with the hegemony in its attraction and legitimizing, while IR of China theory adds the civility narrative to disembed from the Western paradigm.

Ultimately, China's angle on the Israel–Palestine conflict should be read less as a bid for direct mediation and more as an exercise in narrative power—the ability to shape perceptions, reframe norms, and position itself as an alternative voice in global governance. In this sense, Beijing's role is not to resolve the conflict in the immediate term but to gradually accumulate symbolic capital that enhances its legitimacy as a multipolar power. The case of Israel–Palestine thus offers a window into the broader dynamics of China's rise: a global actor navigating the contradictions of power, identity, and order-making, seeking to redefine the terms of international engagement while remaining constrained by its own strategic caution.

Department of East Asian Studies
University of Delhi

References:

Books

- Eisenberg, Laura Zittrain and Neil Caplan. (2015). *Negotiating Arab-Israeli Peace, Second Edition Patterns, Problems, Possibilities.* Bloomington: Indiana University Press.
- Kamrava, Mehran, James Reardon-Anderson and Stephen Blank.(2018).*The Red Star And the Crescent: China and the Middle East.*
- Kumaraswamy, P.R. (2020). *China and the Middle East: The Quest for Influence. Palgrave Macmillan.*
- Kumaraswamy, P.R. (2009). *The A to Z of the Arab-Israeli Conflict.*Lanham, MD: Scarecrow Press.
- Kumaraswamy, P. R. (2009). *One State, Two States Resolving the Isra el/Palestine Conflict.* New Haven: Yale University Press.
- Morris, Benny. (1948)*A History of the First Arab-Israeli War*. Yale University Press, 2008.
- Orion, A., & Lavi, G. (2019). Israel-China Relations: Opportunities and Challenges. Jerusalem: Institute for National Security Studies.Pappe, Ilan. (1999).*The Israel/Palestine Question.*New York: Routledge.
- Shichor, Yitzhak. (1980). *The Middle East in China's Foreign Policy 1949 -1977. *Cambridge: Harvard University Press.Chapter in an Edited Volume
- Rajiv, S. Samuel C.(2017).''Israel–China Ties at 25: The Limited Partnership.''Pages 413-431.

Article in the journal

- Abd el-Hafeez Muhammad, Alaa. (2014). ''Chinese Policy on the Arab-Israeli Conflict.'' *Journal of Middle East Studies,* 42(3), 345-367.
- Burton, Guy.(2019).''China and the Palestinian-Israeli Conflict.'' *Asian Affairs, *39(2), 215-234.
- Chen, Yiyi. (2012). ''China's Relationship with Israel, Opportunities and Challenges, Perspectives from China.'' *Israel Studies,* 17(3), 1-21.
- Chen, Yang.(2017).''China's Position on the Palestine-Israel Issue: A Historical Perspective.'' *Journal of Chinese Studies,*17(2),123-145.
- Forough, Mohammadbagher. (2023). ''The 2023 Israeli– Palestinian War: A Gift to China.'' *Journal of International Affairs, *30(4),567-589.
- Gai Ran. (2015). ''Religion and Realism in International Law: China's Perspective on The Israeli- Palestinian Conflict.'' *Chinese Journal of International Law,* 8(1), 67-89.
- Han, Xiaoxing.(2011).''Sino- Israeli Relations.''*China Quarterly,*128(4),521-543.
- Hilali, A.Z. (2003). ''China and the Middle East: The Quest for Influence.'' *Journal of Third World Studies,* 20(1), 227-230.
- Kumaraswamy, P.R. ''China and Israel: Normalisation and After.'' *IsraelAffairs,* 26(2), 234- 256.
- Kumaraswamy, P.R. ''Israel- China Relations and the Phalcon Controversy.''*Journal Of Asian Security and International Affairs,* 15(3), 456-478.
- Kumaraswamy, P.R. ''The Military Dimension of Israel—China Relations.'' *Strategic Studies Quarterly,* 38(4), 789-807.

- Shichor, Yitzhak. (2015). "Chinese-Israeli Relations in a Middle Eastern Context: Retrospect and Prospects." *Mediterranean Quarterly,* 26(1), 137-151.
- Tjong- Alvares, Binyamin. (2013)."The Geography of Sino-Israeli Relations." *Geopolitics,*22(1), 145-167.

Newspaper Article

- Netanyahu and Abbas in separate China visits(2013) https://www.aljazeera.com/news/2013/5/6/netanyahu-and-abbas-in-separate-chinavisits
- Pro-Palestine or a trend? China's stance on Israel-Hamas war splits opinion(2023) https://www.aljazeera.com/news/2023/11/24/pro-palestinian-or-following-trendschinas-stance-on- israel-hamas-war
- Internet Documents Poulin, G.N. (2014,). Pacific Money: Sino-Israeli economic Ties blossominghttps://thediplomat.com/2014/12/sino-israeli-economic-tiesblossoming/
- Rumley, G., & Redlich, R. (2024). Tracking Chinese Statements on the HamasIsrael Conflict https://www.washingtoninstitute.org/policy-analysis/tracking-chinesestatements-hamas-israel- conflict Government Publication
- Xi calls for Middle East talks (2013), China Daily http://ir.china-embassy.gov.cn/eng/dtxw/201305t20130508_1893992.htm

शोध-पत्र

सामाजिक समरसता और राष्ट्र निर्माण में शिक्षक की भूमिका

डॉ. विद्याराम मीना

शिक्षा का उद्देश्य केवल ज्ञानार्जन तक सीमित नहीं है, बल्कि यह व्यक्ति के चरित्र निर्माण और राष्ट्र की प्रगति का आधार है। शिक्षक इस प्रक्रिया का मुख्य सूत्रधार है। वैसे तो हमारे अभिभावक हमारे प्रथम गुरू होते हैं एवं उनसे भी हमें बहुत कुछ सीखने को मिलता है किंतु शिक्षक की उपस्थिति हमारे जीवन में बहुत अहमियत रखती है। शिक्षक अर्थात् गुरु को तो ईश्वर से भी बड़ा दर्जा दिया गया है क्योंकि ईश्वर तक पहुँचने का मार्ग भी हमें गुरु ही बताता है। कबीर की ही पंक्ति है –

''गुरू गोविंद दोऊ खड़े, काके लागू पाय।
बलिहारी गुरु अपने, गोविंद दियो बताय॥''[1]

परन्तु वर्तमान समय में शिक्षा का उद्देश्य केवल धन प्राप्ति हो गया है। धन के लोभ में आकर अर्द्धज्ञानी भी अपने अधूरे ज्ञान के बल पर स्वयं को शिक्षक प्रमाणित कर विद्यार्थियों के जीवन के साथ छल करते हैं। विद्यार्थी ही हमारे देश का भविष्य है, एवं भविष्य के सुरक्षा की बागडोर शिक्षकों के हाथों में ही होती है इसलिए गुरु का कर्तव्य बनता है कि वे अपने शिष्यों को उचित ज्ञान दे, उनका मार्गदर्शन करें, एवं जीवन को विकसित बनाने के लिए उन्हें प्रोत्साहित करें। शिक्षक ही विद्यार्थियों को इस काबिल बनाते हैं कि वे अपने देश एवं राष्ट्र के उन्नति में योगदान कर सके। शिक्षक का स्थान समाज और राष्ट्र निर्माण की प्रक्रिया में केंद्रीय है। वह केवल ज्ञान का संवाहक नहीं, बल्कि मूल्य, नैतिकता और सांस्कृतिक चेतना का निर्माता भी है। सामाजिक समरसता की स्थापना के लिए शिक्षक समानता, सहिष्णुता और संवाद की संस्कृति को बढ़ावा देता है, जबकि राष्ट्र निर्माण की प्रक्रिया में वह आदर्श नागरिक निर्माण, लोकतांत्रिक चेतना, वैज्ञानिक दृष्टिकोण तथा मानव संसाधन के विकास का कार्य करता है।

एक शिक्षक का दर्जा समाज में हमेशा से ही पूज्यनीय रहा है। कोई उसे 'गुरु' कहता है, कोई 'शिक्षक' कहता है, कोई 'आचार्य' कहता है तो कोई 'अध्यापक' या 'टीचर' कहता है। ये सभी शब्द एक ऐसे व्यक्ति को चित्रित करते हैं जो सभी को ज्ञान देता है, या सिखाता है और जिसका योगदान किसी भी देश या राष्ट्र के भविष्य का निर्माण करना है। राष्ट्र को उन्नत बनाने के लिए देश का शिक्षित होना अत्यंत आवश्यक है। विद्यार्थी शिक्षक द्वारा दिये गए आदशों पर चलकर ही उन्नति करते है एवं देश को भी उन्नति के राह पर लाने का कार्यभार सम्भालते हैं अत: हम कह सकते हैं कि अप्रत्यक्ष रूप से शिक्षक का राष्ट्र निर्माण में अमूल्य योगदान है।

महर्षि अरविंद ने शिक्षकों के सम्बन्ध में कहा है कि ''शिक्षक राष्ट्र की संस्कृति के चतुर माली होते हैं। वे संस्कारों की जड़ों में खाद देते हैं और अपने श्रम से सींचकर उन्हें शक्ति में निर्मित करते हैं।''[2] महर्षि अरविंद का मानना था कि किसी राष्ट्र के वास्तविक निर्माता उस देश के शिक्षक होते हैं। इस प्रकार एक विकसित, समृद्ध और खुशहाल देश व विश्व के निर्माण में शिक्षकों की भूमिका ही सबसे ज्यादा महत्वपूर्ण होती है। सही मायनों में कहा जाए तो एक शिक्षक ही अपने विद्यार्थी का जीवन गढ़ता है और शिक्षक ही समाज की आधारशिला है।

शिक्षक भावी पीढ़ियों के दिमाग और चरित्र को आकार देकर सामाजिक कल्याण को बढ़ावा देने में महत्वपूर्ण भूमिका निभाते हैं। वे न केवल ज्ञान प्रदाता हैं, बल्कि समाज में सकारात्मक बदलाव के लिए मार्गदर्शक, रोल मॉडल और उत्प्रेरक के रूप में भी काम करते हैं। शिक्षक शिक्षा की शक्ति

प्रदान करते हैं, जो भविष्य की सभी उपलब्धियों की नींव है। छात्रों को जटिल और अमूर्त अवधारणाओं को समझने में मदद करके और उन्हें नए विचारों और विषयों से परिचित कराकर, शिक्षक छात्रों की रुचियों को व्यापक बनाकर और उन्हें उत्कृष्टता प्राप्त करने के लिए प्रेरित करके नई संभावनाओं के द्वार खोलते हैं। वे असफलता को स्वीकार नहीं करते और जानते हैं कि कब उन्हें प्रेरित करना है, कब धीरे से मार्गदर्शन करना है, और कब छात्रों को समस्याओं को स्वतंत्र रूप से हल करने देना है। इस दृष्टिकोण से छात्रों के सफल होने और हार न मानने की संभावना बढ़ जाती है।

महात्मा गांधी ने कहा था कि ''सच्ची शिक्षा वह है, जो चरित्र निर्माण में सहायक हो।''[3] वहीं डॉ. सर्वपल्ली राधाकृष्णन के अनुसार, ''राष्ट्र की आत्मा उसके शिक्षक होते हैं।''[4] यह स्पष्ट करता है कि शिक्षक की भूमिका व्यक्तिगत विकास, सामाजिक समरसता और राष्ट्र निर्माण तीनों स्तरों पर समान रूप से महत्वपूर्ण है। शिक्षक पाठ्यक्रम पढ़ाने के अलावा जीवन कौशल, नैतिक मूल्य और सामाजिक जिम्मेदारी की भावना भी विकसित करते हैं, जो अच्छे नागरिक बनने में मदद करता है। वे राष्ट्रीय एकता और सामाजिक समरसता की भावना जगाते हैं, जिससे छात्रों में देश के प्रति गौरव और प्रेम बढ़ता है। शिक्षक छात्रों को वैश्विक नागरिक बनने के लिए तैयार करते हैं और नवाचार व रचनात्मकता को प्रोत्साहित करते हैं। वे सामाजिक मुद्दों के प्रति संवेदनशील बनाते हैं और सकारात्मक परिवर्तन लाने में प्रेरित करते हैं। इस प्रकार, शिक्षक व्यक्तिगत जीवन और राष्ट्र की दिशा दोनों को आकार देते हैं, एक प्रगतिशील राष्ट्र के निर्माण में योगदान देते हैं।

विद्यार्थी समाज की सबसे बड़ी संपत्ति हैं और वे देश के भविष्य का प्रतिनिधित्व करते हैं। राष्ट्र निर्माण में विद्यार्थी का चरित्र सर्वोपरि है। शिक्षक और मार्गदर्शक, विद्यार्थियों के चरित्र का निर्माण करते हैं। वे शिक्षा के माध्यम से विद्यार्थियों में नैतिकता और मूल्यों के विकास में योगदान देते हैं। विद्यार्थी ईमानदार, स्नेही, अनुशासित, सहयोगी, सहानुभूतिशील और जिम्मेदार नागरिक बनते हैं। शिक्षक जितने प्रभावी ढंग से इन मूल्यों का संचार करते हैं, राष्ट्र उतना ही मजबूत और नैतिक बनता है। समाज में शांति के लिए शिक्षा अनिवार्य रूप से जीवन के लिए शिक्षा है। इसका लक्ष्य छात्रों के नैतिक विकास को बढ़ावा देना और शांति को बढ़ावा देने वाले कौशल, दृष्टिकोण और मूल्यों को बढ़ावा देना है। छात्रों में शांति के महत्व और सकारात्मक दृष्टिकोण को बढ़ावा देने में शिक्षक महत्वपूर्ण भूमिका निभाते हैं। वे छात्रों में न्याय, अन्याय, भेदभाव, असमानता, मानवाधिकार, हिंसा के परिणाम, भाईचारे के महत्व आदि जैसे विभिन्न सामाजिक मुद्दों के बारे में जागरूकता बढ़ा सकते हैं। समाज के सभी मुद्दों के प्रति जागरूक होना छात्रों के लिए समाज में शांति स्थापित करने में योगदान देने का एक तरीका है।

एक शिक्षक के कार्य और व्यक्तित्व का उसके छात्रों पर गहरा प्रभाव पड़ता है, और अक्सर उन पर एक स्थायी प्रभाव पड़ता है। छात्र आमतौर पर अपने शिक्षकों को आदर्श मानते हैं और उनके व्यवहार का अनुकरण करते हैं। यह समय के साथ उनकी आदतों को आकार दे सकता है। शिक्षकों द्वारा स्थापित अनुशासन और मूल्य एक आदर्श के रूप में कार्य करते हैं, जिससे छात्रों को आत्म-अनुशासन और अच्छी आदतें विकसित करने में मदद मिलती है। ये गुण न केवल व्यक्तिगत विकास का मार्गदर्शन करते हैं, बल्कि सकारात्मक सामाजिक संपर्क को भी बढ़ावा देते हैं।

छात्रों पर एक शिक्षक का प्रभाव कक्षा से परे भी होता है। वे छात्रों को उनकी पूरी क्षमता तक पहुँचने के लिए मार्गदर्शन, मार्गदर्शन और प्रेरणा देते हैं। शिक्षक अपने छात्रों को पूरी लगन से शिक्षित और सहयोग करते हैं, उन्हें जीवन भर सफलता के लिए आवश्यक कौशल और आत्मविश्वास प्रदान करते हैं। उनके प्रयास न केवल व्यक्तिगत छात्र जीवन को प्रभावित करते हैं, बल्कि समाज की समग्र बेहतरी में भी योगदान देते हैं। शिक्षकों के कार्य को पहचानना और उसका मूल्यांकन करना अत्यंत महत्वपूर्ण है, क्योंकि उनकी प्रतिबद्धता सभी के लिए एक बेहतर और अधिक जागरूक समाज के निर्माण में मदद करती है।

शिक्षक सम्पूर्ण शिक्षा-व्यवस्था की रीढ़ और सम्पूर्ण समाज का वस्तुशिल्पी है। उसके आचार-विचार, संस्कारों, चिन्तन, चरित्र और वेश-भूषा व ज्ञान का प्रभाव पहले छात्र पर, फिर समाज पर और फिर पूरे राष्ट्र पर पड़ता है और वह अन्त समय तक रहता है। इसलिए एक विद्वान ने कहा है ''A Teacher effects eternity, he can never tell, where is his influence stop.''[5]

एक शिक्षक का प्रभाव अन्तहीन है और वह जीवनपर्यन्त चलता है। यही कारण है कि जिन शिक्षकों ने हमें Primary Stage एवं ऊपर के स्तर पर पढ़ाया उनकी शिक्षाओं एवं

संस्कारों, आचार-विचारों एवं उनकी वेश-भूषा का प्रभाव हमारे जीवन में आज तक है और हमेशा रहेगा। जिसे हम बच्चों में आज तक बाँट रहे हैं और आगे भी बाँटते रहेंगे। यदि आपकी कक्षा में 50 बच्चे हैं तो 100 आँखें आपको विभिन्न कोणों (Angles) से देख रही होती हैं, आपकी वेश-भूषा, आपके विचार, आपका ज्ञान, आपके पढ़ाने का तरीका, आपका उनके प्रति व्यवहार। वो आपको अपनी कसौटी पर कसकर देख रहे होते हैं। इसलिए शिक्षक को चाहिए कि वो अपने विषय की पाठ्यवस्तु को इतना सहज, सरल, सुगम, सुरुचिपूर्ण, सर्वग्राह्य एवं आनन्ददायक बनाकर पढ़ाए कि बच्चों को यह भी पता न चले कि उन्होंने अपना पाठ कब में याद कर लिया। शिक्षक अपने विषय की पाठ्यवस्तु को पढ़ाने के साथ-साथ बच्चों में नैतिक और चारित्रिक गुणों का विकास भी करे, साथ ही उनमें देशप्रेम, अनुशासन, सर्वधर्म समभाव, विभिन्नता में एकता, वसुधैव कुटुम्बकम् की भावना को विकसित करे।

निष्कर्षत हम कह सकते हैं कि सामाजिक समरसता और राष्ट्र निर्माण में शिक्षक की भूमिका अत्यंत महत्वपूर्ण है। शिक्षक केवल ज्ञान का प्रदाता नहीं होता, बल्कि वह विद्यार्थियों के चरित्र, नैतिक मूल्यों और सामाजिक चेतना का निर्माता होता है। शिक्षक समानता, सहिष्णुता, सद्भाव और लोकतांत्रिक मूल्यों को जीवन में उतारकर विद्यार्थियों को आदर्श नागरिक बनने की दिशा में अग्रसर करता है। शिक्षक अपने आचरण, संस्कार और विचारों से विद्यार्थियों के जीवन पर गहरा प्रभाव डालता है, जो आगे चलकर समाज और राष्ट्र पर पड़ता है। इस प्रकार शिक्षक का प्रभाव समय और सीमाओं से परे होता है। राष्ट्र को सशक्त, समरस और प्रगतिशील बनाने के लिए शिक्षक का आदर्श योगदान सर्वाधिक मूल्यवान और अपरिहार्य है।

असिस्टेंट प्रोफेसर, हिंदी विभाग
दौलत राम कॉलेज,
दिल्ली विश्वविद्यालय, दिल्ली
Email : vidyaram4140@gmail.com

सन्दर्भ सूची

1. कबीरदास, बीजक, संत साहित्य संदर्भ ग्रंथ, नई दिल्ली
2. अरविंद, महर्षि, एजुकेशन : द ह्यूमन सायकल. श्री अरविंद आश्रम, पांडिचेरी
3. गांधी, मोहनदास करमचन्द, हिन्द स्वराज. नवल किशोर प्रकाशन, वाराणसी
4. राधाकृष्णन, सर्वपल्ली, शिक्षा, दर्शन और संस्कृति. राजपाल एंड संज, दिल्ली
5. Highet, Gilbert, The Art of Teaching, Vintage International, New York.

शोध-पत्र

हिंदी सिनेमा का बदलता स्वरूप और युवा पीढ़ी पर उसका प्रभाव : एक विश्लेषणात्मक अध्ययन

रजत तिवारी

प्रस्तावना

सिनेमा जनसंचार का एक सशक्त व लोकप्रिय माध्यम है। समाचार पत्र, रेडियो, टेलीविजन, इंटरनेट जैसे जनसंचार के अन्य लोकप्रिय माध्यमों के बीच भी सिनेमा अपने महत्त्व एवं लोकप्रियता को मजबूती से बनाए हुए है। वर्तमान में सिनेमा मनोरंजन के साथ शिक्षा, सामाजिक सुधार व जागरण, राष्ट्रीय चेतना को जागृत करने के साथ, आम जीवन में आने वाली समस्याओं को, ग्रामीण व शहरी क्षेत्र की समस्याओं व स्थिति को दुनियाँ के सामने ला रहा है। हम ऐसा कह सकते हैं कि आज देश, समाज, यहाँ तक की परिवार की भी कोई समस्या ऐसी नहीं है जो सिनेमा से छूटी हो।

आज हिन्दी सिनेमा जिसको हम बॉलीवुड के नाम से भी जानते हैं, वह विश्व भर में सबसे अधिक फिल्में बनाता है। आज के बदलते दौर में हिन्दी सिनेमा, सिर्फ भारतीयों के बीच ही नहीं बल्कि विश्वभर में लोकप्रिय हो रहा है। भारत में हिन्दी के साथ विभिन्न भाषाओं में बनने वाली फिल्में व गीत विश्व भर में पसंद किये जा रहें हैं। इस प्रकार हिन्दी सिनेमा जनसंचार के एक सशक्त माध्यम के रूप में उभरा है। इंटरनेट, सोशल मीडिया जैसे माध्यमों के बढ़ते प्रचार-प्रसार व प्रयोग ने हिन्दी सिनेमा के महत्त्व को और अधिक बढ़ा दिया है।

सिनेमा को एक कला की श्रेणी में रखा जाता है, यह अन्य कलाओं की अपेक्षा अधिक प्रभावशाली है।

फ्रांसीसी निर्माता-निर्देशक श्री आस्त्रुक ने सिनेमा अर्थात् फिल्म को इन शब्दों में परिभाषित किया है - ''लिखे हुए शब्द की तरह फिल्म भी एक भाषा है, जिसे लिखने और पढ़ने के लिए नए दृष्टिकोण की आवश्यकता है।''

मोशन पिक्चर एसोसिएशन, संयुक्त राज्य अमेरिका के पूर्व अध्यक्ष मि. एरिक जॉन्सटन के अनुसार, ''फिल्म आज के समाज में, संवहन का सर्वाधिक प्रभावशाली माध्यम है, जैसा कि यह शिक्षा और अंतरराष्ट्रीय सद्भावनाओं की वृद्धि का एक सबलतम साधन है।''

'यदि यह कहा जाता है कि एक चित्र सहस्त्र शब्दों से अधिक मूल्यावान है तो निश्चय ही एक फिल्म सहस्त्र चित्रों से अधिक गुणवान है।'

ल्युमियर ब्रदर्स ने जब 19वीं शताब्दी के आखिरी दशक में सिनेमा का आविष्कार किया तब कौन जानता था कि यह आविष्कार आने वाले वर्षों में करोड़ों लोगों के मनोरंजन का अकेला और सस्ता साधन बनने वाला है। फ्रांस के पहले फिल्म प्रदर्शन के लगभग सात महीने बाद बंबई में 7 जुलाई 1896 को पहली बार ल्युमियर ब्रदर्स की फिल्मों का प्रदर्शन हुआ था। 1899 में एच. एस. भाटवेडकर ने पहली न्यूज रील बनाई। पहली फीचर फिल्म का श्रेय दादा साहब फाल्के (धुंडीराज गोविंद फाल्के) को जाता है, जिन्होंने 1913 में पहली मूक फिल्म 'राजा हरिश्चंद्र' का निर्माण किया था। मूक फिल्मों का निर्माण लगभग दो दशकों तक होता रहा। 1934 तक लगभग 1300 मूक फिल्मों का निर्माण हुआ था। 1931 में पहली बोलती फिल्म 'आलमआरा' का निर्माण हुआ था वह वर्ष मूक फिल्मों के चर्मोत्कर्ष का भी था, मूक फिल्मों की कथा वस्तु अधिकांशत पौराणिक, धार्मिक या कभी कभी सामाजिक होती थी। 1920 में बंबई, कलकत्ता, मद्रास में फिल्म सेंसर बोर्ड स्थापित किए गये। इसी वर्ष फिल्मी पत्रिका 'बिजली' बांग्ला भाषा में कलकत्ता से प्रकाशित होने लगी।

1920 में इटली के सहयोग से 'नल दमयंती' नामक फिल्म का निर्माण हुआ जो किसी अन्य देश के सहयोग से बनने वाली प्रथम भारतीय फिल्म थी। 1925 में बाबूराम पेंटर ने सवकारी पाश नाम से मूल फिल्म बनाई, जिसे कई फिल्म समीक्षक पहली भारतीय कला फिल्म मानते हैं। 1931 में प्रथम बोलती फिल्म 'आलमआरा' बनने से पूर्व भारत में विदेशी सवाक फिल्मों का प्रदर्शन शुरू हो चुका था। इन्हीं से प्रेरित होकर आर्देशिर एमण ईरानी ने 1931 में पहली बोलती फिल्म 'आलमआरा' बनाई। 1947 में लगभग 15 भाषाओं में फिल्में बनने लगी थीं और अकेले, 1947 में कुल 280 फिल्मों का प्रदर्शन हुआ था। तीसरे चौथे दशक में अपनी फिल्में अपनी निर्माण कंपनियों के नाम से पहचानी जाती थी जैसे बॉम्बे टॉकीज, प्रभात फिल्म्स, न्यू थियेटर्स, फिल्मिस्तान आदि। दक्षिण भारत में भी ए. वी. मेयप्पन (ए. वी. एमण) जैमिनि आदि कंपनियाँ स्थापित हुई। 1936 में 'अछूत कन्या' ने सामाजिक न्याय के प्रश्न को केन्द्र में रखा, इसी वर्ष मराठी में बनी फिल्म 'संत तुकाराम' को सिनेमा के इतिहास में क्लासिक का दर्जा प्राप्त है। 1947 के बाद एवं 1970 के पूर्व तक भारतीय समाज में आशा और आस्था का वर्चस्व कायम था कि नये परिवर्तनों से ऐसे बदलाव आयेंगे जो आम आदमी के जीवन में खुशहाली लायेंगे। इस नये बदलाव का असर सिनेमा पर भी दिखाई दिया। इस नये सिनेमा को नया सिनेमा या समांतर सिनेमा नाम दिया गया। नए सिनेमा की उल्लेखनीय फिल्में 'सारा आकाश' (वासु चटर्जी), 'दस्तक' (राजिंदर सिंह 'बेदी'), 'उसकी रोटी' आदि।

नब्बे के दशक में रुमानियात और आदर्शवाद का स्थान हिंसा और सैक्स ने ले लिया। 'दृष्टि' (गोविंद निहलानी), एक डॉक्टर की मौत (तपन सिन्हा)। आखिरी दशक में महिला निदेशकों ने भी काफी अच्छी व सफल फिल्में दीं। 1990 के दशक में रोमांस भरी, मारधाड़ वाली, हास्य फिल्मों का निर्माण किया गया।

आधुनिक सिनेमा का युवा वर्ग पर प्रभाव :

फिल्में समाज का दर्पण होती है ये समाज में व्याप्त बुराईयों और विसंगतियों को आम जनमानस के सामने प्रकट कर इसे समूल खत्म करने को प्रेरित करती है।

फिल्मों के माध्यम से लोगों को जागरूक किया जाता है। लेकिन वर्तमान में कुछ भारतीय फिल्मों में पश्चिमी परम्पराओं के साथ-साथ अश्लीलता दिखाई जाने लगी, जिसका भारतीय संस्कृति पर बुरा प्रभाव देखने को मिला व मिल रहा है। फिल्मों के रूपहले पर्दे पर फिल्मों की कमाई बढ़ाने के लिये स्त्री की देह का प्रदर्शन व छोटे-छोटे भड़काऊ कपड़े पहनकर अभिनेत्रियों द्वारा अभिनय करना हमारे समाज के वास्तविक जीवन में भी देखने को मिल रहा है। चाहे आमिर और सलमान का 'गजनी' और 'तेरे नाम' का हेयर स्टाइल हो या फिर फिल्म 'धूम' में दिखाई गयी बैंक डकैती इन सबके स्पष्ट प्रमाण है कि इन्होंने समाज में नकारात्मक प्रभाव डाला है। त्योहारों पर होने वाला बेहिसाब खर्च, चुनावों में होने वाली दबंगई, छोटे शहरों में माफिया राज, कहीं-न-कहीं समाज ने इसे फिल्मों से ही सीखा है। पुरानी फिल्में सामाजिक सरोकारों से परिपूर्ण होती थीं। वहीं वर्तमान में बनने वाली अधिकतर फिल्में सामाजिक विघटन को बढ़ावा दे रही हैं। वर्तमान में सिनेमा के प्रभाव से आज का युवा खुद को नहीं बचा पा रहा है। वह जीवन के हर पड़ाव में इनसे प्रभावित हो रहा है। फिल्मों का युवावर्ग पर सामाजिक और सांस्कृतिक दोनों रूप में नकारात्मक प्रभाव पड़ रहा है। युवाओं पर सिनेमा का यह नकारात्मक प्रभाव समग्र रूप से भारतीय समाज की दशा और दिशा दोनों को ही बदलने में सक्षम है।

वर्तमान में फिल्में मनोरंजन का प्रमुख साधन है और एक शताब्दी पहले भी मनोरंजन का साधन थीं। ये बात अलग है कि तब की फिल्मों में आश्चर्य और जिज्ञासा का स्थान था और अब नित नवीन तकनीकों, नये-नये वाद्ययंत्रों, कम्प्यूटर, अति आधुनिक कैमरों और फिल्मों में आये नवाचारों ने इस माध्यम से प्रस्तुत मनोरंजन को कई आयाम दिये हैं। भारत में पहली बार, सिनेमा का पदार्पण सन् 1896 ई. में मुम्बई के वाटसन होटल में ल्यूमीयरे बन्धुओं के छः चलचित्रों के प्रदर्शन से हुआ था। उस समय शायद ही किसी ने यह सोचा हो कि पर्दे पर चलती फिरती जादुई तस्वीरों को अचंभित होकर देख रहा हमारा देश कभी दुनिया के फिल्म उद्योग का सबसे बड़ा निर्माता बन जाएगा। प्रथम स्वदेशी भारतीय फिल्म 'राजा हरिश्चंद्र' का निर्माण धुण्डीराज गोविन्द फाल्के ने किया था। यह फिल्म भारतीय जनमानस के सामने 3 मई सन् 1913 को प्रस्तुत हुई थी।

शुरुआती दशक में कुल 91 फिल्में ही बनी थीं। जो सारी ही धार्मिक आख्यानों को प्रस्तुत करती थीं। तत्पश्चात सामाजिक फिल्मों के बनने का दौर शुरु हुआ, इतिहास आधारित फिल्में बनीं, भूतप्रेतों पर फिल्में बनीं। 1947 से 1964 तक का समय

हिन्दुस्तानी सिनेमा का स्वर्णकाल कहा जाता है। इसी समय सामाजिक प्रतिबद्धता वाला मनोरंजक सिनेमा रखा गया। सत्यजीत राय का 'पाथेर पंचाली' से प्रवेश आणविक विस्फोट की तरह था। हिन्दुस्तानी सिनेमा को अपना पहला कवि मिला, मनुष्य की करुणा का गायक मिला। भारतीय सिनेमा में गीत संगीत का स्वर्णकाल भी इसी समय को माना जाता है। वर्तमान में भारतीय सिनेमा की यही पहचान है। शुरुआत में जहाँ इसका माखौल उड़ाया जाता था वहीं आज यह भारतीय सिनेमा के ऊर्जा के केंद्र बिन्दु के रूप में स्थापित हो गया है।

नई पीढ़ी में सिनेमा का स्वरूप बदल चुका है। फिल्मों के जरिये समाज को ऐसी चीजें दिखायी जाने लगीं जिससे आम दर्शक वर्ग ही दूर हो गया। फिल्में सिर्फ मनोरंजन का साधन और व्यवसाय का जरिया बन चुकी हैं। फिल्मों के नाम पर यही सब परोसा जा रहा है। वर्तमान में तो पॉपकार्न सिनेमा का निर्माण होने लगा है। पॉपकार्न सिनेमा, जिसमें केवल मनोरंजन हो, कोई संदेश नहीं। पॉपकार्न खाते जाओ और सिनेमा देखते जाओ। आज सिनेमा में परिवर्तन की धारा स्पष्ट रूप से दिखाई देने लगी है। सिनेमा को आम दर्शकों से दूर करके, उच्चवर्गीय दर्शकों पर केन्द्रित सिनेमा दिखाया जा रहा है और इन्हें ही लक्ष्य बनाकर फिल्मों का निर्माण भी हो रहा है। ऐसे में फिल्में सिर्फ समय गुजारने का माध्यम मात्र बनकर रह गई है। फिल्मों के नाम पर अश्लीलता और हिंसा को बढ़ावा दिया जा रहा है। इसी के चलते पारम्परिक सामाजिक सिनेमा न जाने कब का खत्म हो गया है।

अमेरिकी बच्चों पर किये गए एक शोध के अनुसार 16 वर्ष की आयु प्राप्त करते ही औसतन वे टीवी पर प्रसारित फिल्मों में तकरीबन 33000 हत्याएं और दो लाख हिंसक दृश्य देख चुके होते हैं। स्वाभाविक है इस तरह की विषयवस्तु को ज्यादा देखने पर आक्रामकता बढ़ती है और हिंसा के प्रति मानव जाति में जो स्वाभाविक विरोध होता है, वह कम हो जाता है। वहीं संयुक्त राज्य अमेरिका में प्रो. सेंटरवेल और उनके सहयोगियों ने एक अध्ययन के निष्कर्ष में पाया कि संयुक्त राज्य अमेरिका और कनाडा में 1950 के दशक में और उसके पश्चात् अन्य देशों में ही टीवी का प्रसार हुआ। अध्ययन में पाया गया कि इसके अगले दो दशकों में ही इन देशों में हत्याओं की दर लगभग दो गुनी हो गई। अध्ययन में इसके लिए मुख्य रूप से टीवी को दोषी पाया गया। केवल हत्याएं ही नहीं अन्य हिंसक अपराधों के बढ़ने में भी टीवी पर दिखाई गई हिंसा को ही इस अध्ययन में दोषी पाया गया।

कई ऐसे उदाहरण हैं जिनसे ये बात स्पष्ट हो जाती है कि वर्तमान फिल्मों का युवाओं पर प्रभाव नकारात्मक है। उदाहरण स्वरूप अंग्रेजी फिल्म 'बानी एंड क्लाइड' के प्रदर्शित होने के बाद फिल्म में दिखाई गई अपराध शैली के तरह ही कई अपराध घटित हुए। वही बॉलीवुड की फिल्म 'धूम' के बारे में कहा गया था कि डकैती की कुछ घटनाएं इससे प्रभावित थीं और फिल्म आने के बाद चेन स्नैचिंग की घटनाओं की बाढ़ सी आ गई थी और बॉलीवुड की एक अन्य फिल्म 'जिस्म' के बारे में भी यही कहा गया कि दिल्ली में हुई एक हत्या इससे ही प्रभावित थी वहीं फिल्म 'देल्ही बेली' के आने के बाद युवाओं के वार्तालाप में गालियों का चलन कुछ ज्यादा ही बढ़ गया था।

ऐसा नहीं है कि फिल्मों ने युवाओं में नकारात्मकता का ही भाव भरा है। कई अच्छी फिल्में बनी हैं जिन्होंने न केवल दर्शकों का मनोरंजन किया बल्कि समाज को दिशा भी दी। अच्छी फिल्में समाज के लिए आवश्यक हैं क्योंकि समाज को एक नई दिशा देने और समाज में व्याप्त विसंगतियों को दूर करने में वे समाज की मदद करती हैं और एक नई दृष्टि और संवेदना पैदा करती हैं। एक समय था जब भ्रष्टाचार, दहेज प्रथा, बाल विवाह आदि सामाजिक मुद्दों पर आधारित फिल्में बनायी जाती थीं और लोगों में फिल्मों के माध्यम से जागरूकता पैदा की जाती थी। एक समय था जब सभी फिल्में पूरे परिवार के साथ बैठकर देखी जा सकती थीं, लेकिन वर्तमान में गिनती की कुछ फिल्मों को छोड़कर सभी फिल्मों में अश्लीलता के सिवाए न तो अच्छी पटकथा होती है और न ही रोचकता। ऐसी फिल्मों को परिवार के साथ बैठकर नहीं देखा जा सकता है।

भारतीय फिल्मों के पितामह दादा साहब फाल्के को उस समय ही निकट भविष्य में बनने वाली फिल्मों की आहट मिल गई थी। तभी तो उन्होंने अंग्रेजों द्वारा बनाई 'पैरियर कमेटी' के सामने सन् 1927 में कहा था कि 'आने वाले समय में फिल्म निर्माण पर व्यय बढ़ता जाएगा और कथा में सामाजिक सरोकार धीरे-धीरे घटता जाएगा।' आज के समय में इसी तरह की फिल्मों का निर्माण हो रहा है। जिसकी आशंका दादा साहब फाल्के ने सिनेमा के शुरुआती दौर में ही व्यक्त कर दी थी। सिनेमा में आए इस बदलाव ने युवावर्ग की कथनी-करनी में आमूल-चूल परिवर्तन कर दिया है। युवाओं के बात करने का अंदाज, उठना-बैठना, खान-पान, पहनावा, यहाँ तक की

धर्मों के प्रति उनका नजरिया भी फिल्मों से तैयार होता है। ये सत्य है कि सिनेमा समाज से लेकर समाज को ही देता है। तभी तो सिनेमा को समाज का छोटा प्रतिबिंब कहा जाता है। लेकिन वर्तमान समय का सिनेमा समाज से लेता कम, देता ज्यादा है। यानी कि ये समझना बेहद मुश्किल है कि सिनेमा समाज से बनता है या सिनेमा से समाज।

सिनेमा समाज में बनता है, समाज के लिए बनता है और एक नये समाज का निर्माण करता है। 'राजा हरिश्चन्द्र' और 'आलमआरा' से लेकर वर्तमान दौर तक हिन्दी सिनेमा ने एक लम्बी दूरी तय की है। इस दौरान भारतीय सिनेमा ने समाज के विभिन्न पहलुओं को, घटनाओं को पर्दे पर दर्शाया है। भारतीय सिनेमा का इतिहास बहुत ही उज्ज्वल है। पुरानी फिल्में जहाँ सामाजिक सरोकारों से परिपूर्ण होती थी वहीं वर्तमान में बनने वाली फिल्म सामाजिक विघटन को बढ़ावा दे रही है। वर्तमान में सिनेना के प्रभाव से आज का युवा खुद को नहीं बचा पा रहा है। जीवन का हर पड़ाव इनसे प्रभावित हो रहा है। ऐसे में युवाओं के सोचने समझने की शक्ति कम हो गयी है व फिल्मों में जो भी दिखाया जाता है उसे सच मानकर आज का युवा वही करने की कोशिश कर रहा है चाहे जो भी क्षेत्र हो। उसको लगता है कि जो फिल्मों में दिखाया गया है यही वास्तविकता है इसी में मौज है, मस्ती है। इन कारणों से सामाजिक, पारिवारिक व नैतिक मूल्य बदल जा रहे हैं। हम अपने रहन-सहन को छोड़ रहे हैं व दूसरों की जीवन शैली की ओर आकर्षित हो रहे हैं। अत: हम कह सकते हैं कि आधुनिक हिंदी सिनेमा ने युवा वर्ग के जीवन को काफी गहराई से प्रभावित किया है।

शोधार्थी, हिंदी विभाग
दिल्ली विश्वविद्यालय, दिल्ली
ईमेल : tiwarirajat765@gmail.com

सन्दर्भ ग्रंथ

1. डॉ. अनिरुद्ध कुमार 'सुधांशु' एवं डॉ. अनुज कुमार 'तरुण' (संपादक), हिन्दी सिनेमा : एक अध्ययन, पृ.-5, पृ. -12.
2. मृत्युंजय (संपादक), सिनेमा के सौ बरस, पृ.3-5.
3. सिन्हा, प्रसून, भारतीय सिनेमा एक अनंत यात्रा, पृ. 83.
4. अग्रवाल, डॉ. विजय, आज का सिनेमा, प्रथम संस्करण : 2001 नीलकंठ प्रकाशन नई दिल्ली।
5. जमाल, अनवर, सैबल चटर्जी, हॉलीवुड बॉलीवुड, संस्करण : 2006, वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली।
6. प्रवीण दीक्षित : जनमाध्यम और पत्रकारिता, 1982, कानपुर
7. विनोद तिवारी : फिल्म पत्रकारिता, 2007, नई दिल्ली, वाणी प्रकाशन
8. भवानीलाल : बॉलीवुडनामा, 2011, दिल्ली सत्साहित्य प्रकाशन।

अमजद खान

गुरुकुल कांगड़ी की शैक्षिक पद्धति : परंपरा और आधुनिकता का द्वंद्व

शोध-सार

प्रस्तुत शोध पत्र भारतीय राष्ट्रीय आंदोलन और नवजागरण के दौर में स्थापित गुरुकुल कांगड़ी और प्राचीन गुरुकुल शिक्षा पद्धति का एक आलोचनात्मक विश्लेषण प्रस्तुत करता है। यह अध्ययन दर्शाता है कि सदियों की औपनिवेशिक दासता और मैकाले की शिक्षा पद्धति के विरोध में स्वामी दयानंद सरस्वती और स्वामी श्रद्धानंद ने किस प्रकार वैदिक शिक्षा के माध्यम से भारतीय सांस्कृतिक अस्मिता को पुनर्जीवित करने का प्रयास किया। शोध पत्र में गुरुकुल प्रणाली के गुणों का विस्तृत विवेचन किया गया है, जिसमें चरित्र निर्माण, नि:शुल्क शिक्षा (विद्यादान), गुरु-शिष्य की पवित्र परंपरा, सादा जीवन और प्रकृति के सानिध्य में सर्वांगीण विकास जैसे तत्व शामिल हैं। यह पद्धति केवल पुस्तकीय ज्ञान तक सीमित न रहकर जीवन जीने की कला और आत्मनिर्भरता सिखाने पर केंद्रित थी। साथ ही इस पत्र में गुरुकुल प्रणाली के दोषों और सीमाओं का भी मूल्यांकन किया गया है। अध्ययन यह भी इंगित करता है कि अति-धार्मिकता और रटंत विद्या ने कालान्तर में वैज्ञानिक सोच को बाधित किया। निष्कर्षत:, यह शोध पत्र तर्क देता है कि वर्तमान आधुनिक शिक्षा प्रणाली में गुरुकुल पद्धति के सकारात्मक तत्वों—जैसे नैतिक मूल्य, अनुशासन और व्यावहारिक ज्ञान—का समावेश आवश्यक है, जबकि इसकी रूढ़िवादी और भेदभावपूर्ण प्रथाओं को त्यागना ही श्रेयस्कर है। यह अध्ययन परंपरा और आधुनिकता के बीच संतुलन साधने की वकालत करता है।

कुंजी शब्द

गुरुकुल शिक्षा, स्वामी श्रद्धानंद, वैदिक मूल्य, चरित्र निर्माण, शैक्षिक सुधार, परंपरा बनाम आधुनिकता।

गुरुकुल शिक्षा

सदियों की दासता और विदेशी आक्रमणों के फलस्वरूप भारत में नई शिक्षा प्रणाली का उदय हुआ क्योंकि भारत ने सामाजिक-सांस्कृतिक पहचान की अभिव्यक्ति एवं समय की चुनौतियों का मुकाबला करने के लिए अपनी विशिष्ट शिक्षा प्रणाली को प्राचीन काल से ग्रहण किया है।[1] यह ऐतिहासिक दृष्टि से भारतीय राष्ट्रीय आंदोलन का वह समय था, जिसमें भारतीय संस्कृति तथा जीवन पद्धति में एक प्रकार का शून्य, अंधविश्वास व अन्धकार पैदा हो गया था। यूँ कहें कि प्राचीन शिक्षा पद्धति का लगभग पूर्ण रूप से पतन हो गया था। क्योंकि किसी भी देश में अन्य परिवर्तनों के साथ-साथ अन्य क्षेत्रों में विशेषकर शिक्षा के क्षेत्र में क्रांतिकारी परिवर्तनों का होना लाजिमी था। शिक्षा के क्षेत्र में इस प्रकार का परिवर्तन भारत में भी हुआ।[2] अनेक शिक्षावादियों व समाज सुधारकों ने इन परिवर्तनों को रोकने के लिए अपनी मुहिम चलाई, जिसमें स्वामी दयानंद सरस्वती, स्वामी विवेकानंद तथा एक महान समाज सुधारक व शिक्षाविद स्वामी श्रद्धानंद का नाम लिया जा सकता है।

प्राचीन भारतीय शिक्षा का उदय वेदों से ही हुआ है। यद्यपि यह निश्चित नहीं हो पाया है कि वेद कितने पुराने हैं लेकिन यह सुनिश्चित है कि वेद न केवल हिन्दुओं बल्कि सम्पूर्ण विश्व का सबसे पुराना साहित्य है।[3] शिक्षा का सर्वाधिक प्रमुख उद्देश्य छात्रों के नैतिक चरित्र का निर्माण करना होता है। वेदकालीन युग में शिक्षा का प्रमुख उद्देश्य यही था। ब्रह्मचर्य,

परमार्थ, परोपकार, सदाचार, सात्विक भोजन, जनहित भावना, कर्त्तव्य पालन, धर्म के प्रति निष्ठा, गुरु व बड़ों का आदर, सतस व्रत, उच्च विचार आदि संस्कारों को छात्रों के जीवन में पिरोया जाता था ताकि उनका जीवन संस्कारयुक्त बन जाएँ।[4] इसीलिए गुरुकुल प्रणाली का विकास प्राचीन भारतीय शिक्षा व्यवस्था को विकसित करने के लिए किया गया था। जहाँ सैकड़ों विद्यार्थियों को एक-एक महर्षि अपने पास रखकर उत्तम शिक्षा प्रदान करते थे जो उनके जीवन के लिए आवश्यक थी। प्राचीन काल में गुरुकुलों में जो शिक्षा प्रदान की जाती थी वह जीवन के लिए पूर्णरूप से व्यावहारिक होती थी।[5] छात्रों के सर्वांगीण विकास पर बल देना गुरुकुलों की प्रमुख विशेषता थी। यही कारण है कि शिक्षा का उद्देश्य इस काल में छात्रों के व्यक्तित्व का विकास करना भी होता था। छात्रों में आत्मविश्वास, नेतृत्व, सामाजिकता, आत्म-अनुभूति, सहनशीलता, आत्मसम्मान, परोपकार जैसे उत्तम गुणों का शिक्षा के द्वारा विकास किया जाता था। इन गुणों का विकास करके छात्रों को अपने कार्य में पूर्ण स्वतंत्रता दी जाती थी जिससे उनके अंदर स्वयं निर्णय लेने की क्षमता का विकास हो सके तथा वह अपने उत्तरदायित्व को भली-भाँति समझ सके। गुरुकुल में शिक्षा का एक उद्देश्य छात्रों में सामाजिक भावना विकसित करके उन्हें सुयोग्य नागरिक बनाना भी होता था। जब छात्रों की शिक्षा पूर्ण हो जाती थी तब उन्हें गृहस्थ आश्रम के कर्त्तव्यों तथा उसकी विशेषताओं का बोध कराया जाता था, जिससे कि वे अपने पारिवारिक व सामाजिक उत्तरदायित्वों को समझ कर समाज व राष्ट्र के निर्माण में पूर्ण रूप से भाग ले सकें। अतिथि सत्कार, दीन-दुखियों की सहायता, गौ सेवा, माता-पिता व बुजुर्गों की सेवा आदि कार्य भी छात्रों को सिखाए जाते थे।[6]

गुरुकुल शिक्षा की विशेषता के रूप में राष्ट्रीय व सामाजिक संस्कृति का संरक्षण तथा प्रसार को भी शामिल किया जा सकता है। उस समय छात्रों को शिक्षा के द्वारा संस्कृति का पूर्ण ज्ञान अर्जित कराने के बाद एक पीढ़ी से दूसरी पीढ़ी तक सांस्कृतिक विरासत को आगे बढ़ाने का प्रयास किया जाता था। शिक्षा संस्थाओं का कार्य छात्रों को जीविका के लिए भी तैयार करना होता था। गुरुकुल शिक्षा पद्धति में भी यह देखा जा सकता है। वैदिक काल में भी छात्रों को अपने भावी जीवन को सुचारू रूप से चलाने के लिए उन्हें व्यावहारिक ज्ञान प्रदान किया जाता था। कृषि, पशुपालन, व्यवसाय, चिकित्सा, डेरीफार्म, युद्ध कला जैसे जीवनोपयोगी प्रशिक्षण छात्रों को सिखाएं जाते थे।[7]

गुरुकुल शिक्षा प्रणाली के गुण

यदि गुरुकुल शिक्षा प्रणाली को अपने देश की वर्तमान शिक्षा से जोड़कर देखें और उसकी परिस्थितियों, आवश्यकताओं, संभावनाओं और आकांक्षाओं को समझें तो उसमें निम्नलिखित गुण स्पष्ट होंगे। जिन्हें आज की शिक्षा प्रणाली में भी लागू कर देना चाहिए। गुरुकुल में शिक्षा का दान दिया जाता था, जिसे विद्यादान कहा जाता था, जोकि निःशुल्क दिया जाता था। गुरुकुल में छात्रों की अन्य आवश्यकताएँ जैसे भोजन, वस्त्र, आवास आदि की व्यवस्था भी निःशुल्क होती थी। यह व्यय राजा, धनी लोगों से प्राप्त दान, भिक्षा तथा गुरुदक्षिणा द्वारा पूरा होता था। आज भारत तथा विश्व के अन्य देशों में निःशुल्क शिक्षा उपलब्ध तो है परन्तु एक निश्चित स्तर तक ही। गुरुकुल शिक्षा प्रणाली में विद्यार्थी से यह अपेक्षा की जाती थी कि वे गुरुकुल की शिक्षा पूरी करने के बाद स्वयं से पढ़ाई को जारी रखें और इस कार्य में आलस्य न हो। गृहस्थाश्रम जीवन के पश्चात् वानप्रस्थाश्रम में तो लोग स्वयं ही अध्ययन और चिंतन करते थे।[8] और समाज को अपने शिक्षा तथा अनुभव से आगे बढ़ने की ओर अग्रसर करते थे। आज संसार के सभी देशों में सतत् शिक्षा की व्यवस्था है।

वैदिक काल में शिक्षा का महत्व और उद्देश्य केवल पुस्तक द्वारा ज्ञान प्राप्त करना नहीं था। बल्कि मानव को शारीरिक, मानसिक रूप से भी शिक्षित किया जाता था। मनुष्य को उसके सामाजिक एवं राष्ट्रीय कर्त्तव्यों के बारे में भी बताया जाता था। उनका नैतिक एवं चारित्रिक विकास भी कराया जाता था। उन्हें व्यवसाय के बारे में शिक्षित किया जाता था। और इन सबके अलावा उसे आध्यात्मिक विकास का भी बोध कराया जाता था। शिक्षा में सबसे ज्यादा बल व्यक्ति के चरित्र के विकास, ज्ञान के विकास एवं आध्यात्मिक विकास पर दिया जाता था। वैदिक कालीन शिक्षा में मनुष्य के प्राकृतिक, सामाजिक और आध्यात्मिक, तीनों पक्षों पर बल दिया जाता था। और इन उद्देश्यों को पूरा करने के लिए अपरा (भौतिक) और परा (आध्यात्मिक) दोनों प्रकार के विषयों और क्रियाओं पर अधिक ध्यान दिया गया था। उस समय गुरुकुलीय शिक्षा के विषय भाषा, साहित्य, दर्शन एवं नीतिशास्त्र थे और इन विषयों पर अधिक ध्यान दिया जाता था।[9] उस समय यह

शिक्षा के अनिवार्य विषय थे। आज हमारे देश में उच्च शिक्षा के पाठ्यक्रम पर अधिक ध्यान दिया गया है परन्तु यह बहुपक्षीय नहीं है, यह शिक्षा मनुष्य का प्राकृतिक, सामाजिक एवं आध्यात्मिक तीनों पक्षों का विकास नहीं करती।

भारत में विशिष्टिकरण का आरम्भ वैदिक काल में हुआ था। यह बात सत्य है कि प्रारम्भिक वैदिक काल में तो यह विशिष्टिकरण छात्रों की योग्यता के आधार पर होता था। परन्तु उत्तर वैदिक काल में यह छात्रों के वर्ण के आधार पर होने लगा था।[10] आज हमारे देश के साथ-साथ विदेशों में भी उच्च शिक्षा के क्षेत्र में विशिष्टिकरण का क्षेत्र अतिव्यापक हो गया है। और छात्रों को उनकी योग्यता एवं क्षमता के अनुसार विशिष्ट शिक्षा एवं प्रशिक्षण प्राप्त करने के अवसर दिए जाते हैं।

वैदिक काल में गुरुओं ने पढ़ाई के साथ-साथ अन्य विधियों जैसे अनुकरण, तर्क, प्रयोग एवं अभ्यास, नाटक, कहानी, प्रश्नोत्तर, व्याख्यान, विचार-विमर्श आदि के विकास पर बल दिया था। उस काल में शिक्षण को रोचक और प्रभावी बनाने पर विशेष बल दिया गया था। यूँ तो आज मनोविज्ञान के ज्ञान और विज्ञान के आविष्कारों की सहायता से अनेक अन्य उत्तम शिक्षण विधियों का विकास हुआ है परन्तु वैदिक काल में शुरू हुई विधियों का महत्त्व आज भी है और हमेशा रहेगा। हमें उनका प्रयोग आवश्यकतानुसार करना चाहिए। वैदिक काल में गुरुकुल का जीवन अत्यधिक कठोर होता था। तथा गुरु और शिष्य इन कठोर नियमों का पालन भी करते थे। उस काल में गुरु बहुत अनुशासन में होते थे, साथ ही वह शिष्य से भी यह अपेक्षा रखते थे कि वह भी अनुशासन में रहे। गुरु के जीवन का शिष्य पर सीधा प्रभाव पड़ता था। जिसमें गुरुओं के आदर्श आहार-विहार और आचार-विचार सम्मिलित थे। गुरु को देखकर शिष्य भी उचित व्यवहार और उचित आचार-विचार का पालन करते थे।[11] गुरु और शिष्य दोनों सादा जीवन व्यतीत करते थे। सच बात यह है कि आचरण की शिक्षा आचरण द्वारा ही दी जा सकती है। आज शिक्षा में यदि गुरु अनुशासन प्रिय होगा तब ही शिष्य अनुशासन पर चलेगा।

वैदिक काल में गुरुकुल प्रकृति की सुरम्य गोद में स्थित होते थे। यहाँ का वातावरण बिल्कुल शान्त होता था साथ ही शुद्ध वायु और शुद्ध जल की प्राप्ति होती थी। साथ ही इन गुरुकुलों की अन्य विशेषता थी-संस्कार प्रधान जीवन पद्धति। इस पद्धति के द्वारा बच्चे का उपनयन संस्कार होता था। इस संस्कार से बच्चों के मानसिक जीवन में परिवर्तन होता था। वह ब्रह्मचर्य जीवन को पूर्ण रूप से स्वीकार करके एक संयमित जीवन जीते थे। नियमित रूप से यज्ञ अनुष्ठान द्वारा उनमें उच्च संस्कारों का निर्माण होता था। शिक्षा पूरी होने पर समावर्तन समारोह होता था। इस समारोह में गुरु शिष्यों को गृहस्थ जीवन में प्रवेश करने की आज्ञा देते थे। और उन्हें कर्तव्य पालन का उपदेश देते थे। आज के समय में हमारे विद्यालय प्रदूषण वाले स्थानों में स्थित है। जहाँ पर शोर है, और ध्वनि प्रदूषण भी है। यदि विद्यालय की कार्य प्रणाली और दिनचर्या को संस्कार प्रधान एवं मूल्य आधारित बनाया जा सके तो फिर से शिक्षा में सुधार सम्भव है।

गुरुकुल शिक्षा प्रणाली के दोष

वैदिक काल की शिक्षा प्रणाली में राज्य का अधिकार न होकर वह पूर्ण रूप से गुरु के अधिकार में थी। अर्थात् शिक्षा का अधिकार किसे होगा, कौन शिक्षा का हकदार होगा, यह निर्णय गुरु को लेना होता था। जिसका परिणाम यह हुआ कि कोई सर्वमान्य स्वरूप विकसित नहीं हो सका। जन शिक्षा का समप्रत्यय विकसित नहीं हो सका। और स्त्री शिक्षा को बढ़ावा नहीं मिला। जबकि आज भारत के साथ-साथ विदेशों में भी शिक्षा के समान अवसर प्राप्त है। जिससे कि सभी वर्ग, जाति एवं प्रत्येक स्त्री एवं पुरुष को शिक्षा का समान अवसर प्राप्त है। वैदिक काल में गुरुकुल की आय का कोई निश्चित साधन नहीं था। गुरुकुल की आय का साधन भिक्षा, एक महत्वपूर्ण साधन था। यह राजा, महाराजा और धनी लोगों की कृपा पर निर्भर करती थी। यही कारण है कि उस काल में गुरुओं की स्थिति अति दयनीय थी।[12] उस काल में सभी छात्र भिक्षा माँगने जाते थे। कुछ विद्वानों का मत है कि भिक्षा से दो लाभ थे एक तो गुरुकुलों की व्यवस्था पूर्ण रूप से चलती थी और दूसरी छात्रों के स्वभाव में विनम्रता आती थी। परन्तु आज की परिस्थिति में भिक्षा से न तो विद्यालयों की व्यवस्था की जा सकती है और न ही छात्रों का विकास हो सकता है। यही वजह है कि आज शिक्षा की व्यवस्था के लिए वित्तव्यवस्था राज्य का उत्तरदायित्व माना जाता है।[13]

वैदिक काल की शिक्षा को दो भागों में बांटा गया था प्राथमिक एवं उच्च। और उच्च शिक्षा विद्यार्थी और किशोरों के अनुकूल नहीं थी। वर्तमान परिस्थिति के लिए तो एकदम

अनुपयुक्त है। वर्तमान मनोवैज्ञानिकों ने इस बात को दिखाया कि बाल, किशोर, शिशु, युवाओं के मनोविज्ञान में बहुत अंतर है। अत: शिक्षा को मनोविज्ञान के आधार पर अनेक भागों जैसे-शिशु शिक्षा, प्राथमिक शिक्षा, उच्च शिक्षा, माध्यमिक शिक्षा आदि स्तरों में विभाजित किया गया है। और उच्च शिक्षा को अनेक वर्गों जैसे कला, वाणिज्य, कृषि, विज्ञान, तकनीकी आदि में विभाजित किया गया है।[14] वैदिक काल में सभी गुरुकुलों में एक समान शिक्षा नहीं थी बल्कि सभी में अलग-अलग शिक्षा दी जाती थी। उस समय यह धारणा थी कि शिष्य को जितना अधिक शिक्षित किया जाएगा तो वह जीवन में उतने अधिक सफल होंगे। परन्तु इस पर सभी गुरु एकमत नहीं थे। आज जब शिक्षा की व्यवस्था करना राज्य का उत्तरदायित्व हो गया है, किसी भी स्तर की शिक्षा की पाठ्यचर्या पूर्व निश्चित होनी आवश्यक है। आज भी राज्य यह कोशिश कर रहे है।[15]

वैदिक काल में समस्त ज्ञान को स्मरण द्वारा सुरक्षित रखा जाता था, क्योंकि मुद्रण कला का विकास नहीं हुआ था। वैदिक काल में वही व्यक्ति योग्य माना गया है जिसे धर्म, दर्शन, नीतिशास्त्र और अन्य अनुशासनों एवं क्रियाओं सम्बन्धी श्लोक याद हो।[16] जबकि वर्तमान में शिक्षा को समझने पर अधिक बल दिया जाता है, उसे याद करने पर नहीं। प्रारम्भिक वैदिक काल में अनुशासन से तात्पर्य शारीरिक, मानसिक और आत्मिक, तीनों प्रकार से था। इसकी प्राप्ति के लिए गुरु और शिष्य दोनों को ही कोशिश करनी पड़ती थी। वह अपने आचार-विचार पर नियंत्रण रखते थे, धर्म और नीति का पालन करते थे। उत्तर वैदिक काल में गुरु की आज्ञा का पालन करना तथा गुरुकुलों में नियमों का पालन ही अनुशासन माना जाने लगा। तब शिष्यों को गुरु के आदेशों और नियमों को कठोरता से मानना जरूरी था।[17] जबकि वर्तमान शिक्षा में इन कठोर नियमों के लिए जगह नहीं है, न शिष्य गुरु की आज्ञा का पूर्ण रूप से पालन करते हैं, और न ही अनुशासन में रहते हैं। बल्कि एक स्वतंत्र वातावरण में रहने पर अधिक बल दिया जाता है परन्तु इस स्वतंत्र वातावरण के दुष्परिणाम भी देखे जा सकते हैं। आज स्वतंत्रता और अनुशासन में संतुलन रखने की आवश्यकता है। वैदिक काल में जन शिक्षा का सम्प्रत्यय विकसित नहीं हुआ था। उत्तर वैदिक काल में उच्च वर्ग को शिक्षित करना और शूद्रों को शिक्षा से वंचित रखना जन शिक्षा का विरोधी कदम था। आज भारत के साथ-साथ विदेशों में भी जन शिक्षा (एक निश्चित स्तर तक निशुल्क और अशिक्षित प्रौढ़ों की सामान्य शिक्षा) पर विशेष बल दिया जाता है।[18]

वैदिक काल में स्त्रियों को शिक्षा से पूर्ण रूप से वंचित रखा गया था। फिर भी स्त्रियों ने भिन्न-भिन्न क्षेत्रों में विशेष ज्ञान एवं कौशल की प्राप्ति भी की थी। परन्तु इनकी संख्या बहुत कम थी। उस काल में स्त्रियों की शिक्षा प्राप्ति के लिए विशेष साधन जैसे गुरुकुल नहीं थे और जिन गुरुकुल में स्त्रियाँ प्रवेश ले सकती थी वहां राजा, महाराजा, उच्च वर्ग के व्यक्तियों की कन्याएँ पढ़ती थी।[19] जबकि वर्तमान सभी देशों में स्त्री-पुरुष में किसी प्रकार का भेदभाव नहीं किया गया था। लोकतंत्रीय देशों में उन्हें सभी अधिकार प्राप्त है। वर्तमान में स्त्री शिक्षा का महत्व बहुत अधिक है। वे आज किसी भी प्रकार की शिक्षा प्राप्त करने के समान अवसर प्रदान करने के लिए प्रयत्नशील हैं।

वैदिक कालीन शिक्षा धर्म प्रधान थी। उस काल में धर्म, नीति शास्त्र, साहित्य, भाषा पाठ्यचर्या के आवश्यक विषय थे और शिक्षा के क्षेत्र में इन पर सबसे अधिक बल दिया जाता था। विद्यार्थी की सबसे अधिक शक्ति धर्म के कार्य और धर्म ग्रंथों के अध्ययन में व्यय होती थी।[20] यही कारण है कि हमारा देश जहां एक और धार्मिक रूप से बढ़ गया था वहीं दूसरी ओर भौतिक रूप से पिछड़ गया है, यूँ आज हम आध्यात्मिक विकास के स्थान पर भौतिक विकास के लिए अधिक प्रयत्नशील है। पर आवश्यकता इस बात की है कि मनुष्य के सामाजिक, प्राकृतिक, आध्यात्मिक तीनों पक्षों के विकास पर पूर्ण रूप से बल दिया जाए। गुरुकुल की शिक्षा में शारीरिक श्रम के प्रति हेय दृष्टि दिखाई देती है जबकि गुरुकुल के छात्र अपने कार्य स्वयं करते थे परन्तु शिक्षा प्राप्ति के बाद शारीरिक श्रम का कोई विशेष कार्य नहीं रहता था।[21] वस्तुत: उच्च वर्ग के छात्रों तक शिक्षा के सीमित रहने के कारण उनमें शारीरिक श्रम के प्रति हेय दृष्टि का भाव सदैव बना रहता था। गुरुकुल शिक्षा के आरम्भ में नए विचारों का आदर किया जाता था। परन्तु शिक्षा धर्म पर केन्द्रित हो गई, जिससे स्वतंत्र विचारों का अभाव हो गया। धार्मिक ग्रंथों में लिखी गई बातों पर विश्वास करना कठिन हो गया। इस कारण अंधविश्वासों तथा रूढ़िवादिता का उदय हुआ जो समाज की उन्नति के लिए हानिकारक बन गया। ब्राह्मणों ने जब शिक्षा को व्यवसाय का रूप दिया और उस पर अपना आधिपत्य कायम करने के बाद

उन्होंने शिक्षा को धर्म से जोड़ते हुए उसे और अधिक जटिल बना दिया।[22] जनसामान्य की वैदिक धर्म के प्रति बढ़ती हुई अरूचि के फलस्वरूप नए धर्मों का उदय हुआ। जो ब्राह्मण वैदिक शिक्षा से जुड़े हुए थे, उन्होंने इन नए धर्मों का खुलकर विरोध किया। इस प्रकार संस्कृत भाषा और कर्मकाण्ड पर केन्द्रित गुरुकुल शिक्षा आम जनता के लिए अर्थहीन हो गई। ऊपर लिखे दोषों के आधार पर देखा जा सकता है कि वैदिक काल की शिक्षा समाज की आवश्यकता और परिस्थिति के अनुकूल न हो सकी और धीरे-धीरे पूर्णतया समाप्त हो गई। अगर इन दोषों को दूर करके उसमें सुधार किया जाता तो वर्तमान स्थिति में गुरुकुलीय शिक्षा का एक नए रूप में जन्म होता।

निष्कर्ष

प्रस्तुत शोध पत्र के विश्लेषण के आधार पर यह कहा जा सकता है कि गुरुकुल कांगड़ी और प्राचीन भारतीय गुरुकुल शिक्षा पद्धति केवल शिक्षण संस्थाएँ नहीं थीं, बल्कि वे औपनिवेशिक काल में भारतीय अस्मिता और सांस्कृतिक पुनर्जागरण के सशक्त माध्यम थे। स्वामी श्रद्धानंद और आर्य समाज का यह प्रयास मैकाले की शिक्षा पद्धति के बरक्स एक ऐसा 'स्वदेशी' विकल्प खड़ा करना था, जो न केवल मष्तिष्क को शिक्षित करे, बल्कि आत्मा और चरित्र का भी निर्माण करे। गुण-दोष विवेचन से यह स्पष्ट होता है कि वैदिक गुरुकुल प्रणाली अपने मूल स्वरूप में चरित्र निर्माण, अनुशासन, गुरु-शिष्य की पवित्र परंपरा और 'विद्यादान' (नि:शुल्क शिक्षा) के आदर्शों पर आधारित थी। इसने शिक्षा को व्यवसाय बनने से रोका और उसे सेवा व साधना का रूप दिया। प्रकृति के सानिध्य में सर्वांगीण विकास की अवधारणा आज के तनावपूर्ण और प्रतिस्पर्धी शैक्षिक वातावरण के लिए एक आदर्श मॉडल प्रस्तुत करती है। तथापि, इस प्रणाली की सीमाओं की अनदेखी नहीं की जा सकती। उत्तर वैदिक काल में पनपी सामाजिक संकीर्णता, स्त्री और शूद्रों की शिक्षा से वंचना, और रटंत विद्या पर अत्यधिक जोर इसके पतन का कारण बने। आधुनिक लोकतांत्रिक मूल्यों के संदर्भ में, शिक्षा का अधिकार किसी विशिष्ट वर्ग या वर्ण तक सीमित नहीं रखा जा सकता, और न ही वैज्ञानिक व मनोवैज्ञानिक दृष्टिकोण की उपेक्षा की जा सकती है। अत: वर्तमान परिदृश्य में, हमें 'परंपरा और आधुनिकता' के बीच संघर्ष के बजाय 'समन्वय' का मार्ग अपनाना होगा। गुरुकुल पद्धति के शाश्वत मूल्यों—जैसे नैतिक शिक्षा, सादा जीवन, और गुरु-शिष्य आत्मीयता—को आधुनिक शिक्षा की वैज्ञानिकता, तार्किकता और समावेशी ढांचे के साथ एकीकृत करने की आवश्यकता है। तभी हम एक ऐसी शिक्षा व्यवस्था का निर्माण कर सकेंगे जो तकनीकी रूप से सक्षम होने के साथ-साथ मानवीय मूल्यों से भी परिपूर्ण हो। संक्षेप में, गुरुकुल कांगड़ी का शैक्षिक प्रयोग हमें यह सिखाता है कि जड़ें परंपरा में हों, लेकिन दृष्टि भविष्य पर होनी चाहिए।

असिस्टेंट प्रोफेसर (गेस्ट)
डॉ. बी.आर. अम्बेडकर यूनिवर्सिटी दिल्ली

सन्दर्भ सूची

1. P.K., Johari, Foundation of Education, Anmol Publication Private Ltd., New Delhi, 2008, p. 134
2. Ibid, p. 134-135
3. A.S., Altekar, Education in Ancient India, Nand Kishore and Brothers, Banaras, 1934, p. 62
4. Ibid, p. 62-64
5. Swami, Atmananda, Vedic teachings and ideals, Kishav Publication, Mathura, 1881, p. 18
6. Chamupati, Glimpses of Dayanand, Jahangir Publication, Lahore, 1937, p. 24-25
7. किरन, सिंह, प्राचीन भारतीय शिक्षा व्यवस्था, शिवांक प्रकाशन, दिल्ली, 2009, पृ. 38
8. Chamupati, The Gurukul University, Jahangir Publication, Kangri, 1937, p. 80-81
9. Ibid, p. 81-83
10. Vishwanath Prasad, Verma, Swami Shraddhanand: Modern Indian Political thought, Lakshmi Narain Aggarwal Publication, 1961, p. 68
11. Ibid, p. 44-45
12. ज्ञानप्रकाश, शास्त्री, गुरुकुल शिक्षा दर्शन, परिमल पब्लिकेशन्स, शक्ति नगर, दिल्ली, 2003, पृ. 103
13. L.C. Mehra, Arya Samaj as an Educational

Movement, Ph.D. Dissertation, California, 1925, p. 79-81
14. Inder, Vidyavachaspati, My Father Swami Shraddhanand, Swami Shraddhanand Publishing Centre, 2012, p. 52
15. Ibid, p. 52-53
16. P.K., Johari, Foundation of Education, Anmol Publication Private Limited, New Delhi, 2008, p. 140
17. A.S., Altekar, Education in Ancient India, Nand Kishor and Brothers, Banaras, 1934, p. 74
18. Ibid, p. 75-76
19. Madhu, Kishwar, Arya Samaj and Women's Education Kavya Mahavidyalay, Jalandhar, p. 20
20. किरन, सिंह, प्राचीन भारतीय शिक्षा व्यवस्था, शिवांक प्रकाशन, दिल्ली, 2009, पृ. 53
21. वही, पृ. 54-55
22. Chamupati, Glimpses of Dayanand, Jahangir Publication, Lahore, 1937, p. 91

वाक्सुधा पब्लिकेशन की प्रस्तुति

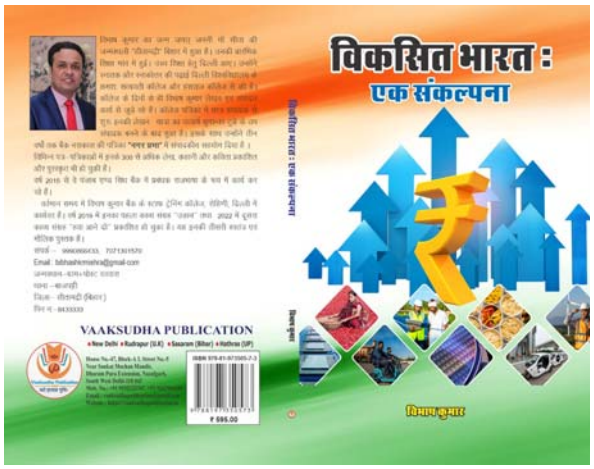

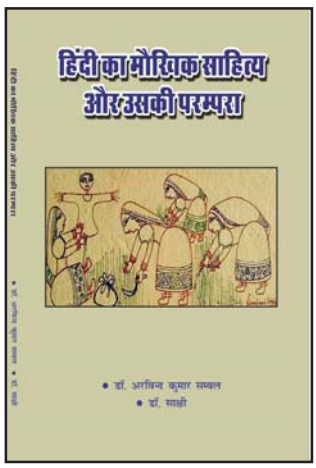

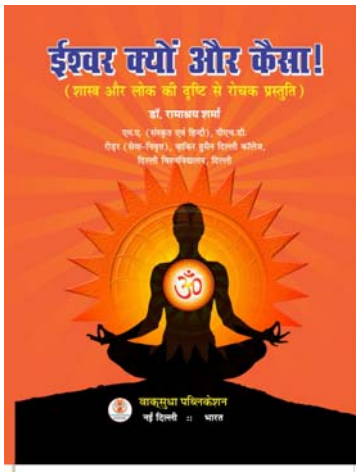

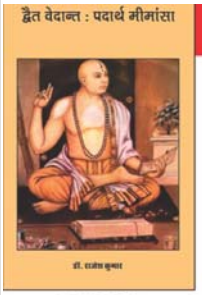

₹ 695.00
डॉ. राजेश कुमार

₹ 295.00
विभाष कुमार

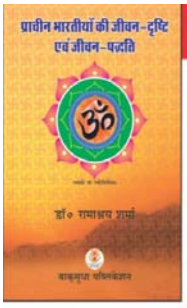

₹ 2195.00
डॉ० रामाश्रय शर्मा

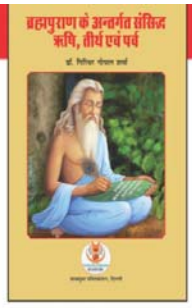

₹ 595.00
डॉ. गिरिधर गोपाल शर्मा

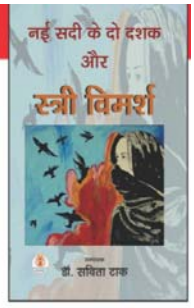

₹ 395.00
डॉ. सविता टाक

₹ 649.00
डॉ. प्रमोद कुमार

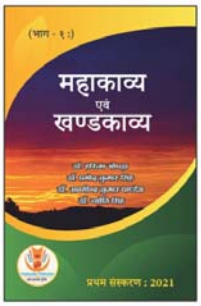

₹ 350.00
डॉ. प्रमोद कुमार

₹ 275.00
डॉ. प्रमोद कुमार

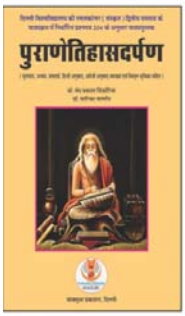

₹ 395.00
प्रो. वेद प्रकाश डिंडोरिया

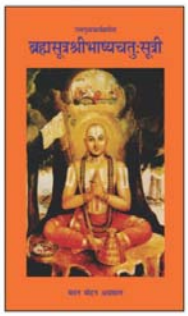

₹ 3000.00
मदन मोहन अग्रवाल

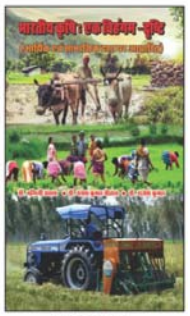

₹ 295.00
डॉ. रूपेश कुमार चौहान

VAAKSUDHA PUBLICATION
New Delhi, Rudrapur (UK), Sasaram (Bihar), Hathras (UP)
House No.-47, Block-A3, Street No.-5, Near Sankat Mochan Mandir,
Dharam Pura Extension, Nazafgarh, South West Delhi-110043
Email : vaaksudhapublication@gmail.com Website : https://vaaksudhapublication.com
Mobile No. : +919555222747, +919267944100

रामचरिमानस के राम

आदित्य चतुर्वेदी

प्रस्तावना

गोस्वामी तुलसीदास कृत रामचरितमानस भारतीय काव्य-परंपरा में एक ऐसा ग्रंथ है, जिसमें राम का स्वरूप बहुआयामी, दार्शनिक और मानव सांस्कृतिक दोनों स्तरों पर व्यक्त होता है। प्रश्न यह है कि तुलसीदास के राम क्या वे ईश्वर हैं या मनुष्य? इस प्रश्न का उत्तर एकरेखीय नहीं, बल्कि तुलसी-दृष्टि के समन्वयवादी स्वरूप को समझने में निहित है। मानस में राम निराकार ब्रह्म का साकार रूप भी हैं और लोकजीवन में चलने वाले एक आदर्श मानव भी। यह दोहरी स्थिति ही मानस के राम को सर्वजनस्वीकार्य बनाती है। 'श्रीरामचरितमानस' लोक मानस का सच्चा प्रतिनिधि है। उसमें लोक संस्कृति की झलक स्पष्ट रूप से दिखाई पड़ती है। सामाजिक रूप से, राजनैतिक रूप से या फिर धर्म की द्वाष्ट से तुलसी का लोकहितकारी रूप हमें उनकी रचनाओं में स्पष्ट रूप से दिखाई पड़ता है। तुलसी ने जिस कथा को अपनाया वह शिव जी के मस्तिष्क से उत्पन्न हुई। भारतीय साहित्य को शिव पार्वती की अनेक कथाओं का सूत्रधार बनाया गया है। लोककथाओं आदि में भी शिव गौरा/पार्वती की चर्चा अधिक आती है। कथा सरित्सागर में भी कथा का सूत्रधार शिव जी को ही बनाया गया है। महाकवि तुलसीदास 'श्री रामचरितमानस' में लिखते हैं कि किस प्रकार रामचरित का उद्‌गम सर्वप्रथम शिव द्वारा होता है, जिसे वे माता पार्वती को सुनाते हैं—

संभु किन्ह यह चरित सुहावा।
बहुरि कृपा करि उमहिं सुनावा॥
सोई सिव कागभुसुंडिहि दीन्हा।
राम भगत अधिकारी चिन्हा॥[1]

गोस्वामी जी द्वारा रचित 'रामचरितमानस' के भक्तिभाव के साधकों का केवल भाव ही पुष्ट नहीं करती बल्कि उनके आध्यात्मिक, सामाजिक तथा व्यवहारिक जीवन में भी उनका मार्गदर्शन करती है। एक सम्पूर्ण व्यावहारिक जीवन के दर्शन को समेटे हुए इस ग्रंथ ने संसारी जीवों के व्यक्तिगत, पारिवारिक, सामाजिक और राजनैतिक जीवन की भिन्न परिस्थितियों के लिए आदर्श स्थापित किया है। तुलसीदास जी ने जीवन के पहलुओं को बड़े ही मार्मिक ढंग से उकेरा है—चाहे वह परिवार के संबन्धों की गरिमा-मर्यादा हो या फिर समाज के विभिन्न वर्गों के परस्पर सम्बन्धों की मर्यादा हो या राजधर्म सम्बन्धी राजा के कर्तव्य हो। रामचरितमानस में निरूपित जीवन व्यवस्था एक आदर्श समाज एवं राज्य की कोरी कल्पना या अवधारणा मात्र न होकर पूर्ण रूप से अनुभवजन्य और व्यवहारिक है। 'रामचरितमानस' में व्याख्यायित जीवन-व्यवस्था, आदर्श परिवार, समाज, आदर्श राज्य की कल्पना, सिर्फ परिकल्पना मात्र न होकर अनुभवगम्य एवं व्यावहारिक है। तुलसी के लोक और शास्त्र के समन्वय के फलस्वरूप 'श्री रामचरित-मानस' लोकहितकारी रूप में खड़ा हुआ है।

महाकवि तुलसीदास प्रारम्भ से ही राम का ब्रह्मत्व सिद्ध करने का पूर्ण और सफल प्रयास करते हैं। बालकाण्ड का पूर्वाद्ध (आरंभिक भाग) मूल कथा से बाहर का होकर भी कथा का अंश ही प्रतीत होता है। तुलसी राम की वन्दना स्वयं तो करते हैं। वे देवताओं (ब्रह्मा), महादेव (शंकर) से भी राम की स्तुति करवाते हैं। तुलसी जिस दौर में और जिस जगह (बनारस-चित्रकूट) रामचरितमानस की रचना कर रहे थे, वहाँ वे शैव धर्म को मानने वाले लोगों से घिरे थे। वे यही

कारण रहा होगा कि वे शैव-वैष्णव समन्वय का पूरे ग्रन्थ में बहुत बारीकी से ध्यान दिया है। शिव रामकथा का आरम्भ करते हैं। तुलसी लेखक-कवियों की वन्दना के साथ-साथ संत-असंत, दुष्टों के साथ-साथ चौरासी लाख यौनियों तक की की वंदना करते है, क्योंकि उनके अनुसार समस्त जग ही 'सीया-राममय' है। तुलसीदास जी राम के निर्गुण-सगुण विवाद को साधते हुए कहते हैं—'अगुनहि सगुनहिं नहिं कछु भेदा' और इस विवाद से इतर 'राम' नाम पर अधिक महत्त्व देते हैं।

रामचरितमानस के राम - ईश्वर या मनुष्य

मानस में राम के मानवीय एवं ईश्वरीय चरित्र के निर्माण में शिव-सती संवाद का महत्वपूर्ण स्थान है। याज्ञवल्क्य-भारद्वाज संवाद का आरम्भ इस शंका से होता है कि प्रभु राम जो शिव द्वारा भजे जाते थे और दशरथ पुत्र राम जो स्त्री विरह में दु:खी थे क्या वे दो राम हैं या एक ही राम? इस पर याज्ञवल्क्य उन्हें वह शिव-पार्वती संवाद बताते हैं, जिसमें शिव-पार्वती के संदेह का निवारण करते हैं।

मैं एक राम अवधेस कुमारा।
तिन्ह कर चरित विदित संसारा॥
नारि बिरहँ दुख लहेउ अपारा।
भयउ रोषु रन शवनु मारा॥[2]
प्रभु सोइ राम कि अपर कोउ जाहि जपत त्रिपुरारि।
सत्यधाम सर्वग्य तुम्ह कहहु बिबेक बिचारी॥[3]

मानस में शिव जी माता पार्वती से काक भुशुण्डि-गरुड़ संवाद का वर्णन करते हैं। जब राम को 'नागपाश' में बँधा देख गरुड़ उनके ईश्वरत्व पर सन्देह करते हैं तथा काक भुशुण्डि अपनी बुद्धि-कुशल अनुसार उस शंका का समाधान करते हैं। मानस का आदि संवाद तुलसीदास जी और उनके गुरू के संवाद से आरम्भ होता है। तीनों संवाद में शिव, याज्ञवल्क्य तथा काक भुशुण्डि ज्ञानशील वक्ता तथा पार्वती, भारद्वाज, एवं गरूड़ शंकालु चरित्र के रूप में सामने आते हैं। तुलसी, राम की कथा को अपनी कथा न कहकर शिव के मुख से निकला हुआ बताते हैं। जिसे याज्ञवल्क्य, कागभुशुण्डि जैसे विद्वान् प्रचारित-प्रसारित कर रहे हैं। तुलसी खुद कोई श्रेय नहीं लेना चाहते वे खुद को निमित्त मात्र ही बतलाते हैं अंत: कथा के शुरुआत में ही यह ज्ञात हो जाता है कि रामकथा कोई साधारण मनुष्य की गाथा नहीं है वरन् देवों के देव कहे जाने वाले महादेव के मुख से निकली हुई ईश्वरीय चमत्कार की कथा है। इम तरह तुलसी रामचरितमानस का आधार ही ईश्वर के सहारे रचते हैं। कि वे इस सन्दर्भ में पाठकों को अगाह करते हैं कि

जेहि यह कथा सुनि नहिं होई।
जनि आचरजु को सुनि सौंई॥
कथा अलौकिक सुनहिं जे ग्यानि।
नहिं आचरजु करहिं अस जानी॥[4]

सभी राम कथाओं में राम के जन्म का प्रमुख उद्देश्य पापों का संहार कर धर्म की स्थापना करना तथा रावण वध है। मानस के राम का उद्देश्य भी यही है। मानस के राम मानवीय लीला करते हुए ईश्वर हैं। वे साधारण मनुष्यों की तरह रोते हैं, दुख सहते हैं, पारिवारिक षड्यन्त्र का शिकार होते हैं लेकिन महाकवि तुलसीदास जी यह कहकर राम का मनुष्यत्व खत्म कर देते हैं कि राम तो मनुष्य मात्र होने की लीला कर रहे हैं जबकि वास्तविकता यह है कि वे ही (राम) नारायण हैं जगतपिता, प्रजापालक परमेश्वर विष्णु हैं। रामचरितमानस के राम शील, शक्ति और सौन्दर्य के प्रतीक हैं। मानस में हमें बहुत से प्रसंग मिलते हैं जो राम के ईश्वरीय रूप को पाठकों के सामने उभार देते हैं।

तुलसी इस पूरी कथा को ही अलौकिक कह देते हैं अर्थात् विशिष्ट लोक या परलोक की कथा। राम कथा के वर्णन में तुलसी पाठकों के प्रति सचेत है तभी तो वे कहते हैं—

नाना भाँति राम अवतारा।
रामायन सत कोटि अपारा॥[5]

तुलसी राम के जन्म के सम्बन्ध में अवतार शब्द का जिक्र बार-बार करते हैं जो इस कथा के मूल नायक राम को श्रीराम और भगवान राम कहने के लिए पर्याप्त उदाहरणों से युक्त हैं। राम जन्म के निमित्त को ईश्वरीय कारण (धर्म की प्रतिस्थापना, रावण के वध जो अजेय था) को जोड़कर देखा जा सकता है। राम जन्म के अवसर पर तुलसी लिखते हैं—

तेहि अवसर भंजन महीभारा। हरि रघुवंश लीन्ह अवतारा॥[6]

अर्थात् उस अवसर पर (नवमी तिथि, चैत्र मास) रखा पृथ्वी का भार हरण करने के लिए प्रभु ने रघुकुल वंश में अवतार लिया है।

सनातन धर्म में शिव को भगवान, ईश्वर की संज्ञा प्राप्त हैं। मानस में ऐसे कई प्रसंग आते हैं जहाँ शिव जी, राम को ईश्वर कहकर पुकारते हैं, उनको नमस्कार करते हैं, उनके दर्शन के लिए साधारण मनुष्य की तरह व्याकुल नजर आते हैं। इन प्रसंगों से श्री राम के अराध्य राम, ईश्वर राम होने का

संकेत तुलसी और प्रबल कर देते हैं। पाठकों के मन में राम के ईश्वरत्व के सम्बन्ध में सन्देह न हो इसलिए गोस्वामी जी शिव-सती संवाद के अंतर्गत सती के द्वारा राम के ईश्वरत्व पर सवाल उठाते हैं जिसे श्री राम के द्वारा ही इस शंका का समाधान करते हैं। माता सती कहती हैं—

ब्रह्म जो व्यापक बिरज अज अकल अनीह अभेद ।
सो कि देह धरि होइ नर जाहि न जानत वेद॥[7]

सती राम के अवतरित होने पर ही सन्देह नहीं करती वह राम के द्वारा माता सीता के विकल होकर खोजने पर भी प्रश्न उठाती है—

विष्नु जो सुर हित नरतनु धारी।
मोउ सर्वग्य जया त्रिपुरारी॥
खोजइ सो अग्य इव नारी।
ग्यानधाम श्रीपति असुरारी॥[8]

सीता का रूप धारण कर वह राम के ईश्वरत्व की परीक्षा लेने जाती हैं। त्रिकालदर्शी राम ने सब जान लिया और उन्हें प्रणाम कर शिव जी का समाचार पूछा जिससे सती लज्जित हो गयी। राम ने माया से सती का भ्रम दूर कर दिया।

पार्वती के पूछने पर शिव राम को को परमात्मा, ब्रह्म कहकर उनका परिचय देते हैं।

राम सो परमात्मा भवानी।
तहँ भ्रम भति अबिहित तव बानी॥[9]

राम को ब्रह्म, चिन्मयस्वरूप (ज्ञानस्वरूप), अविनाशी मान कर पार्वती शिव से राम के अवतार अर्थात् मनुष्य शरीर धारण करने को कारण पूछती हैं—

नाथ घरेउ नरतनु केहि हेतु।[10]

अत: उपरोक्त प्रसंग से यह तो सिद्ध होता है कि राम कोई साधारण मनुष्य नहीं वरन् अवतारी पुरुष हैं जो मानुषिक लीला रच रहे हैं।

सीता माता की खोज में निकले वानर जब निराश और थक कर सागर किनारे बैठ जाते हैं तो जाम्बान उनको हिम्मत बंधाते हुए अंगद से कहता है—

तात राम कहुँ नर जनि मान्छु।
निर्गुण ब्रहम अजित अज जानहु॥[11]

अर्थात् हे पुत्र, आप राम साधारण मनुष्य मत मानो उन्हें निर्गुण ब्रह्म, अजेय और अजन्म समझो।

'निज इच्छा प्रभु अवतरइ' कहकर तुलसी इस बात को और पुष्ट कर देते हैं। सम्पाति गिद्ध (जटायु का भाई) के इस वचन से यह बात पूर्णत: सिद्ध हो जाती है कि राम के अवतार के विषय में उन्हें भी बहुत पहले से ज्ञात था और स्वयं उनके बताए प्रसंग अनुसार राम ही साक्षात परब्रह्म हैं—

त्रेता ब्रहम मनुज तनु धरिही।
तासु नारि निसिचर पति हरिही॥[12]

महाकवि तुलसीदास ने रामचरितमानस में राम को सामान्य जन-मन का नायक तो बनाया पर उस नायक की स्थापना करने में वे राम के देवत्व को त्याग नहीं पाए। अत: रामचरित मानस के राम ही ब्रह्म हैं, परमपिता, जगत्पिता, परमेश्वर, जगदीश्वर, सृष्टिकर्ता है। वही विधाता, मर्यादापालक श्री हरि विष्णु ही श्री राम हैं। लंकाकाण्ड में रावण वध के उपरांत तुलसीदास जी राम के ईश्वरीय रूप को और अधिक स्पष्ट रूप से परिलक्षित करते हैं। राम का ईश्वरीय रूप और निखर के पाठकों के सामने आता है।

वैसे तो सम्पूर्ण रामचरितमानस में राम का ईश्वरीय पक्ष हावी रहा है और गोस्वामी जी भी इस बात को लेकर सचेत नजर आते हैं। तथापि कहीं-कहीं कुछ ऐसे प्रसंग भी रामचरितमानस में वर्णित हैं, जहाँ यह भेद कर पाना मुश्किल है कि. राम क्या वाकई में ईश्वर हैं या एक साधारण मनुष्य। रामचरितमानस के दोहे चौपाईयों की व्याख्या में से एक पंक्ति 'राम चरित्र कर रहे हैं' को अगर इसको हटा दिया जाए तो, राम का मनुष्यत्व उभर कर सामने आ जाता है। रामचरितमानस में राम का मनुष्य रूप जो थोड़ा बहुत दिखाई भी देता है तो, वह राम के जन्म के बाद। राम जन्म के पूर्व प्रसंगो में तुलसीदास जी ने राम को श्रीहरि, विष्णु, प्रभु, स्वामी कहकर ही पुकारा है और एक ईश्वर के रूप में उनकी अराधना की है।

राम जन्म के बाद भी राम का मनुष्य रूप ईश्वरीय चोला ओढ़े हुए नजर आता है, राम को मानव या मनुष्य न कहकर ईश-मानव कहा जा सकता है। यद्यपि कुछ प्रसंग ऐसे हैं जहाँ राम ईश्वरीय गरिमा और उपादानों से दूर सामान्य मनुष्य होते हैं वे सामान्य बालकों की तरह हठ करते हैं, दोस्तों के साथ खेलते हैं-

भोजन करत बोल जब राजा।
नहि आवत ताज वाल समाजा।[13]

राम के चरित्र वर्णन में, राम के रूप से प्रभावित गोस्वामी जी भी कभी-कभी राम के ईश्वरत्व को भूल जाते हैं और उन्हें दशरथनन्दन, कोसलराज और राजकुँवर कहकर सम्बोधित करते हैं-

राजत राज समाज महुँ कोसलराज किसोर।
सुंदर स्यामल गौर तन बिस्व बिलोचन चोर॥[14]

ऐसे ही एक अन्य प्रसंग में सीता स्वयंवर के दौरान ही तुलसीदास जी कहते हैं -

सिय विआहबि राम गरब दूरि करि नृपन्ह के।
जीति को सक संग्राम दसरथ के रन बाँकुरे॥[15]

राजाओं के गर्व को दूर करके श्री रामचन्द्र जी सीता को ब्याहेंगे (रही युद्ध की बात तो) महाराज दशरथ के बाँके पुत्र को रण में कौन जीत सकता है। जब परशुराम अत्यन्त क्रोधित होते हैं तो, राम उन्हें अपने ईश्वरत्व का बोध कराते हैं। गोस्वामी जी उत्तर भरत के ही नहीं वरन् सम्पूर्ण भारत के सामने आदर्श का ऐसा प्रतिमान गढ़ते हैं, जो पीढ़ियों से आज तक चला आ रहा है कि, हर सुंदर दूल्हा राम और दुल्हन सीता के रूप में मानी जाती है।

राम स्वरिस बरु दुलहिनि सीता।
समधी दसरयु जनक पुनीता॥[16]

राम का बड़ों की आज्ञा मानना, ऋषि-मुनियों की सेवा करना, भाईयों का सम्मान, दोस्तों के साथ मित्रवत् व्यवहार करना, सामान्य पुरुषों की तरह नीति की रक्षा करना, सीता को देखकर कामुक होना राम के मनुष्य होने की निशानी है। माताओं के सम्मुख पुत्र रूप में बाल-सुलभ चेष्टाएँ करना, शादी के बाद अयोध्या आने पर माताओं की चिंता कि किस प्रकार कोमल अंग वाले राम ने राक्षसों का संहार किया होगा? आदि प्रसंगों में राम का मनुष्यत्व उभर कर सामने आता है।

देखि स्याम मृदु मंजुल गाता।
कहहिं सप्तेम बचन सब माता॥
मारग जात भयावनि भारी।
केहि विधि तात तड़ष्का मारी॥

अर्थात् राम के कोमल अंगों को देखकर माताएँ सशंकित हैं कि राम ने ताड़का को कैसे मारा होगा? राम के ईश्वरत्व से अनजान सभी माताएँ राम को एक छोटा बालक मानती हुई सभी राक्षसों के वध को मुनियों एवं ईश्वर की कृपा बतलाती हैं। कौशल्या आदि माताएँ आश्चर्य में कहती कहती है—

सकल अमानुष करम तुम्हारे।
केवल कौसिक कृपाँ सुधारे॥[17]

दशरथ भी राम के अवतार से अनभिज्ञ हैं तभी से से राम से स्वयं पूछ बैठते हैं—

सुनि सनेह बस उठि नरनाहाँ। बैठारे रघुपति गहि बाहाँ।
सुनहु तात तुम्ह कहुँ मुनि कहहीं।
रामु चराचर नायक अहहीं॥[18]

दशरथ-राम संवाद में, माता कौशल्या राम संवाद में और सम्पूर्ण राम वन-गमन प्रसंग में मनुष्य रूप में राम का सामाजिक-पारिवारिक जीवन उभर कर सामने भाया है। जिस तरह एक पुरुष पलायन कर जीविकोपार्जन हेतु प्रवास करता है तो, वह अपने पड़ोसियों से घर तथा परिवार वालों की देखरेख करने की विनती करता है, उसी प्रकार जब राम वन जाते हैं तो अयोध्या की प्रजा से अपने माता-पिता और राज्य की देखभाल करने के लिए विनती करते हैं।

पुरजन परिजन सकल निहोरी।
तात सुनाएहु बिनती मोरी।[19]

सीता के विरह में राम एक सामान्य मनुष्य की भांति विकल दिखाई पड़ते हैं और प्रेम में संतप्त हो विलाप करते हैं। राम ऋतुओं को देखकर मनुष्यों की तरह काम पीड़ित जान पड़ते हैं। सम्पूर्ण रामचरितमानस में ऐसे प्रसंग बहुत कम दिखाई पड़ते हैं, जहाँ तुलसीदास ने राम के लिए नर या मनुष्य कहा या लिखा हो। यदि कहीं नर शब्द का प्रयोग हुआ भी है तो वह किसी पात्रानुकूल भाषा की वजह से ही। लंकाकांड में अंगद और रावण संवाद में रावण ने राम के लिए नर (मनुष्य) शब्द का प्रयोग किया है।

तेहिं रावन कहँ लघु कहासे नर कर करसि बखान॥[20]

निष्कर्ष

तुलसीदास के राम एक तरफ ईश्वर के अवतार हैं, वहीं दूसरी तरफ वे मानव-जीवन की ऊँचाइयों और संघर्षों को जीने वाले आदर्श पुरुष भी हैं। यही कारण है कि मानस के राम शास्त्र और जीवन दोनों में समान रूप से प्रतिष्ठित हैं। सबसे पहले, तुलसीदास राम को परमब्रह्म के रूप में स्वीकार करते हैं। बालकाण्ड में कवि उन्हें ''नाना चिदानंद रूप भगवाना'' कहकर संबोधित करते हैं। यह राम सृष्टि के नियंता, भक्तों के रक्षक और धर्म की स्थापना के लिए अवतार लेने वाले ईश्वर हैं। वे सर्वव्यापक, सर्वशक्तिमान और अनंत करुणा के सागर हैं। राम की यही दिव्यता भक्त-भावना का केंद्र बनती है, जो लाखों लोगों के हृदय में भक्ति और विश्वास की प्रेरणा जगाती है।

परंतु तुलसीदास का उद्देश्य केवल राम की ईश्वरीय महिमा का वर्णन करना नहीं था। वे राम को मनुष्य-जीवन का आदर्श बनाना चाहते थे एक ऐसा आदर्श जो जीवन के हर चरण में

मार्गदर्शन दे सके। इसलिए मानस में राम का चित्रण अत्यंत मानवीय, संवेदनशील और व्यवहारिक है। वे अपने पिता की आज्ञा का सम्मान करते हुए वनवास जाते हैं; यह उन्हें आदर्श पुत्र बनाता है। वनवास के कठिन प्रसंगों में वे धैर्य और सहनशीलता का परिचय देते हैं; यह उन्हें आदर्श मानव बनाता है। सीता-हरण के समय राम का शोक और व्याकुलता उनकी मनुष्यता को पूर्ण रूप से प्रकट करती है। यदि वे केवल ईश्वर होते, तो ऐसी मानवीय संवेदना संभव न होती। इसी प्रकार सुग्रीव, हनुमान, निषादराज, शबरी और वानरों के प्रति उनका स्नेह, समानता और विश्वास उन्हें एक मानवीय नेता के रूप में स्थापित करता है। वे जाति, वर्ग और सामाजिक स्थिति से ऊपर उठकर सबमें समान रूप से प्रेम और आदर देते हैं यह मानस की सामाजिक दृष्टि का श्रेष्ठ उदाहरण है।

इस प्रकार रामचरितमानस के राम दिव्यता और मानवता दोनों के अद्वितीय समन्वय हैं। वे ईश्वर भी हैं करुणा, सत्य, धर्म और शक्ति के प्रतीक; और मनुष्य भी हैं संवेदनशील, विनम्र, संघर्षशील और संबंधों की गरिमा को निभाने वाले। यही द्वैत-समन्वित स्वरूप राम को युग-युगांत तक प्रासंगिक बनाता है। निष्कर्षत:, मानस में राम का चरित्र भारतीय मनुष्य की नैतिक चेतना, सांस्कृतिक आदर्शों और आध्यात्मिक आकांक्षाओं का सम्मिलित प्रतीक है। राम वह आदर्श हैं, जहाँ ईश्वरत्व मानवता में और मानवता ईश्वरत्व में परिवर्तित हो जाती है। इसी कारण रामचरितमानस के राम न केवल धार्मिक आस्था का केंद्र हैं, बल्कि जीवन-संस्कार, नैतिकता और आदर्श मनुष्यता के शाश्वत प्रतीक भी हैं।

शोध छात्र, हिन्दी विभाग
दिल्ली विश्वविद्यालय, दिल्ली
ईमेल : ak.ac.jnu@gmail.com

सन्दर्भ सूची

1. 1/29/2
2. रा. मा./4-45-46
3. रा. मा./1-120-125
4. रा. मा./1/32/2
5. 1/32/3
6. 1/47/4
7. 1/50
8. 1/50/1
9. 1/118/3
10. 1/119/4
11. 4/25/6
12. 4/27/4
13. 1/202/3
14. 1/242
15. 1/245
16. 1/303/1
17. 1/336/3
18. 2/76/3
19. 2/251/1
20. 5/25

अजीत कुमार

शंकरदेव अवतरे कृत 'अभिनवकाव्यशास्त्र' में काव्यलक्षण : एक विमर्श

शोध-सार

'अभिनवकाव्यशास्त्रम्' बीसवीं शताब्दी के उत्तरार्ध में आधुनिक संस्कृत काव्यशास्त्र की एक महत्त्वपूर्ण और मौलिक कृति है। संस्कृत काव्यशास्त्र में काव्य-लक्षण का विवेचन लगभग दो सहस्राब्दियों की दीर्घ परंपरा का परिणाम है। इसी श्रृंखला में यह शोध-पत्र काव्य के स्वरूप को परिभाषित करने वाले प्रमुख आचार्यों और काव्य-संप्रदायों जैसे अलंकार, रीति, वक्रोक्ति, ध्वनि, और रस के मतों का आलोचनात्मक विश्लेषण प्रस्तुत करता है। प्रारंभ में, काव्य-लक्षण शब्द और अर्थ के सहभाव पर केंद्रित थे, किंतु समय के साथ यह चिंतन काव्य के आंतरिक तत्त्व (रस और ध्वनि) की ओर उन्मुख हुआ। इस विकास का चरमोत्कर्ष आचार्य मम्मट के समन्वयवादी लक्षण और पंडितराज जगन्नाथ के रमणीयता पर आधारित लक्षण में देखा जा सकता है। यह शोध काव्य-लक्षणों की व्यापकता और उनकी अंतर्निहित दार्शनिक गहराई को उजागर करता है।

कुञ्जीशब्द

संस्कृतकाव्य, काव्य लक्षण, अभिनवकाव्य, मम्मट, शंकरदेव अवतरे, विश्वनाथ, काव्यसंप्रदाय, वामन, रमणीयता।

प्रस्तावना

भारतीय काव्यशास्त्र में 'काव्य क्या है?' (काव्यस्य स्वरूपम् किम्?) यह मूल प्रश्न ही समस्त काव्यशास्त्रीय चिंतन का आधार रहा है। प्रत्येक आचार्य ने अपने विशिष्ट सिद्धांत या 'काव्य की आत्मा' माने गए तत्त्व के आधार पर काव्य को परिभाषित करने का प्रयास किया। यह लक्षण-परंपरा वस्तुतः काव्य के बाह्य आवरण (शब्दार्थ) से आरंभ होकर उसके अंतरंग (रस/ध्वनि) तक पहुँचने की वैचारिक यात्रा है।

काव्य-लक्षण की परिभाषा करते समय दो अनिवार्य शर्तें रही हैं :

1. **अव्याप्ति दोष-रहित :** लक्षण ऐसा हो जो किसी भी उत्कृष्ट काव्य को छोड़ न दे।

2. **अतिव्याप्ति दोष-रहित :** लक्षण ऐसा हो जो किसी भी अकाव्य (जैसे कि शास्त्र या विज्ञान ग्रंथ) को काव्य न मान ले।

संस्कृत काव्यशास्त्र में काव्य-लक्षणों का विकास प्रमुखतः **पाँच संप्रदायों** के सिद्धांतों के इर्द-गिर्द घूमता है।

अलंकार संप्रदाय और काव्य-लक्षण

संस्कृत काव्यशास्त्र की प्रारंभिक अवस्था में अलंकार को ही काव्य का प्राणतत्त्व माना गया।

आचार्य भामह (6वीं शताब्दी)

भामह ने काव्य-लक्षण का व्यवस्थित आरंभ किया।

शब्दार्थौ सहितौ काव्यम्[1]

(अर्थात्, शब्द और अर्थ का सहभाव ही काव्य है।)

⋆ **विश्लेषण :** यह लक्षण अत्यंत संक्षिप्त और व्यापक है, किंतु अतिव्याप्ति दोष से ग्रस्त है, क्योंकि शब्द और अर्थ का सहभाव तो सामान्य वार्तालाप और शास्त्रों में भी होता है। भामह ने इसे काव्य तभी माना जब उसमें वक्रता (अलंकार) हो।

आचार्य दण्डी (7वीं शताब्दी)

दण्डी ने शरीर को महत्त्व दिया और रीति या मार्ग (शैली)

को परिभाषित किया।

शरीरं तावदिष्टार्थ-व्यवच्छिन्ना पदावली[2]

(अर्थात्, इष्ट अर्थ को व्यक्त करने वाली पदावली ही काव्य का शरीर है।)

⋆ **विश्लेषण :** दण्डी ने 'शरीर' और 'आत्मा' को अलग किया। उन्होंने **अलंकार** को काव्य की शोभा का कारण (काव्यशोभाकरान् धर्मान् अलंकारान् प्रचक्षते) मानते हुए समस्त शोभा को अलंकार के अंतर्गत समाहित कर लिया, जिसमें गुण भी शामिल थे।

रीति संप्रदाय और गुण का महत्त्व

रीति संप्रदाय के प्रवर्तक आचार्य वामन ने काव्य की आत्मा को रीति माना और गुण को अलंकार से अधिक महत्त्वपूर्ण बताया।

आचार्य वामन (8वीं शताब्दी)

रीतिरात्मा काव्यस्य

(अर्थात्, विशिष्ट पद-रचना रीति है और रीति ही काव्य की आत्मा है।)

काव्य-लक्षण :

काव्य शोभायाः कर्तारो धर्मा गुणाः[3]

(काव्य की शोभा उत्पन्न करने वाले धर्म गुण हैं।)

विश्लेषण : वामन ने काव्य में गुणों (ओज, प्रसाद, माधुर्य) की अनिवार्यता पर बल दिया और रीति को इन गुणों के कारण **विशिष्टा** पद-रचना माना। यह चिंतन 'आत्मा' को पहचानने की दिशा में एक कदम था, किंतु यह भी केवल पद-संगठन (बाह्य संरचना) पर ही केंद्रित रहा।

वक्रोक्ति संप्रदायरू कथन की विशिष्टता

वक्रोक्ति संप्रदाय के प्रवर्तक आचार्य कुन्तक ने काव्य की आत्मा को वक्रोक्ति माना, जो कथन के चमत्कार को परिभाषित करता है।

आचार्य कुन्तक (10वीं शताब्दी)

वक्रोक्तिः काव्य जीवितम्

(अर्थात्, वक्रोक्ति ही काव्य का जीवन है।)

काव्य-लक्षण :

शब्दार्थौ सहितौ वक्रकवि व्यापार शालिनि
बन्धे व्यवस्थितौ काव्यं तद्विदाह्लाद कारिणि[4]

(अर्थात्, जहाँ कवि के वक्र व्यापार से युक्त रचना में शब्द और अर्थ सहित भाव से स्थित हों, और जो सहृदय को आह्लाद देने वाला हो, वही काव्य है।)

विश्लेषण : कुन्तक का लक्षण केवल शब्दार्थ को नहीं, बल्कि **कवि-व्यापार** (कथन की भंगिमा) और **सहृदय के आह्लाद** (आनंद) को भी काव्य का अनिवार्य अंग मानता है। यह ध्वनिवादियों से निकटता दर्शाता है, क्योंकि 'वक्र' शब्द में ध्वन्यर्थ की संभावना निहित है।

ध्वनि संप्रदाय और रस की प्रधानता

ध्वनि संप्रदाय ने काव्य को **रस** और **व्यंग्यार्थ** से जोड़कर उसे एक दार्शनिक गहराई प्रदान की।. **आचार्य आनंदवर्धन (9वीं शताब्दी)**

ध्वनि संप्रदाय के प्रतिष्ठापक आनंदवर्धन ने रस और व्यंग्यार्थ को ही काव्य की आत्मा घोषित किया।

काव्यस्यात्मा ध्वनिरिति बुधैर्यः समाम्नातपूर्वः

(अर्थात्, विद्वानों ने जिसे ध्वनि कहा है, वही काव्य की आत्मा है।)

विश्लेषण : आनंदवर्धन ने काव्य की परिभाषा सीधे तौर पर नहीं दी, किंतु उनके सिद्धांत ने स्पष्ट कर दिया कि **उत्तम काव्य** वह है जहाँ **वाच्यार्थ** की अपेक्षा **व्यंग्यार्थ** (रस, भाव, वस्तु या अलंकार की ध्वनि) अधिक चमत्कारपूर्ण हो। इस मत ने काव्य-लक्षण को **आंतरिक तत्त्व** पर केंद्रित कर दिया।

समन्वयवादी लक्षण : आचार्य मम्मट (11वीं शताब्दी)

आचार्य मम्मट ने अपने ग्रंथ 'काव्यप्रकाश' में पूर्ववर्ती सभी मतों का सार-संग्रह करते हुए एक **समन्वयवादी** और सर्वाधिक स्वीकृत लक्षण प्रस्तुत किया।

तददोषौ शब्दार्थौ सगुणौ अनलं ती पुनः क्वापि[5]

(अर्थात्, वह (काव्य) दोष-रहित, गुण-सहित और (साधारणतः) अलंकार-युक्त, किंतु कहीं-कहीं अलंकार-रहित भी, शब्द और अर्थ की समष्टि है।)

मम्मट के लक्षण की विशेषताएँ

1. शब्दार्थौ : भामह के मत को स्वीकार किया कि शब्द और अर्थ दोनों काव्य का शरीर हैं।

2. अदोषौ : काव्य में दोष-राहित की अनिवार्य शर्त रखी, जो काव्य की उत्कृष्टता (उत्तम काव्य) के लिए आवश्यक है।

3. सगुणौ : गुणों को रस का नित्य धर्म मानकर, उनकी उपस्थिति को अनिवार्य घोषित किया।

4. अनलंकृती पुनः क्वापि : यह सबसे क्रांतिकारी अंश था। 'कहीं-कहीं अलंकार रहित' कहकर मम्मट ने अलंकार

को अनिवार्य नहीं माना और स्पष्ट किया कि जहाँ **स्फुट अलंकार** न भी हो, पर **रस** या **ध्वनि** हो, वहाँ भी काव्यत्व विद्यमान रहता है। इस पद ने रस/ध्वनि की सर्वोच्चता को परोक्ष रूप से स्थापित किया।

⋆ **महत्त्व :** मम्मट का लक्षण प्राचीन और नवीन दोनों मतों का समन्वय करता है, और इसी कारण यह लगभग सात शताब्दियों तक **मानक परिभाषा** बना रहा।

रस-केंद्रित लक्षण : आचार्य विश्वनाथ (14वीं शताब्दी)

आचार्य विश्वनाथ ने मम्मट के लक्षण की आलोचना करते हुए **रस** को सीधे-सीधे काव्य की आत्मा माना और अत्यंत स्पष्ट लक्षण दिया।

वाक्यं रसात्मकं काव्यम्[6]

(अर्थात्, रसात्मक वाक्य ही काव्य है।)

विश्लेषण : विश्वनाथ ने मम्मट के श्अनलं ती पुनः क्वापिश की आलोचना की कि यदि कहीं रस नहीं है, तो वह काव्य नहीं हो सकता, चाहे उसमें कितने भी गुण और अलंकार हों। उनका यह लक्षण **रस-संप्रदाय** की अंतिम विजय और घोषणा थी, क्योंकि उन्होंने रस को छोड़कर काव्य के किसी भी बाह्य तत्त्व को अनिवार्य नहीं माना। उनके अनुसार, **रस ही काव्य का जीवन है।**

रमणीयतावादी लक्षण : पंडितराज जगन्नाथ (17वीं शताब्दी)

संस्कृत काव्यशास्त्र के अंतिम महान आचार्य पंडितराज जगन्नाथ ने अपने ग्रंथ 'रसगंगाधर' में काव्य-लक्षण को **रमणीयता** (सौंदर्य) के आधार पर पुनर्परिभाषित किया।

रमणीयार्थ प्रतिपादकः शब्दः काव्यम्[7]

(अर्थात्, रमणीय अर्थ का प्रतिपादन करने वाला शब्द ही काव्य है।)

विश्लेषण :

⋆ **रमणीयता :** 'रमणीय' से उनका तात्पर्य 'लोकोत्तर आह्लादजनक ज्ञान' उत्पन्न करने वाले अर्थ से था, जिसमें रस भी शामिल है।

⋆ **शब्द :** जगन्नाथ ने शब्द और अर्थ की समष्टि के स्थान पर केवल **शब्द** को ही काव्य माना, क्योंकि उनके अनुसार अर्थ की रमणीयता शब्द में ही समाहित होती है।

⋆ यह लक्षण सबसे अधिक **व्यापक** माना जाता है, क्योंकि इसमें रस, ध्वनि, अलंकार आदि सभी तत्त्व 'रमणीय अर्थ' के अंतर्गत समाहित हो जाते हैं।

शंकरदेव अवतरे

शब्दार्थौ सहितौ काव्यं चमत्कारपरायणौ
रसादीनां चमत्कारकोटिषु काव्यकोटयः॥[8]

शब्द और अर्थ के अविभाज्य रूप में चमत्कारी होने का नाम काव्य है। दूसरे शब्दों में चमत्कारात्मक शब्द और अर्थ के सहित-भाव को काव्य कहते हैं।

और क्योकि चमत्कार रस, भाव, वस्तु, अलंकार आदि की स्थिति के रूप में अपनी अनेक उच्चावच कोटियां या श्रेणियां रखता है, अतः काव्य की भी उत्तम, मध्यम और अधम (अवर) जैसी कोटियां स्थापित हो जाती हैं ।

विश्लेषण :

⋆ **शब्दार्थौ सहितौ काव्यं** - शब्द और अर्थ का एक साथ होना काव्य है, परंतु वे दोनों चमत्कार परायण (चमत्कार से युक्त या चमत्कार उत्पन्न करने वाले) होने चाहिए।

⋆ **चमत्कारपरायणौ** - रस आदि (रस, भाव, अलंकार आदि) की चमत्कार-कोटियों में (विभिन्न प्रकार के चमत्कारों में) ही

⋆ **काव्यकोटयः** काव्य की तीन प्रकार की कोटियाँ बतलाई उत्तम, मध्यम और अधम

केवल शब्द और अर्थ का योग ही काव्य नहीं है, उसमें चमत्कार (सहृदय को भावविभोर करने की शक्ति) होना अनिवार्य है। इस प्रकार इनके काव्य लक्षण से माना जा सकता है कि इन्होंने आचार्य भामह का अनुसरण किया तथा काव्य को तीन अवस्थाओं में विभाजित किया है।

उपसंहार

संस्कृत काव्यशास्त्र में काव्य-लक्षणों का विकास एक गतिशील, बौद्धिक प्रक्रिया को दर्शाता है, जो 'शब्दार्थौ सहितौ' (भामह) से आरंभ होकर **'शब्दार्थौ सहितौ काव्यं चमत्कारपरायणौ' (शंकरदेव)** तक पहुँचती है। **प्रारंभिक चरण** में **अलंकार** और **रीति** पर बल दिया गया, जो काव्य के **बाह्य** और **शारीरिक** तत्त्वों पर केंद्रित थे। **मध्य चरण** में **ध्वनि** और **रस** को काव्य की आत्मा घोषित किया गया (आनंदवर्धन, विश्वनाथ), जिससे चिंतन **आंतरिक तत्त्व** की ओर उन्मुख हुआ। **समन्वय चरण** में आचार्य मम्मट ने पूर्ववर्ती सभी मतों का सार-संग्रह करके एक सर्वमान्य और संतुलित परिभाषा दी, जो आज भी अत्यंत महत्त्वपूर्ण है। अंततः, यह निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि संस्कृत काव्यशास्त्र में

काव्य-लक्षण की खोज वस्तुत: **काव्य के आत्मा** (सारतत्त्व) की खोज थी, और अधिकांश आचार्यों ने यह स्वीकार किया कि वह आत्मा या तो **रस** है या **व्यंग्य/ध्वनि**। यह परंपरा भारतीय चिंतन की वह गहनता दर्शाती है, जहाँ किसी भी वस्तु को परिभाषित करने से पूर्व उसके मूल तत्त्व तक पहुँचने का प्रयास किया जाता है।

शोधार्थी, संस्कृत विभाग,
दिल्ली विश्वविद्यालय, दिल्ली -110007

सन्दर्भ सूची

1. काव्यलंकार 1.5
2. काव्यादर्श 1.9
3. काव्यालंकारसूत्र वृत्ति 1.7
4. वक्रोक्तिकाव्यजीवितम् 1.16
5. काव्यप्रकाश 1.3
6. साहित्यदर्पण 1.5
7. रसगङ्गाधर 1.8
8. अभिनवकाव्यशास्त्रम् सू. 1.28

राष्ट्र निर्माण में स्वामी विवेकानन्द का योगदान : उत्तर भारत के सन्दर्भ में

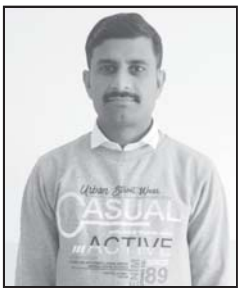

भूपेंद्र सिंह*

डॉ. चन्द्र शेखर**

सारांश : 19वीं शताब्दी के अंत और 20वीं शताब्दी के प्रारम्भ में भारतीय राष्ट्रीय चेतना और सामाजिक उत्थान में स्वामी विवेकानन्द (1863-1902) के दार्शनिक योगदान का एक आलोचनात्मक विश्लेषण है। यह शोध स्वामी जी के चिन्तन के मूल तत्त्वों (नव-वेदांत, मनुष्य निर्माणकारी शिक्षा, युवा शक्ति और सामाजिक समता) का अध्ययन करते हुए, विशेष रूप से उत्तर भारत (उत्तराखंड, उत्तर प्रदेश, बिहार, पंजाब, राजस्थान, आदि) के क्षेत्रों पर उनके विचारों के प्रत्यक्ष और अप्रत्यक्ष अनुप्रयोग को केंद्रित करता है। शोध का प्राथमिक उद्देश्य यह समझना है कि राजनीतिक पराधीनता और सामाजिक जड़ता के दौर में, विवेकानन्द के आध्यात्मिक राष्ट्रवाद ने किस प्रकार उत्तर भारत में राष्ट्रीय निर्माण की नींव रखी। यह अध्ययन उनके व्यावहारिक वेदांत के सिद्धांत, जिसमें मानव सेवा को ईश्वर की पूजा माना गया, के माध्यम से इस क्षेत्र की रूढ़िवादी धार्मिक मानसिकता में आए तार्किक बदलावों की जाँच करता है। साथ ही, यह विश्लेषण करता है कि उनके 'मनुष्य निर्माणकारी शिक्षा' के विचार ने उत्तर भारत के युवाओं में आत्मविश्वास, नैतिक चरित्र और निडरता को किस प्रकार प्रेरित किया। स्वामी विवेकानन्द का समग्र चिन्तन उत्तर भारत में राष्ट्र निर्माण के लिए एक समग्र दृष्टिकोण प्रदान करता है। यद्यपि उनके चिन्तन के आलोचक आर्थिक और राजनीतिक तात्कालिकता की अनदेखी का तर्क देते हैं, वर्तमान संदर्भ में भी उनके विचार युवा सशक्तिकरण, नैतिक नेतृत्व और समावेशी विकास के लिए अत्यधिक प्रासंगिक हैं। यह शोध स्थापित करता है कि विवेकानन्द का राष्ट्रवाद संकीर्ण नहीं, बल्कि विश्वव्यापी और मानवीय था, जिसने उत्तर भारत में राष्ट्रीय चेतना की नींव को मजबूत करने में निर्णायक भूमिका निभाई।

बीज शब्द : स्वामी विवेकानन्द, राष्ट्र निर्माण, नव-वेदांत, उत्तर भारत, व्यावहारिक वेदांत, रामकृष्ण मिशन, आध्यात्मिक राष्ट्रवाद, युवा शक्ति।

1. प्रस्तावना

स्वामी विवेकानन्द : भारतीय नवजागरण के स्तम्भ और आध्यात्मिक राष्ट्र निर्माता । स्वामी विवेकानन्द (1863-1902) भारतीय इतिहास के उस संक्रमण काल में अवतरित हुए जब देश राजनीतिक पराधीनता, सामाजिक रूढ़िवादिता और आध्यात्मिक जड़ता के गहरे दलदल में फंसा हुआ था। ऐसे समय में, विवेकानन्द केवल एक धार्मिक उपदेशक नहीं, बल्कि भारतीय नवजागरण के एक प्रमुख स्तम्भ और वैश्विक दार्शनिक के रूप में उभरे, जिनका मूल उद्देश्य भारत की आत्मा-उसकी गहन आध्यात्मिकता-को पुनर्जीवित कर राष्ट्र का समग्र पुनर्निर्माण करना था। उन्होंने दृढ़ता से यह प्रतिपादित किया कि भारत का पुनरुत्थान पश्चिम के भौतिकवाद की नकल से नहीं, बल्कि स्वयं की शक्ति और सनातन मूल्यों की पुनर्स्थापना से होगा। उनका राष्ट्रवाद, जिसे 'आध्यात्मिक राष्ट्रवाद' कहा जाता है, ''आध्यात्मिक राष्ट्रवाद एक अवधारणा है जो राष्ट्र को एक राजनीतिक इकाई के बजाय एक जीवंत, आध्यात्मिक सत्ता मानती है, जिसमें राष्ट्रवाद का आधार राजनीतिक या आर्थिक के बजाय नैतिक और आध्यात्मिक मूल्यों पर होता है। यह राष्ट्र की सेवा को एक आध्यात्मिक अनुशासन और आत्म-साक्षात्कार का मार्ग मानता है, जिसमें राष्ट्र को 'भारत माता' के रूप में पूजने और उसे पश्चिमी साम्राज्यवाद से बचाने पर जोर दिया जाता है। स्वामी विवेकानंद और महर्षि अरविंदो जैसे नेताओं ने इस विचार को बढ़ावा दिया, जो राष्ट्रवाद को आध्यात्मिकता और धर्म से जोड़ता था

ताकि लोगों को नैतिक रूप से सशक्त बनाया जा सके।''[1] किसी संकीर्ण राजनीतिक लक्ष्य तक सीमित नहीं था, बल्कि इसका आधार चरित्र निर्माण, आत्मविश्वास और मानव-सेवा था। विवेकानन्द ने वेदांत दर्शन को मठों और उपनिषदों की सीमा से निकालकर उसे व्यावहारिक वेदांत का स्वरूप दिया, जहाँ हर मनुष्य में निहित दिव्यता और असीम शक्ति को पहचानने पर जोर दिया गया।

विवेकानन्द का चिन्तन मुख्यत: चार स्तंभों पर टिका था : शिक्षा, युवा शक्ति, सामाजिक सुधार और नव-वेदांत। उन्होंने 'मनुष्य निर्माणकारी शिक्षा' की वकालत की, जो केवल सूचनाओं का संग्रह न हो, बल्कि व्यक्ति का चरित्र, आत्मविश्वास और नैतिक बल विकसित करे। उनके अनुसार, राष्ट्र का भविष्य उसके युवाओं की शक्ति और आत्म-विश्वास पर निर्भर करता है। उन्होंने भारत के युवाओं को संबोधित करते हुए कहा, ''उठो, जागो, और लक्ष्य प्राप्त होने तक रुको मत।''[2] यह आह्वान केवल आध्यात्मिक जागरण के लिए नहीं था, बल्कि सामाजिक और राष्ट्रीय जिम्मेदारी उठाने का भी एक प्रबल संदेश था। सामाजिक मोर्चे पर, उन्होंने जाति-भेद, छुआछूत और धार्मिक आडंबरों की कठोर आलोचना की। उन्होंने 'दरिद्र नारायण सेवा' का सिद्धांत दिया, जिसके तहत गरीबों और वंचितों की नि:स्वार्थ सेवा को ही ईश्वर की सच्ची पूजा माना गया। उनके शिकागो धर्म संसद (1893) में दिए गए भाषणों ने भारत की प्राचीन संस्कृति और दर्शन को पश्चिमी जगत में गौरवपूर्ण स्थान दिलाया, जिससे भारतीय लोगों में सदियों पुरानी हीनता की भावना समाप्त हुई और एक नया सांस्कृतिक आत्मविश्वास जागा। यह आत्मविश्वास ही आगे चलकर स्वतंत्रता संग्राम की वैचारिक नींव बना। स्वामी विवेकानन्द ने भारतीय राष्ट्र निर्माण की प्रक्रिया को एक नई दिशा दी। उन्होंने सिखाया कि राष्ट्र की सबसे बड़ी आवश्यकता भौतिक समृद्धि नहीं, बल्कि आत्मिक शक्ति है। उन्होंने भारत के लोगों को उनकी खोई हुई महानता की याद दिलाई, और उन्हें अपनी आध्यात्मिक विरासत पर गर्व करना सिखाया। उनके विचार आज भी भारत की राष्ट्रीय चेतना और युवा शक्ति के लिए प्रेरणा के अक्षय स्रोत हैं, जिनका उद्देश्य केवल भारत को स्वतंत्र बनाना नहीं, बल्कि उसे विश्व गुरु के रूप में पुनर्स्थापित करना था।

राष्ट्रीय निर्माण की अवधारणा

राष्ट्रीय निर्माण एक जटिल, बहुआयामी और सतत प्रक्रिया है जो किसी राज्य के भीतर रहने वाले विभिन्न सामाजिक-सांस्कृतिक समूहों को एकजुट करके एक साझा राष्ट्रीय पहचान, साझा उद्देश्य और साझा मूल्यों के प्रति प्रतिबद्धता उत्पन्न करती है। यह केवल राजनीतिक स्वतंत्रता प्राप्त करने या भौतिक बुनियादी ढाँचा खड़ा करने तक सीमित नहीं है, बल्कि यह मानसिक, सामाजिक और भावनात्मक एकीकरण की प्रक्रिया है।

1. परिभाषा और मूलभूत तत्त्व

राष्ट्रीय निर्माण की अवधारणा को सामान्यत: तीन मुख्य आयामों में समझा जाता है :

राजनीतिक एकीकरण : इसमें एक स्थायी और वैध राजनीतिक ढाँचा स्थापित करना शामिल है जो देश के सभी नागरिकों के प्रति जवाबदेह हो और उनकी भागीदारी सुनिश्चित करे। इसका उद्देश्य देश के हर कोने में केंद्र सरकार की संप्रभुता और प्रशासनिक पहुँच को स्थापित करना है, जिससे कानून का शासन कायम हो सके।

सामाजिक-सांस्कृतिक एकीकरण : किसी भी राष्ट्र में धर्म, भाषा, जाति, और क्षेत्रीयता के आधार पर विविधताएँ मौजूद होती हैं। राष्ट्रीय निर्माण का अर्थ इन विविधताओं को मिटाना नहीं, बल्कि उन्हें एक समावेशी राष्ट्रीय पहचान के दायरे में पिरोना है। यह प्रक्रिया नागरिकों में साझा इतिहास, साझा संस्कृति, और साझा भविष्य की भावना विकसित करती है, जिससे विभिन्न समूह स्वयं को राष्ट्र के अभिन्न अंग के रूप में देखते हैं।

आर्थिक सशक्तिकरण : राष्ट्रीय निर्माण तब तक अधूरा है जब तक कि सभी नागरिकों को न्यायपूर्ण और समान आर्थिक अवसर न मिलें। इसमें गरीबी उन्मूलन, संसाधनों का न्यायसंगत वितरण, समावेशी विकास और आर्थिक आत्मनिर्भरता शामिल है। इसका लक्ष्य एक ऐसा समाज बनाना है जहाँ क्षेत्रीय और वर्ग-आधारित असमानताएँ न्यूनतम हों।

2. स्वामी विवेकानन्द के संदर्भ में अवधारणा

स्वामी विवेकानन्द के चिन्तन में राष्ट्रीय निर्माण की अवधारणा पश्चिमी मॉडल से भिन्न थी। उनके लिए, यह प्रक्रिया बाहरी नहीं, बल्कि आंतरिक थी। विवेकानन्द के अनुसार, राष्ट्र निर्माण का आधार आत्मिक और चारित्रिक उत्थान है :

चरित्र निर्माण : उन्होंने जोर दिया कि राष्ट्र का निर्माण ईंटों और पत्थरों से नहीं, बल्कि महान चरित्र वाले मनुष्यों से होता

है। शिक्षा ऐसी होनी चाहिए जो मनुष्यों में आत्मविश्वास, आत्म-त्याग और नैतिक बल पैदा करे।

सामाजिक सुधार और समानता : विवेकानन्द ने माना कि जब तक समाज का एक बड़ा हिस्सा (विशेषकर गरीब और वंचित) उपेक्षित रहेगा, तब तक राष्ट्र मजबूत नहीं हो सकता। उन्होंने भेदभाव और अस्पृश्यता का विरोध किया और मानव सेवा को ही राष्ट्र सेवा का सर्वोच्च रूप बताया।

आत्मविश्वास और आध्यात्मिक जागरण : भारत की आत्मा उसकी आध्यात्मिकता में निहित है। विवेकानन्द ने भारतीयों को अपनी महान् सांस्कृतिक और आध्यात्मिक विरासत पर गर्व करना सिखाया, जिससे उनकी सदियों पुरानी हीनता की भावना समाप्त हो सके। उन्होंने देश की शक्ति को उसकी अध्यात्म-शक्ति से जोड़ा।

3. चुनौतियाँ और महत्व

राष्ट्रीय निर्माण की प्रक्रिया में जातिवाद, साम्प्रदायिकता, क्षेत्रवाद और आर्थिक असमानता जैसी कई चुनौतियाँ आती हैं। इन चुनौतियों पर काबू पाने के लिए एक मजबूत संस्थागत ढाँचे, सहिष्णुता और राष्ट्र के प्रति सामूहिक प्रतिबद्धता की आवश्यकता होती है। निष्कर्ष रूप में, राष्ट्रीय निर्माण एक निरंतर विकासवादी प्रयास है जिसका अंतिम लक्ष्य एक ऐसा मजबूत, एकीकृत और न्यायपूर्ण राष्ट्र बनाना है जहाँ सभी नागरिक एक-दूसरे के साथ समानता, स्वतंत्रता और बंधुत्व की भावना से रहें और राष्ट्र के विकास में सक्रिय भागीदार बनें। विवेकानन्द के दृष्टिकोण में, यह प्रक्रिया भौतिक उत्थान से पहले मानव और आध्यात्मिक उत्थान की मांग करती है, ''उन्होंने 1893 में शिकागो में हुई धर्मों की संसद में भाग लिया और अपनी विद्वत्तापूर्ण विवेचना द्वारा लोगों को बहुत प्रभावित किया।''[3] स्वामी विवेकानन्द के समग्र चिन्तन-जिसमें उनका नव-वेदांत आधारित धर्म दर्शन, मनुष्य निर्माणकारी शिक्षा का विचार, सामाजिक समानता पर जोर और युवाओं के सशक्तिकरण का आह्वान शामिल है-को भारतीय राष्ट्र निर्माण में किए गए विशिष्ट और बहुआयामी योगदान का गहन अध्ययन करना है। यह अध्ययन केवल सैद्धांतिक विश्लेषण तक सीमित नहीं रहेगा, बल्कि इसका प्राथमिक केंद्र-बिंदु उत्तर भारत के व्यापक भौगोलिक और सांस्कृतिक क्षेत्र (जिसमें उत्तराखंड, उत्तर प्रदेश, बिहार, पंजाब, राजस्थान, आदि राज्य शामिल हैं) पर उनके विचारों के प्रत्यक्ष और अप्रत्यक्ष प्रभाव को केंद्रित करना होगा।

चिन्तन के आयामों का आकलन

इस शोध का पहला उद्देश्य विवेकानन्द के चिन्तन के विभिन्न आयामों को समझना है :

धर्म एवं आध्यात्मिकता : यह अध्ययन करेगा कि कैसे उनके व्यावहारिक वेदांत ने उत्तर भारत के रूढ़िवादी धार्मिक माहौल में एक तार्किक और वैज्ञानिक दृष्टिकोण स्थापित किया। विशेष रूप से, 'हर जीव में शिव' के सिद्धांत ने कैसे सेवा भाव को धार्मिक अनुष्ठान से जोड़ा, और इस क्षेत्र में सामाजिक-धार्मिक आंदोलनों को प्रेरित किया।

शिक्षा और युवा शक्ति : शोध का लक्ष्य यह पता लगाना है कि विवेकानन्द की 'मनुष्य निर्माणकारी शिक्षा' की अवधारणा ने उत्तर भारत के शिक्षित और युवा वर्ग को किस प्रकार प्रेरित किया। यह विश्लेषण करेगा कि रामकृष्ण मिशन के केन्द्रों और उनके विचारों पर आधारित शैक्षिक संस्थानों ने इन क्षेत्रों में चरित्र निर्माण, राष्ट्रीय गौरव और आत्म-विश्वास के विकास में क्या भूमिका निभाई।

सामाजिक सुधार : शोध का एक महत्वपूर्ण उद्देश्य यह जांचना है कि उनके जाति-भेद, पुरोहितवाद और सामाजिक जड़ता के विरुद्ध किए गए प्रबल आह्वान का उत्तर भारत के सामाजिक सुधार आंदोलनों और नेताओं पर क्या प्रभाव पड़ा। यह जानने का प्रयास होगा कि कैसे उनके विचारों ने वंचितों और किसानों के उत्थान तथा महिला शिक्षा के क्षेत्र में कार्य करने वाले लोगों को वैचारिक आधार प्रदान किया।

उत्तर भारत पर विशिष्ट बल

शोध का सबसे महत्वपूर्ण उद्देश्य उत्तर भारत पर उनके प्रत्यक्ष और अप्रत्यक्ष प्रभावों का सूक्ष्म मूल्यांकन करना है :

प्रत्यक्ष प्रभाव : यह अध्ययन करेगा कि उत्तर भारत के किन स्थानों पर विवेकानन्द स्वयं गए (जैसे अल्मोड़ा, वाराणसी) और वहाँ उनके प्रवचनों का तात्कालिक प्रभाव क्या पड़ा। साथ ही, रामकृष्ण मिशन के मठों और आश्रमों (जैसे मायावती आश्रम, वाराणसी केंद्र) द्वारा किए गए सेवा कार्यों और जन-जागृति अभियानों का दस्तावेजीकरण करना, जो सीधे तौर पर उनके विचारों के अनुप्रयोग थे।

अप्रत्यक्ष प्रभाव : यह शोध उत्तर भारत के प्रमुख स्वतंत्रता सेनानियों, साहित्यकारों और बुद्धिजीवियों (जैसे लाला लाजपत राय, प्रेमचंद की राष्ट्रवादी सोच पर) पर विवेकानन्द के 'साहस, शक्ति और नि:स्वार्थ सेवा' के दर्शन के पड़े वैचारिक असर का पता लगाएगा। यह समझाएगा कि कैसे उनके विचारों

ने इस क्षेत्र के राष्ट्रवादी विमर्श और क्रांतिकारी आंदोलनों को परोक्ष रूप से ऊर्जा प्रदान की, जिससे यहाँ का राष्ट्रवाद केवल राजनीतिक नहीं, बल्कि आध्यात्मिक और सांस्कृतिक आधार पर भी मजबूत हुआ। इस शोध का उद्देश्य विवेकानन्द के विश्वव्यापी चिन्तन को उत्तर भारत के क्षेत्रीय संदर्भ में उतारकर, यह सिद्ध करना है कि उनके दर्शन ने इस क्षेत्र में आत्म-विश्वास, एकता और राष्ट्रीय चेतना की नींव को गहरा किया, जो आधुनिक भारत के निर्माण के लिए अपरिहार्य था। यह अध्ययन क्षेत्र-विशिष्ट ऐतिहासिक साक्ष्यों और संदर्भों के माध्यम से राष्ट्रीय निर्माण के इस आध्यात्मिक आधार को मजबूती से स्थापित करेगा।

स्वामी विवेकानन्द का समग्र चिन्तन : मूल तत्त्व

स्वामी विवेकानन्द का समग्र चिन्तन किसी एक दर्शन या धर्म की सीमा में बंधा नहीं है, बल्कि यह मानव-निर्माण और राष्ट्र-जागरण पर केंद्रित एक गतिशील और व्यावहारिक दर्शन है। उनके चिन्तन के मूल तत्त्व भारतीय अध्यात्म की गहराई को आधुनिक जीवन की चुनौतियों के साथ जोड़ते हैं, जिससे यह दर्शन सार्वभौमिक और कालातीत बन जाता है।

1. नव-वेदांत और राष्ट्रीय धर्म

विवेकानन्द के दर्शन का केंद्र बिंदु नव-वेदांत है। उन्होंने उपनिषदों के अद्वैत वेदांत को लिया और उसे एक व्यावहारिक रूप दिया। उनका मूल सिद्धांत यह है कि प्रत्येक आत्मा में दिव्यता निहित है; ''हर जीव में शिव है।''[4] स्वामी विवेकानंद के कथन का अर्थ है कि प्रत्येक जीवित प्राणी के भीतर दिव्य चेतना (शिव) मौजूद है, जिसे पहचानना और स्वीकार करना महत्वपूर्ण है। यह एक प्रकार की अद्वैतवादी मान्यता है कि व्यक्तिगत आत्मा परम सत्य के समान है। इस अवधारणा ने कर्मकांडों और अंधविश्वासों को गौण कर दिया और मानव सेवा को ही ईश्वर की सच्ची पूजा बना दिया। उनके लिए धर्म का अर्थ केवल पूजा-पाठ या मोक्ष प्राप्त करना नहीं था, बल्कि यह मनुष्य की अंतर्निहित पूर्णता को अभिव्यक्त करने का माध्यम था। उन्होंने 'सेवा धर्म' का प्रतिपादन किया, जिसमें दरिद्र, रोगी और वंचित लोगों की सेवा करना ही सबसे बड़ा धार्मिक कार्य है, जिसे उन्होंने 'दरिद्र नारायण सेवा' कहा। उनका 'राष्ट्रीय धर्म' केवल आध्यात्मिकता पर आधारित था, जिसका उद्देश्य भारत की आत्मा को जागृत करना था।

2. मनुष्य निर्माणकारी शिक्षा का दर्शन

विवेकानन्द ने पश्चिमी शिक्षा प्रणाली की आलोचना करते हुए मनुष्य निर्माणकारी शिक्षा पर जोर दिया। उनके अनुसार, ''शिक्षा वह नहीं है जो आपके दिमाग में भर दी जाती है और जो जीवन भर आपके साथ रहती है, बल्कि यह वह है जो इच्छाशक्ति के प्रवाह को नियंत्रित करती है और उसे फलदायी बनाती है।''[5] शिक्षा का उद्देश्य केवल नौकरी प्राप्त करना नहीं, बल्कि चरित्र निर्माण, आत्म-विश्वास और नैतिक दृढ़ता का विकास करना होना चाहिए। उन्होंने शारीरिक शक्ति और मानसिक एकाग्रता के महत्व को भी शिक्षा के अभिन्न अंग के रूप में स्थापित किया। उनका स्पष्ट मत था कि एक दुर्बल शरीर या डरा हुआ मन कभी भी महान कार्य नहीं कर सकता।

3. युवा शक्ति, चरित्र और निर्भयता

युवा शक्ति पर विवेकानन्द का असीम विश्वास था। उन्होंने युवाओं को राष्ट्र के भविष्य के रूप में देखा और उन्हें चरित्र, शक्ति और निर्भीकता के गुणों को आत्मसात करने के लिए प्रेरित किया। उनका प्रसिद्ध आह्वान था, उठो, जागो और तब तक न रुको जब तक लक्ष्य प्राप्त न हो जाए। उन्होंने युवाओं को शारीरिक रूप से मजबूत, मानसिक रूप से साहसी और नैतिक रूप से शुद्ध रहने का उपदेश दिया। उनके अनुसार, निर्भीकता पहला आध्यात्मिक गुण है, क्योंकि डर ही सभी प्रकार की दुर्बलताओं और अंधविश्वासों का मूल है।

4. सामाजिक समता और सुधार

स्वामी जी सामाजिक समानता के प्रबल पक्षधर थे। उन्होंने जाति-भेद, छुआछूत और पुरोहितवाद की घोर निंदा की। उन्होंने महसूस किया कि राष्ट्र का पतन तब शुरू हुआ जब समाज के एक बड़े हिस्से को ज्ञान और अधिकार से वंचित कर दिया गया। उनका मानना था कि राष्ट्र तभी मजबूत हो सकता है जब समाज के सबसे निचले तबके का उत्थान हो। उन्होंने महिलाओं की शिक्षा और स्वतंत्रता पर भी विशेष जोर दिया, क्योंकि वे उन्हें राष्ट्र के पुनर्जागरण की सबसे बड़ी शक्ति मानते थे। उनका चिन्तन सामाजिक न्याय और समरसता पर आधारित था, जिसने भारतीय नवजागरण के सामाजिक सुधारवादी आंदोलनों को नई ऊर्जा दी। स्वामी विवेकानन्द का समग्र चिन्तन सत्य को जानना (वेदांत), सत्य को अभिव्यक्त करना (शिक्षा और चरित्र), और सत्य को जीना (सेवा और सामाजिक समता) का एक अद्‌भुत मेल है। यह दर्शन भारतीयता के मूल को विश्वव्यापी मूल्यों के साथ जोड़कर एक सशक्त, आत्मनिर्भर और आध्यात्मिक रूप से जागृत राष्ट्र के निर्माण का मार्ग प्रशस्त करता है।

उत्तर भारत की ऐतिहासिक-सांस्कृतिक पृष्ठभूमि

19वीं शताब्दी में, उत्तर भारत क्षेत्र मुगल शासन के पतन और ब्रिटिश औपनिवेशिक सत्ता के पूर्ण प्रभुत्व के कारण गहरे सामाजिक, आर्थिक और धार्मिक संकट से गुजर रहा था। यहाँ का समाज रूढ़िवादिता, जातिगत भेदभाव और अंधविश्वासों में जकड़ा हुआ था, जबकि शिक्षा का प्रसार मुख्यत: एक छोटे से अभिजात वर्ग तक सीमित था। इस क्षेत्र में आर्य समाज, देव समाज और सनातन धर्म सभा जैसे धार्मिक-सामाजिक आंदोलनों ने चेतना जागृत करने का प्रयास किया, लेकिन विवेकानन्द के विचार एक विशिष्ट, एकीकृत और ओजस्वी संदेश लेकर आए, जिसने इन आंदोलनों को एक नई, अधिक समावेशी और राष्ट्रवादी दिशा दी।

सांस्कृतिक और आध्यात्मिक पुनर्जागरण का आह्वान

विवेकानन्द ने दृढ़ता से माना कि भारत की आत्मा उसकी अध्यात्मिकता में निहित है, और राष्ट्र का पुनरुत्थान तभी संभव है जब यह अपनी इस मूल शक्ति को पुन: प्राप्त करे। उत्तर भारत, जो कि गंगा-यमुना की संस्कृति और प्राचीन तीर्थस्थलों का केंद्र था (जैसे वाराणसी, हरिद्वार, अयोध्या), उनके इस आह्वान से सीधे जुड़ा, स्वामी विवेकानंद ने एक संन्यासी समुदाय की नींव रखी, जिसका अर्थ 'आत्मनो मोक्षार्थ जगत हिताय च' अर्थात् अपने आत्मकल्याण के साथ-साथ विश्व के कल्याण हेतु कार्य करो।

वेदांत का व्यावहारिक अनुप्रयोग : उन्होंने उपनिषदों के नव-वेदांत दर्शन को आम जनमानस के लिए सुलभ बनाया। उत्तर भारत में, जहाँ कर्मकांड और पुरोहितवाद हावी थे, विवेकानन्द ने ईश्वर को हर मनुष्य में देखने और मानव सेवा (दरिद्र नारायण सेवा) को ही सर्वोच्च धार्मिक कार्य मानने का संदेश दिया। इस संदेश ने धार्मिक संकीर्णता को तोड़कर सामाजिक समरसता के आधार पर राष्ट्र निर्माण की नींव रखी।

आत्म-गौरव की भावना : 1893 में शिकागो धर्म संसद में उनकी सफलता ने उत्तर भारत के बुद्धिजीवियों और युवाओं में सांस्कृतिक हीनता की भावना को समाप्त किया, जो ब्रिटिश शासन के कारण उत्पन्न हुई थी। उनके विचारों ने भारतीयों को यह सिखाया कि वे ज्ञान और दर्शन के मामले में पश्चिमी जगत से कहीं आगे हैं, जिससे राष्ट्रीय चेतना और आत्म-गौरव की भावना प्रबल हुई।

शिक्षा, युवा शक्ति और चरित्र निर्माण

विवेकानन्द के लिए, राष्ट्र निर्माण की सबसे बड़ी कुंजी मानव निर्माणकारी शिक्षा थी। उत्तर भारत के संदर्भ में उनके इस चिन्तन के तीन मुख्य पहलू थे :

चरित्र पर जोर : उन्होंने जोर दिया कि राष्ट्र का निर्माण केवल राजनीतिक स्वतंत्रता से नहीं, बल्कि चरित्रवान, बलवान और साहसी व्यक्तियों से होता है। उत्तर प्रदेश और बिहार के युवाओं पर उनके आत्मविश्वास और निर्भयता पर आधारित संदेशों का गहरा प्रभाव पड़ा, जिन्होंने आगे चलकर स्वतंत्रता संग्राम में भाग लिया।

शारीरिक और मानसिक शक्ति : उन्होंने युवाओं को केवल आध्यात्मिक ज्ञान ही नहीं, बल्कि शारीरिक शक्ति और खेलों के माध्यम से बलवान बनने का आह्वान किया। यह संदेश उत्तर भारत के क्रांतिकारी आंदोलनों के लिए परोक्ष प्रेरणा बना, जहाँ युवाओं ने शारीरिक और मानसिक रूप से मजबूत होकर औपनिवेशिक सत्ता का विरोध किया।

रामकृष्ण मिशन का प्रसाररू वाराणसी, पटना, दिल्ली और उत्तराखंड जैसे उत्तर भारतीय क्षेत्रों में रामकृष्ण मिशन के केंद्रों की स्थापना ने उनके विचारों को संस्थागत रूप दिया। इन केंद्रों ने बाढ़, अकाल और महामारी के दौरान नि:स्वार्थ सेवा कार्य करके लोगों के बीच सामाजिक एकता और राष्ट्रीय कर्तव्य की भावना को स्थापित किया।

सामाजिक समता और राजनीतिक चेतना पर प्रभाव

विवेकानन्द का चिन्तन सामाजिक और राजनीतिक निष्क्रियता को दूर करने के लिए उत्प्रेरक का कार्य करता है।

जातिगत रूढ़िवादिता का खंडन : उत्तर भारत में जातिगत भेदभाव एक गंभीर समस्या थी। विवेकानन्द ने वेदांत के सार्वभौमिक सिद्धांत का उपयोग करते हुए जातिवाद और अस्पृश्यता को धार्मिक रूप से अस्वीकार्य बताया। उनके शिष्य (जैसे भगिनी निवेदिता) ने इस क्षेत्र में महिला शिक्षा और दलितों के उत्थान के लिए कार्य किया, जिससे सामाजिक समता की दिशा में राष्ट्र निर्माण की प्रक्रिया तेज हुई।

स्वदेशी और राष्ट्रवादी प्रेरणा : हालांकि विवेकानन्द ने सीधे तौर पर राजनीतिक आंदोलन में भाग नहीं लिया, लेकिन उनके ओजस्वी विचार और भारत की शक्ति पर अटूट विश्वास ने लाला लाजपत राय, विपिन चंद्र पाल और यहां तक कि महात्मा गांधी जैसी हस्तियों को भी प्रेरित किया, जिनका प्रभाव उत्तर भारत के राजनीतिक परिदृश्य पर निर्णायक था। उनका राष्ट्रवाद सांस्कृतिक और आध्यात्मिक आत्मनिर्भरता पर आधारित था, जिसने बाद में स्वदेशी और बहिष्कार जैसे

आंदोलनों को वैचारिक आधार प्रदान किया।

उत्तर भारत में राष्ट्र निर्माण की नींव

स्वामी विवेकानन्द के समग्र चिन्तन ने उत्तर भारत में राष्ट्र निर्माण की संकल्पना को एक आध्यात्मिक, मानवीय और समावेशी आधार प्रदान किया। उन्होंने इस क्षेत्र के युवाओं, बुद्धिजीवियों और आम जनता को केवल राजनीतिक मुक्ति के लिए नहीं, बल्कि मानवीय गरिमा, चारित्रिक श्रेष्ठता और नि:स्वार्थ सेवा पर आधारित एक महान राष्ट्र के निर्माण के लिए प्रेरित किया। उनके विचार आज भी उत्तराखंड, उत्तर प्रदेश, बिहार, और पंजाब जैसे राज्यों की शैक्षिक, सामाजिक और नैतिक चेतना को दिशा दे रहे हैं, यह दर्शाते हुए कि राष्ट्र निर्माण की प्रक्रिया केवल आर्थिक या राजनीतिक नहीं, बल्कि मूलत: मानव निर्माण की प्रक्रिया है। विवेकानन्द का चिन्तन इस क्षेत्र के लिए एक शाश्वत मार्गदर्शक बना हुआ है जो राष्ट्रीय एकता और प्रगति को प्रेरित करता है। उत्तर भारत में स्वामी विवेकानन्द के चिन्तन का अनुप्रयोग और प्रसार, स्वामी विवेकानन्द के समग्र चिन्तन का उत्तर भारत द्धजिसमें वर्तमान उत्तराखंड, उत्तर प्रदेश, पंजाब, बिहार और राजस्थान जैसे महत्वपूर्ण क्षेत्र शामिल थेऋ में अनुप्रयोग और प्रसार एक द्विआयामी प्रक्रिया थी, जो न केवल उनके विचारों को संस्थागत रूप देने में, बल्कि युवाओं और बुद्धिजीवियों के वैचारिक निर्माण में भी परिलक्षित हुई। विवेकानन्द का शक्ति, साहस और सेवा का संदेश इस क्षेत्र की तत्कालीन सामाजिक और राजनीतिक निष्क्रियता को दूर करने के लिए एक शक्तिशाली उत्प्रेरक साबित हुआ।

1. संस्थागत अनुप्रयोगरू रामकृष्ण मिशन का प्रसार

चिन्तन का सबसे प्रत्यक्ष अनुप्रयोग रामकृष्ण मिशन और रामकृष्ण मठ के केंद्रों की स्थापना के माध्यम से हुआ। उत्तर भारत में मिशन के प्रमुख केंद्र जैसे वाराणसी, दिल्ली, और विशेष रूप से उत्तराखंड में मायावती अद्वैत आश्रम (अल्मोड़ा के पास), उनके विचारों के प्रसार और प्रयोग की प्रयोगशाला बने।

शिक्षा और प्रकाशन : इन केंद्रों ने केवल आध्यात्मिक शिक्षा नहीं दी, बल्कि विवेकानन्द की मनुष्य निर्माणकारी शिक्षा के दर्शन को लागू किया। उन्होंने पुस्तकालयों, अध्ययन समूहों और प्रकाशनों के माध्यम से वेदांत और भारतीय संस्कृति के गौरव को उत्तर भारतीय युवाओं तक पहुँचाया।

सेवा कार्य : मिशन ने इस क्षेत्र में आपदाओं (बाढ़, अकाल) के समय नि:स्वार्थ सेवा कार्य (दरिद्र नारायण सेवा) करके यह सिद्ध किया कि उनका नव-वेदांत केवल सैद्धांतिक नहीं, बल्कि व्यावहारिक है। यह सेवा कार्य रूढ़िवादी धार्मिक कर्मकांडों के विपरीत, लोगों को सामाजिक दायित्वों के प्रति प्रेरित करने का एक प्रभावी तरीका था।

2. वैचारिक प्रसार : युवा और स्वतंत्रता सेनानियों पर प्रभाव

विवेकानन्द के चिन्तन का अप्रत्यक्ष और व्यापक प्रसार उत्तर भारत के युवा वर्ग और राष्ट्रीय नेताओं की सोच को प्रभावित करने में दिखा।

युवाओं में आत्मविश्वास : उत्तर भारत के कश्वलेजों और विश्वविद्यालयों के छात्रों के बीच, उनके शक्ति, आत्म-विश्वास और निर्भीकता के संदेशों ने एक नया उत्साह पैदा किया। उनका आह्वान ''लोहे की नसें और फौलादी मांसपेशियाँ'' बनाने का था, जिसने युवाओं को शारीरिक रूप से मजबूत होने और मानसिक हीनता की भावना को त्यागने के लिए प्रेरित किया। यह विचार सीधे तौर पर ब्रिटिश औपनिवेशिक शासन के समक्ष भारतीय कमजोरी की धारणा को चुनौती देता था।

राष्ट्रवादी विमर्श को दिशा : लाला लाजपत राय जैसे प्रमुख राष्ट्रवादी नेता, जिनका प्रभाव पंजाब और उत्तर प्रदेश में था, विवेकानन्द के आध्यात्मिक राष्ट्रवाद से प्रभावित थे। उनके विचारों ने राष्ट्रवाद की परिभाषा को केवल राजनीतिक स्वतंत्रता तक सीमित न रखकर, उसे सांस्कृतिक स्वाभिमान और आत्मनिर्भरता से जोड़ा। इस वैचारिक आधार ने उत्तर भारत के क्रांतिकारी आंदोलनों के लिए भी परोक्ष रूप से जमीन तैयार की, जहाँ युवाओं ने त्याग और निस्वार्थता की भावना को आत्मसात किया।

3.सामाजिक सुधारों को प्रोत्साहन

विवेकानन्द ने सामाजिक जड़ता, जातिवाद और लैंगिक असमानता को राष्ट्र निर्माण की सबसे बड़ी बाधा माना। उत्तर भारत में, जहाँ ये समस्याएँ गहरी थीं, उनके विचारों ने सामाजिक सुधारकों को नई प्रेरणा दी। उनके आह्वान पर महिला शिक्षा और वंचितों के उत्थान के लिए कई प्रयास शुरू हुए, जिससे समाज के सभी वर्गों को राष्ट्र निर्माण की मुख्य धारा में शामिल करने का मार्ग प्रशस्त हुआ। स्वामी विवेकानन्द के चिन्तन का अनुप्रयोग और प्रसार उत्तर भारत में एक वैचारिक क्रांति लेकर आया, जिसने इस क्षेत्र को आध्यात्मिक रूप से

मजबूत, सामाजिक रूप से जागरूक और राष्ट्रीय स्तर पर सक्रिय बनाने में निर्णायक भूमिका निभाई। स्वामी जी ने कहा ''मैं भारत के कोने कोने में गया हूँ, और मेरे लिए यह अत्यंत पीड़ादायक था कि मैंने यहाँ की भयावह निर्धनता और पीड़ा को प्रत्यक्ष देखा। अब मैं विश्वासपूर्वक कह सकता हूँ कि जब तक हम इनकी दरिद्रता दूर नहीं करेंगे, तब तक इन पर धर्मोपदेश करना व्यर्थ है।''[6]

आलोचनात्मक विश्लेषण और वर्तमान प्रासंगिकता

स्वामी विवेकानन्द के चिन्तन की महत्ता निर्विवाद है, फिर भी इसका आलोचनात्मक विश्लेषण आवश्यक है। उनके दर्शन के आलोचक अक्सर यह इंगित करते हैं कि उन्होंने आध्यात्मिक उत्थान और चरित्र निर्माण पर अत्यधिक जोर दिया, जबकि 19वीं सदी के अंत में भारत की तात्कालिक आवश्यकताएँ आर्थिक, राजनीतिक और वैज्ञानिक विकास थीं। कुछ विद्वानों ने तर्क दिया कि उनका नव-वेदांत, हालांकि समावेशी था, लेकिन इसने भारत के तत्कालीन जाति-आधारित सामाजिक-आर्थिक ढाँचे की मूलभूत समस्याओं का सीधे समाधान नहीं किया। इसके अतिरिक्त, उनके चिन्तन की व्याप्ति और अनुप्रयोग उत्तर भारत के विभिन्न क्षेत्रों में असमान रहा; रामकृष्ण मिशन के प्रयासों के बावजूद, उनके विचारों की गहराई केवल शिक्षित शहरी वर्ग तक ही सीमित रही, जबकि ग्रामीण जनता में इसका प्रसार धीमा रहा।

वर्तमान प्रासंगिकता

इन आलोचनाओं के बावजूद, विवेकानन्द का चिन्तन वर्तमान संदर्भ में अत्यधिक प्रासंगिक बना हुआ है। आज के भारत में, जहाँ मानसिक स्वास्थ्य, नैतिक पतन और सामाजिक विषमता बड़ी चुनौतियाँ हैं, उनके विचार एक पथ-प्रदर्शक का कार्य करते हैं। युवा शक्ति और चरित्र निर्माण के द्वारा उनका आत्म-विश्वास और निर्भीकता का आह्वान आज के युवाओं को आत्मनिर्भरता और सकारात्मक नेतृत्व के लिए प्रेरित करता है। नैतिक और समावेशी विकास द्वारा प्रतिपादित 'दरिद्र नारायण सेवा' का सिद्धांत आज भी सामाजिक न्याय और समावेशी विकास के लिए एक नैतिक आधार प्रदान करता है, खासकर उत्तर भारत के विकासशील राज्यों के लिए। उनका वेदांत दर्शन, जो सहिष्णुता और मानव एकता पर जोर देता है, भारत को एक विश्व गुरु के रूप में स्थापित करने की वर्तमान आकांक्षाओं के साथ पूरी तरह मेल खाता है, जो भारत की सॉफ्ट पावर और सांस्कृतिक कूटनीति का आधार बन सकता है। विवेकानन्द के चिन्तन की कुछ सीमाएँ हो सकती हैं, लेकिन राष्ट्र निर्माण के लिए नैतिक और मानवीय आधार प्रदान करने में उनकी प्रासंगिकता आज भी अक्षुण्ण है।

निष्कर्ष :

स्वामी विवेकानन्द का समग्र चिन्तन भारतीय राष्ट्र निर्माण के लिए एक समग्र, आध्यात्मिक और मानवीय दृष्टिकोण प्रस्तुत करता है, जिसका मूल आधार चरित्र निर्माण और मानव सेवा है। उनका दर्शन केवल राजनीतिक स्वतंत्रता तक सीमित नहीं था, बल्कि इसका उद्देश्य भारत की अंतर्निहित आध्यात्मिक शक्ति को पुनर्जीवित कर राष्ट्र को विश्व गुरु के रूप में स्थापित करना था। उत्तर भारत के सन्दर्भ में, विवेकानन्द के विचारों ने सांस्कृतिक पुनर्जागरण और सामाजिक सक्रियता की नींव रखी। उनके नव-वेदांत ने इस क्षेत्र की धार्मिक रूढ़िवादिता को चुनौती दी और सेवा तथा समानता पर आधारित धर्म की स्थापना की। उनके मनुष्य निर्माणकारी शिक्षा और शक्ति के आह्वान ने उत्तर भारत के युवाओं को प्रेरित किया, जिसने उन्हें औपनिवेशिक हीनता से मुक्त कर आत्मविश्वास और राष्ट्रीय कर्तव्य की भावना से ओत-प्रोत किया। रामकृष्ण मिशन के केंद्रों के माध्यम से उनके विचारों का प्रत्यक्ष अनुप्रयोग हुआ, जिसने शिक्षा, स्वास्थ्य और सामाजिक समरसता को बढ़ावा दिया। यद्यपि उनके चिन्तन की कुछ आलोचक आर्थिक और राजनीतिक तात्कालिकता की उपेक्षा मानते हैं, लेकिन उनके विचारों की वर्तमान प्रासंगिकता (चरित्र, आत्मविश्वास, और सामाजिक न्याय) आज भी अक्षुण्ण है। स्वामी जी का चिन्तन उत्तर भारत के लिए एक शाश्वत मार्गदर्शक बना जिसने भारतीय राष्ट्रवाद को केवल राजनीतिक नहीं, बल्कि आध्यात्मिक, सांस्कृतिक और नैतिक आधार प्रदान किया, जो आधुनिक और विकसित भारत के निर्माण के लिए अपरिहार्य है।

*** शोधार्थी**
सिंघानिया विश्वविद्यालय,
पचेरी बड़ी, झुंझुनू, राजस्थान
ई-मेल : bhupenderhistory@gmail.com

****सह-आचार्य**
सिंघानिया विश्वविद्यालय
पचेरी बड़ी, झुंझुनू, राजस्थान

सन्दर्भ सूची

1. https://www-google-com/search\q¾%E2%80%98%E0%A4%86%E0%A4%A7%E0%A5%8D%E0%A4%AF%E0%A4%BE%E0%A4%A4%E0%A5%8D%E0%A4%AE%E0%A4%BF%E0%A4%95+%E0%A4%B0%E0%A4%BE%E0%A4%B7%E0%A5%8D%E0%A4%9F%E0%A5%8D%E0%A4%B0%E0%A4%B5%E0%A4%BE%E0%A4%A6%E2%80%99&ie¾UTF&8
2. https://www-kavitarawat-com/2016/01/blog-post-html
3. चट्टोपाध्याय, राजगोपालय स्वामी विवेकानंद इन इण्डिया : ए करेक्टिव बायोग्राफी; पृ.81
4. https://www-google-com/search\q¾%E2%80%9C%E0%A4%B9%E0%A4%B0+%E0%A4%9C%E0%A5%80%E0%A4%B5+%E0%A4%AE%E0%A5%87%E0%A4%82+%E0%A4%B6%E0%A4%BF%E0%A4%B5+%E0%A4%B9%E0%A5%88%E0%A5%A4%E2%80%9D+%E0%A4%B5%E0%A4%BF%E0%A4%B5%E0%A5%87%E0%A4%95%E0%A4%BE%E0%A4%A8%E0%A4%82%E0%A4%A6
5. सिंह, करणय हिन्दुइजिम; पृ.71
6. चन्दा, एस. एम. : स्वामी विवेकानंद जीवन और विचार : पृ. 49

कौटिलीय अर्थशास्त्र में प्रतिपादित प्रशासनिक व्यवस्था : एक विश्लेषण

प्रो. रणजीत कुमार मिश्र* **पुष्पम् झा****

शोध-सार

मानव सभ्यता के विकास के साथ ही समाज के प्रबंधन की भिन्न-भिन्न युक्तियों पर विचार प्रारंभ हो गया। एक समूह या समाज के रूप में कैसे हम प्रगति करें, क्या नियम हों, कौन किस कार्य में प्रवृत हो, संसाधनों पर किसका नियंत्रण हो या कौन नेतृत्व करे इन्हीं विषयों पर मंथन या विचारोपरांत विभिन्न नीतियों या नियमों का विकास हुआ। इन्हीं नियमों और नीतियों को आधार बनाकर सामाजिक कार्यों के कुशल संचालन हेतु एक व्यवस्था का निर्माण हुआ, जिसे आज प्रशासनिक व्यवस्था के रूप में जाना जाता है। प्रशासनिक व्यवस्था किसी भी समाज या संगठन का एक जटिल तंत्र है जो नीति निर्माण से लेकर सेवा वितरण तक, समाज के विभिन्न पहलुओं को प्रभावित करती है। यह एक गतिशील संस्था है जो समय के साथ बदलती परिस्थितियों के अनुसार बदलती रहती है। प्रशासनिक व्यवस्था संसाधनों का कुशल प्रबंधन, अपराध नियंत्रण, सार्वजनिक संपत्ति का संरक्षण और संवर्धन करती है। मेरा यह शोध लेख आचार्य कौटिल्य प्रणीत अर्थशास्त्र में प्रतिपादित प्रशासनिक व्यवस्थाओं के अध्ययन पर केंद्रित है। कौटिल्य प्रशासनिक व्यवस्थाओं को प्रजा के संरक्षक के रूप में स्थापित करते हैं –

मात्स्यन्यायाभिभूताः प्रजा मनुं वैवस्वतं राजानं चक्रिरे।[1]

कौटिल्य मात्स्यन्यायाभिभूत प्रजा की भलाई एवं कल्याण के लिए, उत्पीड़नों को दूर करने के लिए राजा के नेतृत्व में एक प्रशासनिक व्यवस्था का निर्माण करते हैं। मेरे इस शोध पत्र का उद्देश्य आचार्य कौटिल्य द्वारा प्रतिपादित प्रशासनिक व्यवस्था एवं उसकी वर्तमान संदर्भ में प्रासंगिकता तथा वर्तमान में व्यपात विभिन्न सामाजिक समस्याओं के समाधान हेतु नवीन दृष्टि का अन्वेषण करना है ।

महत्वपूर्ण शब्द

कौटिल्य, प्रशासन, मात्स्यन्याय, प्रजा, प्रशासनिक व्यवस्था, सप्तांग सिद्धान्त, मण्डल सिद्धान्त, षाड्गुण्य सिद्धान्त, जनपद, मतगणना, आमात्य, समाहर्त्ता।

भूमिका

कौटिल्य प्रणीत अर्थशास्त्र भारतीय सन्दर्भ को आधार बनाकर विभिन्न सामाजिक विज्ञान के विषयों को प्रतिपादित करने वाला एक महनीय धर्मशास्त्रीय ग्रंथ है। राज्य निर्माण, प्राप्ति, संरक्षण और संवर्धन के लिए कौटिल्य से पूर्व के सभी आचार्यों ने जितने भी अर्थशास्त्र विषयक ग्रंथ का निर्माण किया उन सबका सार संकलन कर कौटिल्य ने अपने अर्थशास्त्र का निर्माण किया।[2] आचार्य कौटिल्य ने अर्थशास्त्र को तंत्रयुक्ति अधिकरण में इसप्रकार परिभाषित किया है–

मनुष्याणां वृत्तिरथः, मनुष्यवती भूमिरित्यर्थः, तस्याः पृथिव्या लाभपालनोपायः शास्त्रमर्थशास्त्रमिति।[3]

मनुष्य तथा मनुष्य की जीविका से युक्त भूमि को प्राप्त करने और उसकी रक्षा करने वाले उपायों का निरूपण करने वाला शास्त्र अर्थशास्त्र कहलाता है। कौटिल्य अर्थशास्त्र पन्द्रह अधिकरण, एक सौ पचास अध्याय, एक सौ अस्सी प्रकरण और छः हजार श्लोकों से युक्त राजनीति विज्ञान का एक विश्वकोशात्मक ग्रंथ है।

मुख्यप्रतिपाद्य विषय :

समाज एक परिवर्तनशील संस्था है, सामाजिक व्यवस्थाएँ भी इसी अनुरूप परिवर्तित होती रहती हैं। विभिन्न कालक्रम

में आवश्कताएँ एवं समस्याएँ भी बदलती हैं, इन्हीं परिस्थितियों को ध्यान में रखकर प्रशासनिक व्यवस्था का निर्माण किया जाता है। कौटिल्य ने राज्य के सात अंग बताएं हैं— **स्वाम्यमात्यजनपददुर्गकोशदण्डमित्राणि प्रकृतयः।**[4] इसमें स्वामी, आमात्य, जनपद और दण्ड का प्रशासनिक व्यवस्था में विशेष महत्व है। स्वामी (राजा) कौटिल्य के प्रशासन का प्रमुख है, आमात्य आदि इसके सहायक के रूप में तथा जनपद आधार के रूप में दृष्टिगत होता है।

स्वामी अर्थात् राजा

किसी भी व्यवस्था का विश्लेषण उसके प्रधान पुरुष के आधार पर किया जाता है। प्रधान पुरुष जितना अधिक नैतिक और गुणवान् होगा, व्यवस्था उतनी अधिक लोकानुकूल और सुदृढ़ होगी। आचार्य स्वामी के विषय में लिखते हैं कि स्वामी महाकुलीन, दैवबुद्धि, धैर्यसंपन्न, दूरदर्शी, और धार्मिक होना चाहिए।[5] राजा अर्थशास्त्र में वर्णित प्रशासनिक व्यवस्था का प्रधान है। आचार्य कौटिल्य के अर्थशास्त्र में 'राजा' स्वामी के रूप में अपने गुणों, कर्तव्यों और अधिकारों के साथ विस्तार से वर्णित है। कौटिल्य लिखते हैं— *जो विद्वान् राजा प्राणिमात्र की हितकामना में लगा रहता है और प्रजा के शासन तथा शिक्षण में तत्पर रहता है, वह चिरकाल तक पृथिवी का निर्बाध शासन करता है।*[6] कौटिल्य का राजा अरिषड्वर्ग (काम, क्रोध, लोभ, मान, मद और हर्ष) का त्याग करने वाला तथा इंद्रियों पर विजय प्राप्त पुरुष के रूप में अपेक्षित है। आचार्य राजर्षिवृत्तम् नामक प्रकरण में लिखते हैं—**तस्मादरिषड्वर्गत्यागेनेन्द्रियजयं कुर्वीत।**[7] आचार्य द्वारा वर्णित राजा द्वारा अन्य त्याज्य गुण हैं— पराई स्त्री, पराया धन, और हिंसाप्रवृति।[8] राजा से अपेक्षा है कि *कुसमय शयन करना, चंचलता, झूठ बोलना, अविनीत वृत्ति बनाये रखना, इस प्रकार के आचरणों को और इस प्रकार के आचरण वाले लोगों की संगति को वह छोड़ दे।*[9] राजा समानता का प्रबंधक है। *उद्योग करना, यज्ञ करना, अनुशासन करना, दान देना, शत्रु और मित्रों में उनके गुण-दोषों के अनुसार समान व्यवहार करना, दीक्षा समाप्त कर अभिषेक करना- ये सब राजा के नैमित्तिक व्रत हैं।*[10] आचार्य राजा को प्रजावत्सल के रूप में स्थापित करते हैं, प्रजा पालन के अतिरिक्त राजा का कोई अलग हित नहीं है। प्रजा के सुख में राजा का सुख और प्रजा के हित में राजा का हित है। अपने आप को अच्छे लगने वाले कार्यो को करने में राजा का हित नहीं, बल्कि उनका हित तो प्रजाजनों को अच्छे लगने वाले कार्यो के सम्पादन में है।[11]

इस प्रकार, आचार्य कौटिल्य द्वारा वर्णित राजा प्रजावत्सल, नीतिनिपुण, धर्मपरायण तथा समानता का व्यवहार करने वाला नेता के रूप में वर्णित है।

जनपद

जनपद कौटिलीय प्रशासनिक व्यवस्था की महत्वपूर्ण इकाई है। जनपद प्रशासनिक सुविधा के लिए विभिन्न प्रकार के गाँवों के संकुल में विभक्त था। आचार्य के अनुसार समहर्त्ता को चाहिए कि वह सारे जनपद को चार हिस्सों में श्रेष्ठ, मध्यम और कनिष्ठ के रूप में विभक्त कर दें।[12] समाहर्त्ता पुनः पुनः पाँच-पाँच या दश-दश ग्रामों का समूह बनाकर उसका प्रबंध गोप नामक अधिकारी को प्रदान करता है।[13] आचार्य के प्रशासनिक व्यवस्था की सबसे प्रमुख विशेषता ग्रामों का भिन्न भिन्न स्तरों (Layers) में विभाजन तथा उसके अनुरूप संस्थाओं की स्थापना करना है। आचार्य के अनुसार आठ सौ ग्रामों के बीच में एक **स्थानीय,** चार सौ ग्रामों के समूह में एक **द्रोणमुख**, दो सौ ग्रामों के बीच में एक **कार्वटिक** और दश गाँवों के समूह में **संग्रहण** नामक स्थानों की विशेष रूप से स्थापना होना चाहिए।[14] अर्थशास्त्र में वर्णित जनपद स्तर के प्रमुख अधिकारी व वर्ग हैं-**संख्यायक** (क्लर्क), **गोप** (दश ग्रामों के अधिकारी), **स्थानिक** (नगर के अधिकारी), **अनीकस्थ** (हस्तिशिक्षक), **वैद्य, अश्वशिक्षक** और **जंघाकरिक** (दूर देश में जीविकोपार्जन करने वाले लोग)।

इस प्रकार आचार्य कौटिल्य के अर्थशास्त्र में प्रतिपादित ग्राम कुशल प्रशासनिक व्यवस्था हेतु एक प्रमुख आधार प्रदान करता है। यह शासनसत्ता की शक्तियों के विकेंद्रण तथा संसाधानों के कुशल प्रबंधन में महत्वपूर्ण भूमिका निभाता है ।

समाहर्त्ता

कौटिलीय अर्थशास्त्र में वर्णित **समाहर्त्ता** जनपद स्तर का सबसे प्रमुख अधिकारी है। इसमे जनपद स्तर के सभी प्रमुख कार्य समाहर्त्ता के अधीन है। यह मात्र एक राजस्व संग्रहकर्ता नहीं है, अपितु प्रशासनिक व्यवस्था का एक अत्यंत महत्वपूर्ण अंग है। वह राज्य की आर्थिक नीतियों का क्रियान्वयनकर्ता, राजकोष का संरक्षक और राज्य की समृद्धि का प्रहरी है। समाहर्त्ता के विषय में आचार्य कौटिल्य लिखते हैं— *अपने कार्यों में तत्पर समाहर्त्ता जनपद की रक्षा का प्रबंध करें और उसकी आज्ञा से कार्य करने वाले गुप्तचर एवं उनके विभिन्न संघ, संस्था आदि जनपद के प्रबंध में तत्पर रहें।*[15]

कौटिल्य के अर्थशास्त्र में वर्णित समाहर्त्ता आधुनिक जिलाधिकारी के समकक्ष प्रतीत होता है । आज भी उत्तर भारत में जिलाधिकारी को समाहर्त्ता के नाम से तथा उनके कार्यालय को समाहरणालय के नाम से जाना जाता है।

जनगणना

जनगणना एक व्यवस्थित प्रक्रिया है जिसमें किसी विशेष समय पर किसी देश या क्षेत्र की पूरी जनसंख्या की गणना की जाती है। यह केवल संख्याओं का एक संग्रह नहीं है, बल्कि एक समाज की सामाजिक, आर्थिक और जनसांख्यिकीय संरचना का एक विस्तृत चित्र प्रदान करता है। भारतवर्ष में जनगणना का अपना एक वृहद् इतिहास है। आचार्य कौटिल्य ने जनगणना को प्रशासनिक व्यवस्था का महत्वपूर्ण अंग माना है। आचार्य को जनगणना में केवल व्यक्ति के संख्यायों की गणना या परिवार की संख्याओं की गणना अभीष्ट नहीं है। आचार्य ने जनगणना का एक सर्व समावेशी रूप को प्रस्तुत किया है। अर्थशास्त्र में जनगणना का प्रमुख अधिकारी समाहर्त्ता है। आचार्य ने वर्तमान में प्रचलित लगभग सभी प्रकार की जनगणना जैसे : पशु गणना, परिवार गणना, जातिगत गणना तथा कौशल गणना का भी उल्लेख किया है। आचार्य लिखते हैं– *रजिस्टर में इस बात का उल्लेख किया जाए कि उन घरों में इतने ब्राह्मण, इतने क्षत्रिय, इतने वैश्य और इतने शूद्र रहते हैं, इसी प्रकार वहाँ के किसान, ग्वाले, व्यापारी, कारीगर, मजदूर और दासों की संख्या भी रजिस्टर में होनी चाहिए, फिर सारे मानुष्यों और सारे पशुओं का जोड़ अलग अलग लिया जाय, अन्त में इनसे इतना सोना, इतने नौकर, इतना कर और इतना दण्ड राजा को प्राप्त हुआ, यह भी जोड़ देना चाहिए।*[16] आचार्य **'गोप'** नामक अधिकारी को यह आदेश देते हुए लिखते हैं– *वह प्रत्येक परिवार के स्त्री पुरुष, बालक तथा वृद्ध की गणना और उनके कार्य, चरित्र, आजीविका एवं व्यय आदि के सम्बन्ध में सम्पूर्ण जानकारी रखे।*[17]

आमात्य

कौटिल्य के अनुसार, आमात्य और मंत्री राजा के बाद राज्य के सबसे महत्वपूर्ण व्यक्ति होते थे। वे राजा को सभी महत्वपूर्ण मामलों में सलाह देते थे और राज्य के प्रशासन में महत्वपूर्ण भूमिका निभाते थे। आचार्य कौटिल्य अमात्य की महत्ता को व्यक्त करते हुए लिखते हैं– *एक पहिये की गाड़ी की भाँति राजकाज भी बिना सहायता सहयोग से नहीं चलाया जा सकता है। इसलिए राजा को चाहिए कि वह सुयोग्य अमात्यों की नियुक्ति कर उनके परामर्शों को हृदयंगम करे।*[18] आचार्य ने आमात्य के रूप में राजा पर एक मर्यादा निर्धारित करने का प्रयास किया है। कौटिल्य का राजा निरंकुश नहीं है, उसमे आमात्य, मंत्री, गुरुजन और शास्त्र का नियंत्रण है।[19] प्राचीन आचार्यों का मत है कि धर्म, अर्थ, काम और भय द्वारा परीक्षित पवित्र अमात्यों को, उनकी कार्यक्षमता के अनुसार कार्यभार सौंपना चाहिए । जो अमात्य सभी परीक्षाओं में खरे उतरे हों उन्हें मंत्रिपद पर नियुक्त किया जाना चाहिए।[20]

विभिन्न विभाग और उनके अध्यक्ष

आचार्य कौटिल्य ने अपने अर्थशास्त्र में विभिन्न विभागों तथा उनके अध्यक्षों की नियुक्ति का वर्णन किया है जो आज के समय में प्रचलित मंत्रालय प्रणाली के सदृश्य ही प्रतीत होता है। आचार्य कौटिल्य ने अपने अर्थशास्त्र में 27 विभाग तथा उससे संबंधित अध्यक्षों की नियुक्ति तथा उसकी योग्यता के विषय में विस्तृत उल्लेख किया है। इनमें निम्नलिखित प्रमुख है–

1. सुवर्णाध्यक्ष : सोना-चाँदी के विभाग से संबंधित ।
2. कोष्ठागाराध्यक्ष/ सीताध्यक्ष : राजकीय कर को एकत्र करने वाला।
3. पण्याध्यक्ष : वाणिज्य वर्ग का अध्यक्ष।
4. कुप्याध्यक्ष : जंगल / लकड़ी का अध्यक्ष (वन विभाग से सम्बन्धित)।
5. आयुधगाराध्यक्ष : युद्धोपयोगी सामग्री तैयार करने वाला।
6. तुलामानपौतवम् : तौल और माप का अध्यक्ष।
7. शुल्काध्यक्ष : शुल्क का अध्यक्ष।
8. सूत्राध्यक्ष : सूत-व्यवसाय का अध्यक्ष।
9. सीताध्यक्ष : कृषि विभाग का अध्यक्ष।
10. सूराध्यक्ष : आबकारी विभाग का अध्यक्ष।
11. सूनाध्यक्ष : वधस्थल का अध्यक्ष।
12. गणिकाध्यक्ष : वेश्यालयों का अध्यक्ष।
13. नावध्यक्ष : नौकाध्यक्ष।
14. गोध्यक्ष : पशुविभाग का अध्यक्ष।
15. अश्वाध्यक्ष : अश्वविभाग का अध्यक्ष।
16. हस्त्यध्यक्ष : गजशाला का अध्यक्ष।
17. रथाध्यक्ष : रथसेना का अध्यक्ष।
18. पत्त्यध्यक्ष : पैदल सेना का अध्यक्ष।
19. मुद्राध्यक्ष : मुद्रा विभाग का अध्यक्ष।
20. विवीताध्यक्ष : चारागाह विभाग का अध्यक्ष।

कौटिलीय अर्थशास्त्र में प्रतिपादित प्रमुख प्रशासनिक या शासकीय सिद्धान्त

सप्तांग सिद्धान्त

सप्तांग सिद्धांत प्राचीन भारतीय राजनीतिक दर्शन का एक मूलभूत आधार है। यह सिद्धांत कौटिल्य के अर्थशास्त्र में विस्तृत रूप से वर्णित है और एक आदर्श राज्य की संरचना का विस्तृत विवरण प्रस्तुत करता है। यह सिद्धांत केवल एक राजनीतिक अवधारणा नहीं है, बल्कि एक व्यापक दृष्टिकोण है जो राज्य के सभी पहलुओं को समाहित करता है।

आचार्य कौटिल्य के अनुसार राज्य के सात (प्रकृति) अंग हैं-

स्वाम्यमात्यजनपददुर्गकोशदण्डमित्राणि प्रकृत्यः।[21]

प्रकृतियों के व्यसन के विषय में आचार्यों का मानना है की इनमें पूर्व पूर्व की विपत्ति अत्यंत कष्टकर होती है।[22] शुक्रनीति में इन अंगों का निरूपण एक मानव शरीर के विभिन्न भागों के रूप में किया गया है। इनमें राजा को सिर, मंत्री नेत्र, मित्र कर्ण, कोश मुख, बल(सेना), मन, दुर्ग दोनों हाथ और जनपद या राष्ट्र दोनों पैर माने गए हैं।[23]

मण्डल सिद्धान्त

मण्डल सिद्धांत प्राचीन भारतीय राजनीतिक दर्शन का एक जटिल और बहुआयामी सिद्धांत है जो अंतरराष्ट्रीय संबंधों को समझने के लिए एक संरचनात्मक ढांचा प्रदान करता है। यह आज भी भारतीय उपमहाद्वीप के राजनीतिक परिदृश्य को समझने के लिए एक महत्वपूर्ण कुंजी के रूप में है।

आचार्य कौटिल्य मण्डल को परिभाषित करते हुए लिखते हैं-विजिगीषु राजा की विजय-यात्रा में आगे क्रमशः शत्रु, मित्र, अरिमित्र, मित्रमित्र और अरिमित्र-मित्र ये पाँच राजा आते हैं। इसी प्रकार उसके पीछे क्रमशः पाणिग्राह, आक्रंद, पाष्णिग्राहासार और आक्रंदासार ये चार राजा होते हैं। विजिगीषु राजा के सहित आगे-पीछे के राजाओं को मिलाकर एक राज-मंडल कहलाता है।[24]

मण्डल का अर्थ होता है वृत्त। इस सिद्धांत के अनुसार, प्रत्येक राज्य एक वृत्त के केंद्र में होता है और उसके चारों ओर विभिन्न प्रकार के राज्य होते हैं। ये राज्य मित्र, शत्रु, उदासीन आदि हो सकते हैं।

आक्रंदासार-पाष्णिग्राहासार-आक्रंद-पाणिग्राह-
(विजिगीषु)-
शत्रु-मित्र-अरिमित्र-मित्रमित्र-अरिमित्र-मित्र

षाड्गुण्य सिद्धान्त

षाड्गुण्य सिद्धांत प्राचीन भारतीय राजनीतिक दर्शन का एक मूलभूत सिद्धांत है। यह सिद्धांत एक राज्य के लिए आवश्यक छह नीतियों या गुणों का वर्णन करता है जिनका उपयोग राजा को विभिन्न राजनीतिक परिस्थितियों में करना चाहिए। ये नीतियां राज्य के सुरक्षा, समृद्धि और विस्तार के लिए आवश्यक हैं।

आचार्य कौटिल्य सात प्रकृति और बारह मण्डल को ही इस षाड्गुण्य का आधार मानते हैं।[25] ये छः गुण हैं 1. सन्धि, 2. विग्रह, 3. यान, 4. आसन, 5. संश्रय, 6. द्वैधीभाव।[26]

आचार्य इन छः गुणों को इसप्रकार परिभाषित करते हैं—

सन्धि	: पणबन्धः सन्धि।	: दो राजाओं का कुछ शर्तों पर मेल हो जाना।
विग्रह	: अपकारो विग्रहः	: शत्रु का कोई अपकार करना।
आसन	: उपेक्षणमासनम्।	: उपेक्षा करना।
यान	: अभ्युच्चयो यानं।	: चढ़ाई करना।
संश्रय	: परार्पणं संश्रयः।	: आत्मसमर्पण करना संश्रय है।
द्वैधीभाव	: सन्धिविग्रहोपादानं द्वैधीभावः।	: सन्धि और विग्रह दोनों से काम लेना।

निष्कर्ष

कौटिल्य का अर्थशास्त्र प्राचीन भारत की प्रशासनिक व्यवस्था का एक अत्यंत महत्वपूर्ण ग्रंथ है। इस ग्रंथ में वर्णित प्रशासनिक सिद्धांतों ने सदियों तक भारतीय उपमहाद्वीप के राज्यों को प्रभावित किया। कौटिल्य ने एक ऐसे राज्य की कल्पना की थी जो शक्तिशाली, समृद्ध और स्थिर हो। उन्होंने राज्य के विभिन्न पहलुओं, जैसे कि राजस्व संग्रह, न्याय प्रशासन, सेना का संगठन, और विदेश नीति आदि पर विस्तृत चर्चा की है।

इस अध्ययन से यह स्पष्ट होता है कि कौटिल्य का प्रशासनिक मॉडल अत्यंत व्यापक था। उन्होंने राज्य के विभिन्न अंगों के बीच समन्वय स्थापित करने पर विशेष बल दिया। उन्होंने भ्रष्टाचार को रोकने और कानून का शासन स्थापित करने के लिए प्रभावी उपाय सुझाए।

कौटिल्य के विचार आज भी प्रासंगिक हैं। आधुनिक प्रशासनिक व्यवस्थाओं में भी कौटिल्य के सिद्धांतों को लागू किया जा सकता है। वर्तमान में विद्यमान अनेक सामाजिक

समस्याओं जैसे भ्रष्टाचार, सरकारी कार्यों में लापरवाही, सामाजिक अशान्ति, संसाधनों का दुरुपयोग इत्यादि अनेक समस्याओं का समाधान कौटिल्य द्वारा सुझाए गए युक्तियों से किया जा सकता है। इसी तरह, कौटिल्य ने राज्य की सुरक्षा के लिए जो उपाय सुझाए थे, वे भी आज के संदर्भ में भी महत्वपूर्ण हैं।

***संस्कृत विभाग, हंसराज कॉलेज,**
दिल्ली विश्वविद्यालय, 110007
****शोधार्थी, संस्कृत विभाग,**
दिल्ली विश्वविद्यालय, दिल्ली-110007

सन्दर्भ सूची

1. गैरोला, वाचस्पति. कौटिल्य अर्थशास्त्र. पृ. 37
2. तथैव, पृ. 1
3. तथैव, पृ . 465
4. तथैव, पृ. 441
5. तत्र स्वामिसम्पत् महाकुलीनो दैवबुद्धि सत्त्वसम्पन्नों वृद्धदर्शी धार्मिकः .. । तथैव, पृ. 441
6. विद्याविनीतो राजा हि प्रजानां विनये रतः। अनन्यां पृथिवीं भुंक्तेसर्वभूतहिते रतः॥ तथैव, पृ. 15
7. तथैव, पृ. 18
8. परस्त्रीद्रव्यहिंसाश्च वर्जयेत्। पृ. 18
9. स्वप्नं लौल्यमनृतमुद्धतवेषत्वमनर्थसंयोगं च। पृ. 18
10. राज्ञों हि व्रतमुत्थानं यज्ञः कार्यानुशासनम्। दक्षिणा वृत्तिसाम्यं च दीक्षितस्याभिषेचनम्॥ पृ. 64
11. प्रजासुखे सुखं राज्ञः प्रजानां च हिते हितम्। नात्मप्रिय हितं राज्ञः प्रजानां तु प्रियं हितम्॥ पृ. 64
12. समाहर्त्ता चतुर्धा जनपदं विभज्य। पृ . 241
13. तत्प्रदिष्टः पंचग्रामीं दशग्रामीं वा गोपश्चिन्तयेत्। पृ. 241
14. अष्टदशतग्राम्या मध्ये स्थानीयं, चतुश्शतग्राम्या द्रोणमुखं, द्विशतग्राम्याः खार्वटिकं, दशग्रामीसंग्रहेण सङ्ग्रहणं स्थापयेत्। पृ. 77
15. समाहर्त्ता जनपदं चिंतयेदेवमुत्थितः। चिन्तयेयुश्च संस्थास्ताः संस्थाश्चान्याः स्वयोनयः॥ पृ. 244
16. तेषु चौतावच्चातुर्वर्ण्यमेतावन्तः कर्षकगोरक्षक-वैदेहकारुकर्मकरदासाश्चौतावच्चद्विपदचतुष्पदमिदं च हिरण्यविष्टिशुल्कदण्डं समुत्तिष्ठतीति। पृ. 242
17. कुलानां च स्त्रीपुरुषाणां बालवृद्धकर्मचरित्राजीव-व्ययपरिमाणं विद्यात्। पृ. 242
18. सहाय्साध्यं राजत्वं चक्रमेकं न वर्तते। कुर्वीत सचिवांस्त-स्मात्तेषां च शृणुयान्मतम्॥ पृ. 19
19. मर्यादां स्थापयेदाचार्यानमात्यान् वा। पृ. 19
20. सर्वोपधाशुद्धान मन्त्रिणः कुर्यात्। तथैव, पृ. 27
21. तथैव, पृ 441
22. स्वाम्यमात्यजनपददुर्गकोशदण्डमित्रव्यसनानां पूर्वं पूर्वं गरीय इत्याचार्याः। तथैव, पृ. 555
23. शुक्रनीति, 1.61-1.62
24. तस्मान्मित्रमरिमित्रं मित्रमित्रम् अरिमित्रमित्रं चानन्तर्येण भूमीनां प्रसज्यते पुरस्तात्। पश्चात्पार्ष्णिग्राह आक्रन्दः पार्ष्णिग्राहासार आक्रन्दासार इति। कौटिल्य-अर्थशास्त्र, पृ. 446
25. षाड्गुणस्य प्रकृतिमण्डलं योनिः। तथैव, पृ. 453
26. सन्धिविग्रहासनयानद्वैधीभावाः षाड्गुण्यमित्याचार्याः । तथैव, पृ. 453

प्रेमचंद के उपन्यासों में मानवीय मूल्य

अनीता चौहान

हिन्दी साहित्य के विकास में मुंशी प्रेमचंद का नाम अमिट अक्षरों में दर्ज है। उन्हें उपन्यास सम्राट कहा जाता है, क्योंकि उन्होंने हिन्दी कथा-साहित्य को न केवल यथार्थ का धरातल दिया, बल्कि उसमें समाज की आत्मा, मनुष्य की संवेदना और मानवीय मूल्यों का गहन चित्रण किया। प्रेमचंद के साहित्य में जीवन के सभी पहलू-गरीबी, अन्याय, शोषण, नारी की पीड़ा, किसान की दुर्दशा, नैतिक संघर्ष-सजीव रूप में उपस्थित हैं। उनके उपन्यासों का मूल उद्देश्य मात्र मनोरंजन नहीं, बल्कि समाज को सही दिशा दिखाना और मनुष्य के भीतर सुप्त मानवता को जाग्रत करना था।

प्रेमचंद हिन्दी साहित्य के ऐसे रचनाकार हैं जिन्होंने अपने लेखन के केंद्र में मनुष्य को स्थापित किया। उनके लिए जाति, धर्म या वर्ग से ऊपर मानवता थी। वे समाज को उसके वास्तविक रूप में प्रस्तुत करते हुए यह दिखाना चाहते थे कि मनुष्य का सबसे बड़ा गुण उसकी संवेदना और नैतिकता है। प्रेमचंद का साहित्य हमें यह सिखाता है कि जीवन की जटिल परिस्थितियों में भी यदि व्यक्ति अपने नैतिक मूल्यों पर अडिग रहता है, तो वही सच्चे अर्थों में मानव कहलाने योग्य है।

उनकी यह मानव-केंद्रित दृष्टि उनके सभी उपन्यासों में स्पष्ट दिखाई देती है। चाहे 'गोदान' का होरी हो, 'निर्मला' की निर्मला हो या 'रंगभूमि' का सूरदास। हर पात्र के भीतर दया, करुणा, त्याग, आत्मसम्मान और ईमानदारी जैसे गुण विद्यमान हैं। प्रेमचंद के पात्र किसी आदर्शवादी दुनिया में नहीं रहते, बल्कि यथार्थ के संघर्षों से जूझते हुए भी अपने भीतर की मानवता को जीवित रखते हैं। यही उनकी रचनाओं की सबसे बड़ी शक्ति है।

प्रेमचंद का मानना था कि साहित्य केवल मनोरंजन का साधन नहीं, बल्कि समाज के नैतिक उत्थान का माध्यम होना चाहिए। प्रेमचन्द लिखते हैं-''मेरा जीवन सपाट, समतल मैदान है, जिसमें गड्ढे तो कहीं-कहीं हैं, पर टीलो, पर्वतों, घने जंगलों, गहरी घाटियों और खंडहरों का स्थान नहीं है।''[1] यह वाक्य उनकी सोच और समाज के प्रति उनके दृष्टिकोण को स्पष्ट करता है। उन्होंने अपनी कहानियों और उपन्यासों में यह दिखाया कि सच्ची सभ्यता का आधार धन या पद नहीं, बल्कि मानवीय संवेदना और नैतिक चेतना है। उनके लेखन का उद्देश्य व्यक्ति के भीतर सोई हुई करुणा को जगाना और समाज को मानवीय दृष्टि से देखने की प्रेरणा देना था। प्रेमचंद का मानवीय दृष्टिकोण उनके सम्पूर्ण साहित्य का मूल तत्व है, जो हमें यह संदेश देता है कि मनुष्य की सच्ची पहचान उसकी इंसानियत में निहित है।

'गोदान' प्रेमचंद का अंतिम और सबसे परिपक्व उपन्यास है, जिसमें भारतीय किसान की दारुण स्थिति के साथ-साथ मानवीय मूल्यों की सबसे गहरी अभिव्यक्ति दिखाई देती है। उपन्यास का नायक 'होरी' साधारण किसान होते हुए भी अत्यंत नैतिक और धर्मनिष्ठ व्यक्ति है। वह अन्याय सह लेता है, परंतु दूसरों का बुरा नहीं चाहता। उसके भीतर का 'मनुष्य' समाज की कठोरता के बावजूद जीवित रहता है। डॉ. राजकुमार शर्मा अपनी पुस्तक 'प्रेमचन्द और यथार्थवादी परंपरा' में लिखते हैं- ''होरी' प्रेमचंद के उस आदर्शवाद का प्रतीक है, जो उन्हें 'प्रेमाश्रम' से 'कर्मभूमि' तक विश्वस्त बनाए रख सका। यह आदर्शवाद अब यथार्थ स्थिति की चट्टान से टकराकर चकनाचूर हो गया है। होरी सबको मानकर चलना चाहता है-धर्म को,

ईश्वर को, समाज को, व्यक्ति के पारिवारिक कर्तव्य को, परन्तु वह चल नहीं पाता। सभी के नाम पर वह शोषित है। पंडा-पुरोहित, समाज के नेता और कर्णधार, उसके भाई-भावज सब उसे छलते हैं और छलों का यह खेल खेलते-खेलते एक दिन उसकी जान चली जाती है।''[2]

प्रेमचंद अपने मुख्य चरित्र होरी के माध्यम से मानवीय मूल्यों को बनाए रखते हैं। 'गोदान' में होरी अपने विद्रोही होते पुत्र को समझाता है-''फिर मरजाद भी तो पालना पड़ता है। खेती में जो मरजाद है, वह नौकरी में तो नहीं है।''[3] प्रेमचंद के उपन्यास 'गोदान' में होरी का चरित्र भारतीय किसान की आत्मा का प्रतिनिधित्व करता है। वह आर्थिक तंगी, सामाजिक अन्याय और पारिवारिक संघर्षों के बीच भी अपने नैतिक मूल्यों और परंपरागत मर्यादाओं को नहीं छोड़ता। होरी का यह कथन केवल सामाजिक अनुशासन की बात नहीं करता, बल्कि जीवन के प्रति उसकी जिम्मेदारी और नैतिक प्रतिबद्धता को दर्शाता है। वह भले ही शोषित है, लेकिन उसके भीतर की मनुष्यता जीवित रहती है। वह हर परिस्थिति में दूसरों के प्रति करुणा और कर्तव्य भावना बनाए रखता है। प्रेमचंद ने होरी के माध्यम से यह बताया कि सच्चे मानवीय मूल्य बाहरी सफलता में नहीं, बल्कि ईमानदारी, सहनशीलता और मर्यादा के पालन में निहित हैं।

होरी की सबसे बड़ी इच्छा है-एक गाय का गोदान करना, जो उसकी धार्मिक आस्था का प्रतीक है। किंतु इसके पीछे केवल धर्म नहीं, बल्कि जीवन की मानवता है। वह दूसरों के दुख में सहभागी बनता है, अपनी बहू झुनिया को अपनाकर समाज की रूढ़ियों के विरुद्ध खड़ा होता है। प्रेमचंद ने दिखाया कि सच्चे मानवीय मूल्य धर्म के बाहरी आडंबरों में नहीं, बल्कि इंसानियत के भीतर बसे करुणा और न्याय में हैं। ''होरी सोचता है आज यदि वह संयुक्त परिवार का नायक होता, तो उसे कितनी प्रसन्नता होती।''[4] प्रेमचंद के उपन्यास 'गोदान' में होरी का चरित्र मानवीय मूल्यों की जीवंत प्रतिमूर्ति के रूप में उभरता है। वह एक साधारण किसान है, परंतु उसके भीतर जो करुणा, सहिष्णुता और नैतिकता है, वही प्रेमचंद के मानवतावाद की आत्मा बन जाती है। प्रेमचंद ने यह स्पष्ट किया कि सच्चे मानवीय मूल्य धर्म के बाहरी आडंबरों या सामाजिक प्रतिष्ठा में नहीं, बल्कि इंसान के भीतर बसे न्याय, करुणा और आत्मिक सादगी में निहित हैं।

जब होरी संयुक्त परिवार के बारे में सोचता है तो यह केवल उसकी व्यक्तिगत आकांक्षा नहीं, बल्कि परिवार और समाज में एकता की उस भावना की अभिव्यक्ति है, जो धीरे-धीरे टूटती जा रही है। शोभा और हीरा उसके सगे भाई हैं, फिर भी स्वार्थ और संपत्ति के विवादों ने उन्हें एक-दूसरे से दूर कर दिया है। इस परिस्थिति में होरी का मन दुखी होता है, क्योंकि वह भौतिक लाभ से अधिक आत्मीय संबंधों की महत्ता को समझता है। प्रेमचंद ने होरी के माध्यम से यह संदेश दिया कि मनुष्य का सच्चा धर्म करुणा और सहयोग में है, न कि धार्मिक कर्मकांडों या सामाजिक प्रतिष्ठा में। होरी का मित-लोभ, उसकी सादगी और दूसरों के प्रति उदार दृष्टिकोण इस बात के प्रतीक हैं कि इंसानियत तब तक जीवित रह सकती है, जब तक मनुष्य अपने भीतर की करुणा और संतोष को जीवित रखे। यही प्रेमचंद के साहित्य में मानवीय मूल्यों की सार्थक अभिव्यक्ति है।

प्रेमचंद का उपन्यास 'निर्मला' नारी के जीवन की त्रासदी को मानवीय दृष्टि से प्रस्तुत करता है। सामाजिक अन्याय और दहेज जैसी प्रथाओं के कारण निर्मला का जीवन दुखों से भर जाता है। किंतु उसके भीतर की सहनशीलता, करुणा और परिवार के प्रति त्याग की भावना प्रेमचंद की मानवता की सबसे बड़ी पहचान है।

निर्मला के चरित्र में त्याग, आत्म-बलिदान, आदर्श माँ, सहनशीलता एवं अन्य मानवीय संवेदनाओं के साथ ही उच्चादर्श भी हैं। वह अंतिम समय में सामाजिक कुप्रथा का निषेध करती है। वह ननद के हाथों में अपनी बच्ची सौंपते हुए कहती है-''बच्ची को आपकी गोद में छोड़े जाती हूँ। अगर जीती-जागती रहे तो किसी अच्छे कुल में विवाह कर दीजिएगा। मैं तो इसके लिए अपने जीवन में कुछ न कर सकी, केवल जन्म देने भर की अपराधिनी हूँ। चाहे क्वाँरी रखिएगा, चाहे विष देकर मार डालिएगा पर कुपात्र के गले न मढ़िएगा।''[5] निर्मला की सारी वेदना, सारा विद्रोह इन शब्दों में मूर्त हुआ है। निर्मला की कहानी केवल एक नारी की नहीं, बल्कि उस समाज की है जो अपनी परंपराओं की जकड़ में मानवीय संवेदना को भूल गया है। प्रेमचंद ने इस उपन्यास के माध्यम से यह संदेश दिया कि सच्चे मानवीय मूल्य तभी फलते हैं, जब समाज स्त्री-पुरुष के बीच समानता और सहानुभूति का संबंध स्थापित करे।

निर्मला भारतीय नारी के त्याग, सहनशीलता और करुणा की मूर्ति के रूप में प्रस्तुत होती है। उसका जीवन सामाजिक कुप्रथाओं-विशेषत: दहेज प्रथा का शिकार बनकर त्रासदी में

बदल जाता है। फिर भी वह हर परिस्थिति में अपने कर्तव्य, आदर्श और मातृत्व की मर्यादा को निभाती है। निर्मला के चरित्र में प्रेमचंद ने नारी की उस मानवीय गरिमा को अभिव्यक्त किया है, जो दर्द सहकर भी दूसरों के लिए शुभकामना रखती है।

निर्मला का यह आत्मबलिदान केवल व्यक्तिगत दु:ख का परिणाम नहीं, बल्कि सामाजिक परिवर्तन की पुकार है। प्रेमचंद ने उसके माध्यम से यह दिखाया कि सच्चे मानवीय मूल्य स्त्री के त्याग, करुणा और आत्म-सम्मान में निहित हैं। निर्मला मरकर भी समाज को यह सिखा जाती है कि मानवता तभी सुरक्षित है जब स्त्री के सम्मान और स्वतंत्रता को मान्यता दी जाए।

'सेवासदन' प्रेमचंद का प्रारंभिक उपन्यास है, जिसमें स्त्री-जीवन के नैतिक संघर्ष को मानवीय दृष्टि से देखा गया है। उपन्यास की नायिका 'सुमन' सामाजिक बंधनों से जूझती हुई अंतत: आत्मोद्धार का मार्ग चुनती है। प्रेमचंद ने इस उपन्यास के माध्यम से यह बताया कि मनुष्य की सबसे बड़ी शक्ति उसकी नैतिक चेतना है, जो उसे अंधकार से प्रकाश की ओर ले जाती है।

सुमन 'सेवासदन' की प्रमुख नायिका है। सुमन बड़ी रूपगर्विता नारी है। प्रेमचंद उसके स्वभाव का वर्णन इस प्रकार करते हैं-''बड़ी लड़की सुमन सुन्दर, चंचल और अभिमानिनी थी। छोटी लड़की शांता भोली, गंभीर, सुशील थी। सुमन दूसरों से बढ़कर रहना चाहती थी। यदि बाजार से दोनों बहनों के लिए एक ही प्रकार की साड़ियाँ आतीं तो सुमन मुँह फुला लेती थी।''[6] प्रेमचंद के उपन्यास 'सेवासदन' की नायिका सुमन एक जटिल किन्तु जीवंत चरित्र है, जिसमें बाह्य सौंदर्य के साथ-साथ आंतरिक मानवीय मूल्य भी समाहित हैं। प्रेमचंद ने सुमन के चरित्र विकास के माध्यम से यह दिखाया कि जीवन का सच्चा मूल्य बाहरी रूप, वैभव या प्रतिष्ठा में नहीं, बल्कि आत्मबोध और नैतिकता में है।

सुमन का यह परिवर्तन प्रेमचंद की मानवीय दृष्टि का उत्कृष्ट उदाहरण है। उन्होंने दिखाया कि हर मनुष्य में सुधार और पुनर्जन्म की संभावना होती है। सुमन का सौंदर्य जहाँ भौतिक आकर्षण का प्रतीक है, वहीं उसका अंतर्मन करुणा, प्रायश्चित और सेवा की भावना का द्योतक है। उपन्यास के अंत में सुमन केवल एक स्त्री नहीं रह जाती, बल्कि एक ऐसी मानवीय चेतना का प्रतीक बन जाती है, जो स्वार्थ और वासना से ऊपर उठकर लोकमंगल की भावना में विलीन हो जाती है। उपन्यास के अन्त में सुमन का जो रूप प्रेमचंद ने उपस्थित किया है, उसके द्वारा जिस जीवन-दर्शन तथा नैतिकता का उन्होंने प्रतिपादन किया है, वह उसके चरित्र का आन्तरिक पक्ष है। वह वेश्या को दुश्चरित्र और कुल्टा समझती थी और खुद को समझती है कि, ''मैं दरिद्र सही, दीन सही, पर अपनी मर्यादा पर दृढ़ हूँ, किसी भले मानुष के घर में मेरी रोक तो नहीं, कोई मुझे नीच तो नहीं समझता।''[7] सुमन का परिवर्तन केवल एक स्त्री का उत्थान नहीं, बल्कि पूरे समाज में नैतिक मूल्यों के पुनर्जागरण का प्रतीक है। प्रेमचंद का यह दृष्टिकोण बताता है कि मानवता तब ही बच सकती है, जब समाज व्यक्ति को सुधारने का अवसर दे, न कि उसे दंडित करने में ही अपनी शक्ति लगाए।

'रंगभूमि' में प्रेमचंद ने भौतिकवाद और आध्यात्मिकता के संघर्ष को प्रस्तुत किया है। उपन्यास का नायक 'सूरदास' एक अंधा भिखारी बाह्य दृष्टि से कमजोर है, किंतु उसके भीतर असाधारण नैतिक शक्ति है। वह अपने गाँव की भूमि को पूँजीपतियों से बचाने के लिए संघर्ष करता है। सूरदास का चरित्र इस बात का प्रतीक है कि सच्चा बल धन या सत्ता में नहीं, बल्कि आत्मबल और सत्यनिष्ठा में निहित है।

जब नायकराम व बजरंगी धन की लालच में आकर सूरदास का साथ छोड़ देते हैं तब 'सूरदास' कहता है-''अब न्याय के बल पर लडूंगा, भगवान् ही का भरोसा करूंगा।... जिधर न्याय है, उधर किसी की मदद की इतनी जरूरत भी नहीं है। मेरी चीज है, बाप-दादों की कमाई है, किसी दूसरे का उस पर अख्तियार नहीं है। अगर जमीन गयी, तो उसके साथ मेरी जान भी जाएगी।''[8] सूरदास' अपनी जमीन को पुरखों की यादगार समझता है, वह मरने से पहले वहाँ अपनी यादगार में कुछ बनाकर छोड़ जाना चाहता है।

प्रेमचंद ने सूरदास के माध्यम से यह सिखाया कि मानवीय मूल्यों का आधार अहिंसा, सत्य और आत्मबल हैं। भले ही संसार उसके विरुद्ध हो, किंतु जो व्यक्ति अपने नैतिक आदर्शों पर अडिग रहता है, वही सच्चा मनुष्य है। सूरदास प्रेमचंद के आदर्शों का प्रतिरूप है। सूरदास की उस अस्थिपिंजर देह में स्पन्दित हृदय प्रेमचंद का है। वास्तविक आधार पर प्रेमचंद की चेतना और संस्कार के द्वन्द से उसका निर्माण हुआ है। प्रेमचंद सूरदास से यही तो कहलवाते हैं-''मैं हाकिमों को दिखा देता कि एक दीन अंधा आदमी एक फौज को कैसे पीछे

हटा देता है, तोप का मुंह कैसे बंद कर देता है, तलवार की धार कैसे मोड़ देता है। मैं धरम के बल से लड़ना चाहता था।''[9] सूरदास एक ऐसा चरित्र है जो प्रेमचंद के मानवीय आदर्शों का जीवंत प्रतीक बनकर उभरता है। अंधा, गरीब और असहाय होने के बावजूद सूरदास के भीतर अपार आत्मबल और नैतिक दृढ़ता है। वह किसी भी अन्याय या शोषण के सामने झुकता नहीं। प्रेमचंद ने उसके माध्यम से यह सिखाया कि सच्चे मानवीय मूल्य बाहरी शक्ति या संपत्ति में नहीं, बल्कि सत्य, अहिंसा और आत्मबल में निहित हैं। सूरदास की अंधता उसके शारीरिक दुर्बलता का प्रतीक नहीं, बल्कि उस अंतर्दृष्टि का प्रतीक है जो प्रेमचंद के मानवतावाद की आत्मा है। उसके हृदय में स्पंदित करुणा, सत्य के प्रति आस्था और धर्मबल से संघर्ष करने का साहस, प्रेमचंद के मानवीय मूल्यों की चरम अभिव्यक्ति है।

'कर्मभूमि' में प्रेमचंद ने सामाजिक और राजनीतिक चेतना को मानवीय दृष्टि से जोड़ा है। उपन्यास का नायक 'अमरकांत' शिक्षा प्राप्त युवक है, जो अपने जीवन का अर्थ समाज की सेवा में खोजता है। वह मानता है कि मनुष्य का धर्म केवल अपने लिए जीना नहीं, बल्कि समाज के कल्याण में योगदान देना है।

प्रेमचंद के समस्त उपन्यासों में करुणा एक केंद्रीय तत्व के रूप में विद्यमान है। वे समाज के सबसे उपेक्षित वर्गों- किसानों, मजदूरों, स्त्रियों, निम्नवर्गीय लोगों के जीवन को मानवीय दृष्टि से देखते हैं। उनके पात्र त्रासद परिस्थितियों में भी दूसरों के दुख को समझते हैं। यह सह-अस्तित्व की भावना प्रेमचंद की मानवीय दृष्टि का सबसे सुंदर रूप है।

आज के युग में, जब भौतिकता और स्वार्थपरता बढ़ रही है, प्रेमचंद के उपन्यास और भी प्रासंगिक हो उठते हैं। उन्होंने जो मूल्य प्रस्तुत किए सहानुभूति, नैतिकता, न्याय, समानता वे आज भी समाज की आवश्यकता हैं। उनके पात्र हमें यह स्मरण कराते हैं कि तकनीकी प्रगति के बावजूद अगर हम अपने भीतर की मानवता खो देंगे, तो जीवन का वास्तविक अर्थ समाप्त हो जाएगा। प्रेमचंद का साहित्य हमें आत्ममंथन के लिए प्रेरित करता है। वह कहता है कि समाज की सबसे बड़ी शक्ति उसका नैतिक चरित्र है, और अगर वह कमजोर पड़ जाए तो किसी भी बाहरी विकास का कोई अर्थ नहीं रह जाता।

प्रेमचंद के उपन्यास केवल साहित्यिक कृतियाँ नहीं हैं, बल्कि वे भारतीय समाज का नैतिक दस्तावेज हैं। उन्होंने अपने लेखन के माध्यम से यह दिखाया कि जीवन का सार भौतिक संपन्नता में नहीं, बल्कि मानवीय मूल्यों के संरक्षण में निहित है। उनके पात्र हमें यह सिखाते हैं कि मनुष्य को परिस्थितियाँ नहीं, उसके आदर्श महान बनाते हैं।

शोधार्थी
हिन्दी साहित्य,
लॉर्ड्स विश्वविद्यालय, अलवर, राजस्थान

*** शोध निर्देशक**
डॉ. प्रदीप कुमार

सन्दर्भ सूची

1. प्रेमचंद, साहित्य का उद्देश्य, साक्षी प्रकाशन, दिल्ली-1991, पृ.-10
2. डॉ. राजकुमार शर्मा, 'प्रेमचन्द और यथार्थवादी परम्परा', नवभारत प्रिटिंग प्रेस, दिल्ली, संस्करण-1993, पृ.-148
3. प्रेमचंद, गोदान, प्रकाशन संस्थान, नई दिल्ली-2009, पृ.-44
4. प्रेमचंद, गोदान, प्रकाशन संस्थान, नई दिल्ली-2009, पृ.-87
5. प्रेमचंद, निर्मला, विजय प्रकाशन मन्दिर, वाराणसी-1997, पृ.-126
6. प्रेमचंद, सेवासदन, प्रकाशन संस्थान, नई दिल्ली-2009, पृ.-6
7. प्रेमचंद, सेवासदन, प्रकाशन संस्थान, नई दिल्ली-2009, पृ.-6
8. प्रेमचंद, रंगभूमि, डायमंड पश्वकेट बुक्स लि. नई दिल्ली-2009, पृ.-45
9. प्रेमचंद, रंगभूमि, डायमंड पॉकेट बुक्स लि. नई दिल्ली-2009, पृ.-51

वैदिक संहिता व बृहत्त्रयी में शस्त्रास्त्र विज्ञान

सूरज

प्रस्तावना

वेद समस्त ज्ञान-विज्ञान की कुञ्जी है। वेद आर्यजाति के प्राण है। ये मानवमात्र के लिए प्रकाश स्तम्भ और शक्ति के स्रोत है। विश्व को संस्कृति का ज्ञान देने का श्रेय वेदों को है। वेद ही विश्वबन्धुत्व, विश्व कल्याण और विश्वशान्ति के प्रथम उदघोषक है। वेद ही मानवमात्र के लिए विकास का मार्ग प्रशस्त करते हुए सुख और शान्ति की स्थापना कर सकते हैं। वेदों के विषय में मनु का यह कथन सारगर्भित है कि-'**सर्वज्ञानमयो हि सः' (मनु. 2.7)** अर्थात् वेदों में सभी विद्याओं के सूत्र विद्यमान है। वेदों में जहाँ धर्म, आचारशिक्षा, नीतिशिक्षा, सामाजिक जीवन, राजनीतिशास्त्र, अर्थशास्त्र, आयुर्वेद आदि से संबद्ध पर्याप्त सामग्री उपलब्ध है, वहीं विज्ञान के विविध अंगों से संबद्ध सामग्री भी प्रचुर मात्रा में उपलब्ध है। वेदों में भौतिकी, रसायन विज्ञान, वनस्पतिशास्त्र, जन्तुविज्ञान, प्रौद्योगिकी, कृषि, गणितशास्त्र, ज्योतिषशास्त्र, वृष्टिविज्ञान, पर्यावरण एवं भूगर्भविज्ञा, शस्त्रास्त्र विज्ञान से संबद्ध सामग्री बहुलता से प्राप्य है।

वैदिक काल से ही भारतीय अस्त्र-शस्त्र विद्या में निपुण थे। उन्होंने अध्यात्म-ज्ञान के साथ-साथ दुष्टों के दमन के लिये सभी अस्त्र-शस्त्रों की भी सृष्टि की थी। यह शक्ति धर्म-स्थापना में सहायक होती थी। प्राचीन काल से ही विविध अस्त्र-शस्त्रों का उपयोग होता था। अस्त्र उसे कहते हैं, जिसे मन्त्रों के द्वारा दूरी से फेंकते हैं। वे अग्नि, गैस और विद्युत् तथा यान्त्रिक उपायों से चलते हैं। शस्त्र खतरनाक हथियार हैं, जिनके प्रहार से चोट पहुँचती है और मृत्यु होती है। ये हथियार अधिक उपयोग किये जाते हैं। यथा-**अमुक्ता**- वे शस्त्र जो फेंके नहीं जाते थे, **मुक्ता**-वे शस्त्र जो फेंके जाते थे, **मुक्तामुक्त**-

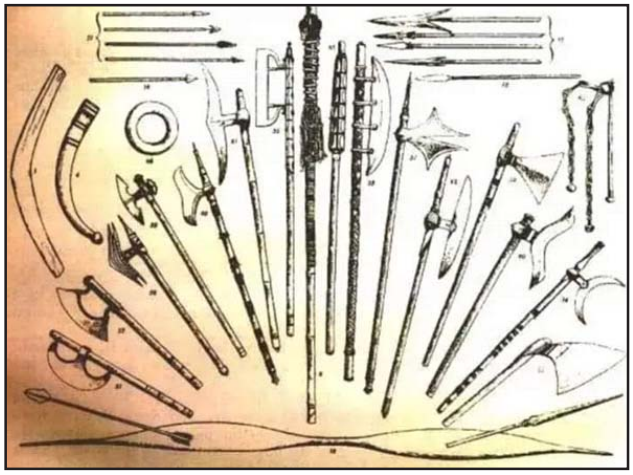

वह शस्त्र जो फेंककर या बिना फेंके दोनों प्रकार से प्रयोग किए जाते थे तथा **मुक्तसंनिवृत्ती** -वे शस्त्र जो फेंककर लौटाए जा सकते थे। अस्त्रों को दो विभागों में बाँटा गया है- वे आयुध जो मन्त्रों से चलाये जाते हैं- ये दैवीय हैं। प्रत्येक शस्त्र पर भिन्न-भिन्न देव या देवी का अधिकार होता है और मन्त्र-तन्त्र के द्वारा उसका संचालन होता है। वस्तुतः इन्हें दिव्य तथा मान्त्रिक-अस्त्र कहते हैं। वेदों में अस्त्र (Missile) के लिए हेति और मेनि शब्द है। दिव्य अस्त्रों का प्रभाव असाधारण होता था । ये प्राकृतिक शक्तियों से जन्य होते थे, जैसे - विद्युत्, अग्नि, वायु आदि से जन्य अथवा किसी देवता या ऋषि द्वारा प्रदत्त होते थे। शस्त्रास्त्रों का प्रयोग अट्ठारह दिनों तक चलने वाले महाभारत युद्ध में भी किया गया। महर्षि उसना अस्त्र की परिभाषा देते हुए कहते हैं- **अस्यते क्षिप्यते यस्तु यन्त्राग्निमिश्चतदस्त्रम्। अस्त्रं द्विविधिज्ञेयं नालिक मांत्रिक तथा॥** ***(शुक्रनीति- 6 प्र. 4/191)*** इन शस्त्रास्त्र का वर्णन विविध ग्रन्थों में भी प्राप्त होता है। कौटिल्य ने अर्थशास्त्र में

शस्त्रास्त्रों के विषय में कुछ उपयोगी बातें दी हैं। इस ग्रंथ में यंत्रों द्वारा चालित अस्त्रों को दो भागों में बाँटा है- स्थितयंत्र और चलयंत्र। अर्थशास्त्र में स्थितयंत्र वे अस्त्र हैं, जिसकी मशीन एक ही स्थान पर रहती है। चलयंत्र वे हैं, जिनकी मशीन इधर-उधर ले जाई जा सकती है। आधुनिक युग में भी सम्पूर्ण विश्व विविध प्रकार के शस्त्रास्त्र के निर्माण में लगे हुए है। यदि शस्त्रास्त्र का प्रयोग सुरक्षा के दृष्टि से करें तो यह सार्थक सिद्ध है अन्यथा ये एक अभिशाप हैं।

शस्त्रास्त्र विज्ञान का श्लोक सहित सम्पूर्ण परिचय

वैदिक काल से ही भारतीय अस्त्र-शस्त्र विद्या में निपुण थे। उन्होंने अध्यात्म-ज्ञान के साथ-साथ दुष्टों के दमन के लिये सभी अस्त्र-शस्त्रों की भी सृष्टि की थी। यह शक्ति धर्म-स्थापना में सहायक होती थी। इन अस्त्र-शस्त्रों का वर्णन बृहत्त्रयी संज्ञक किरातार्जुनीय, शिशुपालवध और नैषधीयचरित में भी प्राप्त होता हैं। जिसका वर्णन इस प्रकार है-

जब भी राजा नल दिग्विजय के लिये यात्रा प्रारम्भ करते हैं तब उस समय शस्त्र रूपी सेना का प्रयोग करते हैं। उनका शस्त्र अत्यन्त तीक्ष्ण है। इसका वर्णन इस प्रकार लेखक करते है मानो जैसे सैनिकों के पैरों से उड़ी हुई धूलि क्षीरसागर में गिरकर कीचड़ बन जाती है। क्षीरसागर से उत्पन्न चन्द्रमा में वह कीचड़ लग जाती है और वही कलङ्क के रूप में दृष्टिगोचर होती है। इस वर्णन से यह स्पष्ट हो जाता है कि राजा नल की शस्त्र रूपी सेना अत्यधिक है और वह समुद्र-पर्यन्त विजय प्राप्त कर चुकी है-

यदस्य यात्रासु बलोद्धतं रजः
स्फुरत्प्रतापानलधूममज्जिम्।
तदेव गत्वा पतितं सुधाम्बुधौ
दधाति पङ्कीभवदङ्कतां विधौ॥

नैषधचरितम् 1.8

राजा नल चतुर्दश विद्याओं में पारंगत थे। उन्होंने इन चौदह विद्याओं को अध्ययन विधिवत रूप से प्राप्त किया। उन्हीं विद्याओं में से राजा नल युद्ध-विद्या में अत्यन्त निपुण थे। युद्ध-विद्या में विभिन्न प्रकार के शस्त्रास्त्रों का ज्ञान कराया जाता हैं।

अधीतिबोधाचरणप्रचराणै दशाश्चतस्रः
प्रणयन्नुपाधिमिः।
चतुर्दशत्वं कृतवान् कुतः स्वयं न
वेद्मि विद्यासु चतुर्दशस्वयम्॥ *नैषधचरितम् 1.4*

राजा नल की निपुणता के परिणामस्वरूप युद्ध में तलवारों के प्रहार से शत्रु मृत्यु को प्राप्त होते थे। इससे राजा नल का यश दिशाओं के अन्त तक फैलता था-

सितांशुवर्णैर्वयतिस्म तद्गुणैर्महासिवेम्न-
स्सहकृत्वरी बहुम्।
दिगङ्गनाङ्गाभरणं रणाङ्गणे यशः पटं
तद्भटचातुरी तुरी॥

नैषधचरितम् 1.12

सहायक, कार्यसिद्धि के उपाय, देशकालविभाग, विपत्तिप्रतीकार, कार्यसिद्धि नामक पञ्च अङ्गों से युक्त राजनीति को भी सुचारु रूप से सञ्चालन हेतु शस्त्रास्त्र रूपी चतुरङ्गसेना मूल कारण होती है। इन शस्त्रास्त्र ज्ञान का राजनीति के संधि-विग्रह इत्यादि अवश्य करणीय कार्यों में महत्त्वपूर्ण योगदान होता है।

प्रभवः खलु कोशदण्डयोः कृतपञ्चाङ्गविनिर्णयो नयः।
स विधेयपदेषु दक्षतां निर्यात लोक इवानुरुध्यते॥

किरातार्जुनीय 2.12

आदिकवि वेदव्यास जी धर्मराज युधिष्ठिर को शस्त्रास्त्र का ज्ञान देते हुए कहते हैं कि पराक्रम से ही तुम पृथ्वी रूपी राज्य पा सकते हो। पराक्रम, शस्त्रास्त्र एवं सेना में तुम्हारे विपक्षी तुमसे कहीं अधिक है; अतः अपने सामर्थ्य के लिए आपको उपाय करना चाहिए। क्योंकि संग्राम में जयलक्ष्मी बलवान के ही हाथ लगती है। इससे स्पष्ट होता है कि महाभारत काल में भी दिग्विजय हेतु शस्त्रास्त्र आवश्यक होता था-

लभ्या धरित्री तव विक्रमेण ज्यायांश्च
वीर्यास्त्रबलैर्विपक्षः।
अतः प्रकर्षाय विधिर्विधेयः प्रकर्षतन्त्रा
हि रणे जयश्रीः॥ *किरातार्जुनीयम् 3.17*

पितामह भीष्म भी शस्त्रास्त्र ज्ञान में विशेष रूप से धनुर्विद्या में अद्भुत योद्धा थे। यमराज भी जिन भीष्म के विषय में असमर्थ होने से अपने में दुःख का अनुभव करते हुए पराभूत से दीख पड़ते हैं। वे स्वेच्छापूर्वक शरीर त्यागने में समर्थ भीष्म रण में बाण चलाते हुए सभी लड़ाकू का मन भयभीत कर देते हैं-

यस्मिन्ननैश्चर्यकृतव्यलीकः पराभवं प्राप्त
इवान्तकोऽपि।
धुन्वन्धनुः कस्य रणे न कुर्यान्मनो
भयैकप्रवणं स भीष्मः॥ *किरातार्जुनीयम् 3.19*

योद्धा गुरु कृपा से ही विविध शस्त्रास्त्र विद्या का ज्ञान प्राप्त कर सकता था। जैसे साक्षात् महारथी कर्ण ने भी जिन्होंने शस्त्रास्त्र विद्या हेतु परशुराम की शुश्रूषा की है तथा जिसके कोप से शत्रुओं का धैर्य जाता-सा रहा, ऐसे कर्ण को देखकर तो मृत्यु का भी सर्वया अज्ञात भय से परिचय होने लगता है अर्थात् मृत्यु भी डरने लगती है-

निरीक्ष्य संरम्भनिरस्तधैर्य राधेयमाराधितजामदग्न्यम्।
असंस्तुतेषु प्रसभं भयेषु जायेत मृत्योरपि पक्षपातः॥

किरातार्जुनीयम् 3.21

शस्त्रास्त्र विद्या प्राप्ति के पश्चात् योद्धा और भी अधिक उत्साहित एवं विश्वासयुक्त हो जाता है और युद्ध के समय में प्रत्यञ्चा की ध्वनि एवं रणक्रिया दर्शनीय हो जाता है। जैसे तलवार सहित दो तर्कस, धनुष आदि शस्त्रास्त्र लिए हुए अर्जुन जब रण में प्रवेश करते तो उनके शस्त्रास्त्र विद्या के कारण ही सामने आते ही सभी शत्रुओं का विनाश हो जाता हैं-

अविलङ्घ्यविकर्षणं परैः प्रथितज्यारवकर्म कार्मुकम्।
अगतावरिदृष्टिगोचरं शितनिस्त्रिंशयुजौ महेषुधीः॥

किरातार्जुनीयम् 3.57

युद्ध पर जाने से पूर्व योद्धा भी अपने सभी शस्त्रास्त्र के धार को तीव्र किया करते हैं। जैसे- देवताओं ने हिरण्यकशिपु की आशङ्का से केवल दिखावट के लिए विद्यमान नगरों को खाई आदि के द्वारा चारों ओर से दुर्ग बना दिया, हथियारों को तेज किया तथा सेनाओं को शौर्य-युक्त तथा लौहकवचों को दुर्भेद्य एवं सुदृढ़ बनाया-

पुराणि दुर्गाणि निशातमायुधं बखानि
शुरासि पना कयुकाः।
स्वरूपशोभैकफलानि नाकिनां गणैर्यमाशङ्क्य
तदादि चक्रिरे॥

शिशुपालवध 1.45

विविध प्रकार के शस्त्रास्त्र-

दिव्य अस्त्र

वेदों में अस्त्र (Missile) के लिए हेति और मेनि शब्द है। दिव्य अस्त्रों का प्रभाव असाधारण होता था। ये प्राकृतिक शक्तियों से जन्य होते थे, जैसे - विद्युत्, अग्नि, वायु आदि से जन्य अथवा किसी देवता या ऋषि द्वारा प्रदत्त होते थे। इन दिव्य अस्त्रों का उल्लेख वेदों में मिलता है -

(1) आग्नेय अस्त्र या अग्निबाण : आग्नेय अस्त्र को अग्निबाण भी कहते थे। इसके प्रयोग से जलती हुयी आग चारों ओर फैल जाती थी। यह अग्नि के साथ धुआँ भी फेंकता था, जिससे शत्रु बेहोश हो जाते थे। अथर्ववेद में वर्णन है कि आग्नेय अस्त्र के प्रयोग से शत्रु बेहोश हो गए और इन्द्र ने उनके सिर काट लिए। इनके प्रयोग से आँख से अन्धा होने का भी वर्णन है। शत्रु अन्धे हो गए और सेना पराजित हो गई। **तेषां वो अग्निमूढानाम् इन्द्रो हन्तु वरंवरम्।** *अथर्ववेद 6.67.2* **चक्षूंषि - अग्निरादत्तां पुनरेतु पराजिता।** *अथर्ववेद 3.1.6*

(2) वायव्य अस्त्र- इसको मारुत अस्त्र भी कहते हैं। इसके प्रयोग से आंधी जैसी तेज हवा चलने लगती थी और शत्रु किंकर्तव्यविमूढ़ हो जाते थे। अथर्ववेद में वर्णन है कि इन्द्र इस अस्त्र के प्रयोग से शत्रुओं को इधर-उधर भगा दे। **अग्नेर्वातस्य ध्राज्या तान् विषूचो वि नाशय।**

अथर्ववेद 3.1.5

(3) पाशुपत अस्त्र : इसको रुद्रास्त्र भी कहते हैं। पशुपति या रुद्र शिव का नाम है। ऋग्वेद और यजुर्वेद में रुद्र के इस अस्त्र का वर्णन है और इससे बचाव की प्रार्थना की गई है। (यजु. 16.50) **परि णो हेती रुद्रस्य वृज्याः।** *ऋग्. 2.33.14*

(4) ब्रह्मास्त्र : यह ब्रह्मा का अस्त्र माना जाता था। इसकी प्रहारक शक्ति असाधारण थी। इसकी कोई काट नहीं थी। अथर्ववेद में कहा गया है कि यह सबसे बड़ा प्रहारक है। यह अस्त्र घोर तपस्या का फल है।

ब्रह्मणो हेते तपसश्च हेते। मेन्या मेनिरसि.।

अथर्ववेद 5.6.9

(5) वारुण अस्त्र या वरुण के पाश : ऋग्वेद, यजुर्वेद और अथर्ववेद में इसका उल्लेख है। ये नागपाश अर्थात् साँप की तरह मनुष्य को लिपट कर बांध लेते थे और पापी को जकड़ कर मार देते थे। (ऋग्. 1.24.15. यजु. 12.12) ये ते **पाशा वरुण सप्तसप्त.।** *अथर्व. 4.16.6*

(6) सम्मोहन अस्त्र : अथर्ववेद में उल्लेख है कि इस अस्त्र के प्रयोग से शत्रुसेना को बेहोश कर दिया जाता था और उसके हाथ काट लिए जाते थे। **अग्निः..... ... स सेनां मोहयतु परेषां निर्हस्तान् च कृणवत्।** *अथर्व. 3.1.1*

(7) तामस अस्त्र : चारों वेदों में इसका उल्लेख है। यह अस्त्र अश्रुगैस (Tear Gas) के तुल्य होता था। वह चारों ओर धुआँ फैला देता था। धुएँ से चारों ओर अंधेरा हो जाता था। शत्रुसेना के सैनिकों का दम घुटने लगता था और वे किंकर्तव्यविमूढ़ होकर इधर-उधर भागने लगते थे। इसके लिए कहा गया है कि इससे शत्रुसेना के सैनिक एक-दूसरे को

पहचान नहीं पाते थे। इस अस्त्र का दूसरा नाम 'अप्वा' भी था। यह अंगों को शिथिल कर देता था। त्रिषन्धि सेनापति ने इस अस्त्र के प्रयोग से सारी शत्रुसेना को नष्ट किया था। (ऋग. 10.103.12, यजु. 17.44; अथर्व. 3.2.5, 11.10.19) **तां विध्यत तमसापव्रतेन, यथैषामन्यो अन्यं न जानात्। *अथर्व. 3.2.6 : यजु. 17.47***

(8) ऐन्द्र अस्त्र या वज्र : चारों वेदों के सैकड़ों मंत्रों में वज्र की चर्चा है। यह इन्द्र का प्रमुख अस्त्र है। यह अयस् अर्थात् उत्तम कोटि के लोहे या फौलाद का बना हुआ होता था। इन्द्र के वज्र में तीन संधि या जोड़ थे, अत: इसे त्रिषन्धि कहते थे। इन्द्र के वज्र को हजार नोक वाला बताया गया है। (ऋग. 1.57.6, 1.85.9 अथर्व. 20.35.6) **अभ्येनं वज्र आयस: सहस्रभृष्टि:। *ऋग. 1.80.12 वज्रेण त्रिषन्धिना।***

अथर्ववेद में वर्णन है कि 100 गांठ वाला भी वज्र होता था और इससे एक साथ सौ व्यक्तियों का वध किया जा सकता था। **वज्रेण शतपर्वणा तीक्ष्णेन.। *(अथर्व. 12.5.66)* मेनि: शतवधा हि सा। *अथर्व. 12.5.16***

मानवीय शस्त्रास्त्र

वेदों में अस्त्र और शस्त्र के लिए आयुध शब्द का प्रयोग है। आयुध जीवनरक्षक है, अत: ऋग्वेद में कहा है कि योद्धा आयुध को अपना प्रिय भाई या सम्बन्धी मानते हैं, **(ऋग. 8.6.3)**। युद्धों में अस्त्र और शस्त्र दोनों का प्रयोग होता था। वेदों में अनेक आयुधों का वर्णन है। उनमें से कुछ विशिष्ट शस्त्रास्त्रों का विवरण दिया जा रहा है –

(1) धनुष : चारों वेदों के सैकड़ों मंत्रों में धनुष का वर्णन है। यजुर्वेद के अध्याय 16 में शिव के धनुष का नाम पिनाक दिया गया है, (मंत्र 51)। धनुर्धारी के लिए ये शब्द आये हैं- **धानुष्क, धन्वायिन्, इषुमत्, धन्वासह, *(यजु. 16.22: ऋग. 1.127.3)***। कौटिल्य ने बताया है कि धनुष 4 प्रकार से बनाए जाते थे- 1. ताल (ताड़) से, 2. चाप (बाँस) से, 3. दारव (बढ़िया लकड़ी) से, 4. शा (सींग) से। धनुष को कार्मुक, कोदण्ड, द्रूण भी कहते हैं।

(2) बाण : वेदों में बाण के लिए बाण, इषु, शर, शरव्या, शल्य, सायक आदि शब्द आए हैं। बाण का अगला भाग लोहे, हाथी दाँत या अन्य कठोर पदार्थ से बनता था। ऋग्वेद में वर्णन है कि बहुत बड़े बाणों में सौ तक नोक होती थी और उनमें सैकड़ों पंख लगे होते थे ***(ऋग. 8.77.7)***। रुद्र के विषय में कहा गया है कि उसके पास ऐसा धनुष-बाण था, जिससे सैकड़ों और हजारों लोगों को मारा जा सकता था। ***धनुर्बिभर्षि.. सहस्त्रनि शतवर्ध.। रुद्रस्येषु:.। अथर्व. 11.2.12***

यजुर्वेद में धनुष बनाने वाल को धनुष्कार, बाण बनाने वाले को इषुकार और प्रत्यंचा (डोरी) बनाने वाले को ज्याकार कहा गया है। ***(यजु. 30.7)***

(3) इषुधि, तूणीर : युद्ध के समय बाणों को रखने के लिए एक विशेष प्रकार का खोल प्रयोग में लाया जाता था, इसे इषुधि, तूणीर और निषंग कहते थे। ***(ऋग. 6.75.5, यजु. 16.61)***

(4) सृक : यह मुख्य रूप से भाले के लिए है। सृक और सका दोनों शब्दों का अर्थ भाला है। भालेधारी के लिए सृकाहस्त, सृकायिन् और सृकावन्त् शब्द वेदों में आए हैं। ***(यजु. 16.61, 16.21; मैत्रायणी सं. 2.9.9)***

(5) प्रहेति : प्रक्षेप्य अस्त्रों में जो अधिक भयंकर और प्रभावकारी अख (Missile) होते थे, उन्हें प्रहेति कहते थे। यजुर्वेद में हेति और प्रहेति दोनों शब्दों का साथ-साथ प्रयोग हुआ है। इससे ज्ञात होता है कि अधिक घातक अस्त्रों को प्रहेति कहते थे। ***(यजु. 15.15 से 19)***

(6) अशनि : यह वज्र के लिए है। यह जलता हुआ प्रक्षेपास्त्र है, जिससे शत्रुओं को भस्म कर दिया जाता था। ***(ऋग. 1.80.13)***

(7) ऋष्टि : यह एक विशेष प्रकार का भाला है। मरुत् आदि देव इसे कंधे पर लेकर चलते थे। ***(ऋग. 5.54.11)***

(8) सीसे की गोली : चोर और डाकुओं को मारने के लिए सीसे की गोली का प्रयोग होता था। इसे वेद में सीस कहा गया है। **तं त्वा सीसेन विध्याम:। *अथर्व. 1.16.4***

(9) असि : यह तलवार है। यह पक्के लोहे की बनती थी। अथर्ववेद में वर्णन है कि चोर, डाकुओं और शत्रुओं के नाश के लिए इसका उपयोग होता था। **स्वायसा असय: सन्ति नो गृहे। *अथर्व. 10.1.20***

(10) क्षुर : यह चौड़े फाल वाले छुरे के तुल्य होता था। यह अतितीक्ष्ण शस्त्र था। ***(ऋग. 1.166.10)***

(11) वाशी : यह परशु या वसूले के तुल्य शस्त्र है। यह लोहे का बना होता था और मरुतों का प्रिय शस्त्र था। ***(ऋग. 8.29.3)***

(12) शूल : यह नुकीला लोहे का बना हुआ शस्त्र था, जो सीधा पेट आदि में मारा जाता था। इसके लगते ही उस स्थान से खून बहने लगता था। कौटिल्य ने भी हलमुख आयुधों में

शूल का उल्लेख किया है। ***(ऋग्. 1.162.11)***

(13) चक्र : ऋग्वेद में चक्र का आयुध के रूप में उल्लेख है। यह लोहे का तीक्ष्ण धार वाला चक्र होता था। इसको अंगुलियों पर तेजी से घुमाकर शत्रु पर फेंका जाता था। इन्द्र ने शत्रुओं को मारने के लिए इसका प्रयोग किया था। **नि चक्रेण रथ्या.।** ***ऋग्. 1.53.9***

(14) वज्र (Dynamite) : ऋग्वेद के एक मंत्र में वज्र शब्द डाइनामाइट (Dynamite) का संकेत है। वज्र से पहाड़ तोड़कर नदियों का मार्ग बनाया गया। **वज्रेण खानि अतृणन् नदीनाम्।** ***ऋग्. 2.15.3***

(15) उल्का : ऋग्वेद और यजुर्वेद में इसका उल्लेख है। यह जलता हुआ आग का गोला होता था। यह एक साथ चारों ओर शत्रुओं पर फेंका जा सकता था और उन्हें जलाया जा सकता था। **वि सृज विष्वगुल्काः।** ***ऋग्. 4.4.2; यजु. 13. 10***

रासायनिक युद्ध और शत्रुनाशन

ऋग्वेद, यजुर्वेद और अथर्ववेद के अनेक मंत्रों में तामस अस्त्र और संमोहन अस्त्रों का वर्णन है। इनमें वर्णन है कि यह विषैला अस्त्र चारों ओर धुआँ देता था। इसके प्रयोग से शत्रुओं का दम घुटने लगता था। त्रिषन्धि सेनापति ने इस अस्त्र के प्रयोग से सारी शत्रुसेना को नष्ट किया था। सम्मोहन अस्त्र से शत्रुसेना को बेहोश कर दिया जाता था तथा उनके सिर और हाथ काट लिए जाते थे। इसी प्रकार अथर्ववेद में धूमाक्षी अस्त्र का उल्लेख है। यह शत्रु पर फेंका जाता था और इसके प्रयोग से शत्रुओं की आँखों में धुआँ घुस जाता था। ***(ऋग्. 10. 103.12; यजु. 17.44, 17.47, अथर्व. 3.1.1 3.2.1; 6. 67.1 और 2; 11.10.19) धूमाक्षी संपततु। अथर्व. 11. 10.7***

कौटिल्य ने अर्थशास्त्र के 14वें अधिकरण में औपनिषदिक प्रकरण दिया है। इसमें रासायनिक द्रव्यों की सहायता से शत्रुओं को हानि पहुँचाने का वर्णन है। अतः इसका नाम परघातप्रयोग रखा गया है। इसमें विविध ओषधियों और द्रव्यों के प्रयोग से शत्रुओं को पीड़ित करने का वर्णन है। ये प्रयोग कितने विश्वसनीय हैं, यह कहना कठिन है। कुछ विशेष उल्लेखनीय प्रयोग ये हैं :

(1) सद्यःप्राणहारक धूमयोग : भिलावा और बकुची के रस में चितकबरा मेढक, तीतर, कानखजूरा आदि का चूर्ण मिलाया जाए तो उसका धुआँ तत्काल प्राणों का नाश करता है। छिपकली, दुमई साँप, जंगली तीतर आदि धूम से भी इसी प्रकार तत्काल प्राणान्त होता है। **चित्रभेक ...सद्यः प्राणहरमेतेषां वा धूमः। कौटि. अर्थ. पृ. 903-904**

(2) विषाक्त धूम : यदि काले साँप को प्रियंगु (कागुन) के साथ मिलाकर उसका धुआँ किया जाए तो वह भी तत्काल प्राणनाशक होता है। **कृष्णसर्पप्रियंगुभिः सद्यः प्राणहरो मतः। (कौ. अर्थ., पृष्ठ 904)**

सारांश

वैदिक काल से ही भारतीय अस्त्र-शस्त्र विद्या में निपुण थे। उन्होंने अध्यात्म-ज्ञान के साथ-साथ दुष्टों के दमन के लिये सभी अस्त्र-शस्त्रों की भी सृष्टि की थी। यह शक्ति धर्म-स्थापना में सहायक होती थी। प्राचीन काल से ही विविध अस्त्र-शस्त्रों का उपयोग होता था। अस्त्र उसे कहते हैं, जिसे मन्त्रों के द्वारा दूरी से फेंकते हैं। यथा- अमुक्ता- वे शस्त्र जो फेंके नहीं जाते थे, मुक्ता-वे शस्त्र जो फेंके जाते थे, मुक्तामुक्त - वह शस्त्र जो फेंककर या बिना फेंके दोनों प्रकार से प्रयोग किए जाते थे तथा मुक्तसंनिवृत्ती - वे शस्त्र जो फेंककर लौटाए जा सकते थे। इस अध्ययन से विदित हुआ की विविध प्रकार के अस्त्र-शस्त्र का क्या महत्त्व है? उनकी प्राप्ति कैसे हो सकती है? इत्यादि। यथा- सहायक, कार्यसिद्धि के उपाय, देशकालविभाग, विपत्तिप्रतीकार, कार्यसिद्धि नामक पञ्च अङ्गों से युक्त राजनीति को भी सुचारु रूप से सञ्चिालन हेतु शस्त्रास्त्र रूपी चतुरङ्गसेना मूल कारण होती है।

योद्धा गुरु कृपा से ही विविध शस्त्रास्त्र विद्या का ज्ञान प्राप्त कर सकता था। जैसे साक्षात् महारथी कर्ण ने भी जिन्होंने शस्त्रास्त्र विद्या हेतु परशुराम की शुश्रूषा की है। साथ ही भगवान वेदव्यास सलाह देते हुए हुए कहते हैं कि इस शस्त्रास्त्र विद्या के प्राप्त कर लेने के पश्चात् अपने आचरण में संयम का अत्यधिक प्रयोग करना। क्योंकि शस्त्रास्त्र विद्या प्राप्ति के पश्चात् योद्धा और भी अधिक उत्साहित एवं विश्वासयुक्त हो जाता है और युद्ध के समय में प्रत्यञ्चा की ध्वनि एवं रणक्रिया दर्शनीय हो जाता है। जैसे तलवार सहित दो तर्कस, धनुष आदि शस्त्रास्त्र लिए हुए योद्धा जब रण में प्रवेश करते तो उनके शस्त्रास्त्र विद्या के कारण ही सामने आते ही सभी शत्रुओं का विनाश हो जाता है। महर्षि उसना अस्त्र की परिभाषा देते हुए कहते हैं-**अस्यते क्षिप्यते यस्तु यन्त्राग्निमिश्चतदस्त्रम्। अस्त्रं द्विविधिज्ञेयं नालिक मांत्रिक तथा॥** ***(शुक्रनीति- 6 प्र. 4/191)*** इन शस्त्रास्त्र का वर्णन विविध ग्रन्थों में भी प्राप्त

होता है। आधुनिक युग में भी सम्पूर्ण विश्व विविध प्रकार के शस्त्रास्त्र के निर्माण में लगे हुए हैं। यदि शस्त्रास्त्र का प्रयोग सुरक्षा के दृष्टि से करें तो यह सार्थक सिद्ध है, अन्यथा ये एक अभिशाप है।

शोधच्छात्र, संस्कृत विभाग,
दिल्ली विश्वविद्यालय, दिल्ली
Email : surajsingh130296@gmail.com

सन्दर्भ ग्रन्थ सूची

1. ऋग्वेद।
2. यजुर्वेद।
3. अथर्ववेद।
4. रामायण।
5. महाभारत।
6. मनुस्मृति।
7. कौटिल्य अर्थशास्त्र।
8. किरातार्जुनीय।
9. शिशुपालवध।
10. नैषधीयचरित
11. बृहत्त्रयी : एक तुलनात्मक अध्ययन - डॉ सुषमा कुलश्रेष्ठ ईस्टर्न बुक लिंकर्स, दिल्ली; 1983

शोध-पत्र

हिंदी साहित्य में दलित चेतना का उभार

डॉ. भारती

चेतना का संबंध चेतन मन से है। अर्थात् नींद से जागना। सुप्त अवस्था से जागृत अवस्था में प्रवेश करना ही चेतना है। चेतना जीवधारियों में रहनेवाला तत्व है, जो इन्हें निर्जीव पदार्थों से भिन्न बनाता है। दूसरे शब्दों में हम उसे मनुष्यों की जीवन क्रियाओं को चलाने वाला तत्व कह सकते हैं। चेतना स्वयं को और अपने आस-पास के वातावरण को समझने तथा उसकी बातों का मूल्यांकन करने की शक्ति का नाम है। चेतना के अभाव में मानव संवेगहीन हो सकता है। मनोविज्ञान के अनुसार चेतना मानव में उपस्थित तत्व है जिसके कारण उसे सभी प्रकार की अनुभूति भी होती है और इसी कारण अनेक प्रकार के निश्चय करने तथा अनेक पदार्थों की प्राप्ति के लिए चेष्टा करते हैं। अत: चेतना मनुष्य की वह विशेषता है जो इसे जीवित रखती है और जो व्यक्तिगत और बाहरी विषय में तथा अपने पर्यावरण के विषय में बात करती है।

दलित शब्द की व्युत्पत्ति संस्कृत धातु के 'दल' से हुई। जिसका शाब्दिक अर्थ दबा-कुचला है। अर्थात् जिसे समाज व्यवस्था में वर्षों से शोषित-उत्पीड़ित किया गया। इस शब्द के अनुरूप यदि समझा जाए तो इसके अंतर्गत शूद्र वर्ण के अतिरिक्त स्त्री, पशु भी सम्मिलित हो जाते हैं। किंतु यदि भारतीय समाज व्यवस्था के संदर्भ में इसे देखें तो केवल और केवल चतुर्थवर्ण को ही दलित कहा गया। कुछ विद्वानों का मानना है कि गांव की सीमा के बाहर आने वाली सभी अछूत जातियां, आदिवासी, भूमिहीन, खेत मजदूर श्रमिक, कष्टकारी जनता और यायावर जातियां सभी दलित शब्द की परिभाषा के अंर्तगत आती हैं।

मनुस्मृति के अनुसार ब्रह्मा के मुख से ब्राह्मण की, और पैर से शूद्र की उत्पत्ति हुई है। भारतीय वर्ण व्यवस्था के अनुसार भारतीय समाज व्यवस्था चार वर्णों में बांटी गयी। ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र। यह वर्ण व्यवस्था कर्म आधारित थी तथा काम के आधार पर वर्णों की व्यवस्था की गई जिसमें शूद्र को समाज के अपने से ऊपर के वर्णों की सेवा एवं साफ सफाई के साथ-साथ अत्यंत निकृष्ट कार्य सौंप दिए गए। प्रारंभिक कर्म आधारित समाज व्यवस्था धीरे-धीरे जन्म आधारित बन गई। शूद्र समाज के लिए यह व्यवस्था अभिशाप साबित हुई। जिसमें शूद्रों की स्थिति बद से बदत्तर बनती चली गई। ''सामाजिक व्यवस्था के नाम पर हिंदू समाज को चार वर्णों में बांटा गया। ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र और शेष अवर्ण। हिंदू धर्म ने इस सामाजिक व्यवस्था के नाम पर बने चार वर्णों में पहले तीन को दिया और चौथे वर्ण एवं अन्यों को अद्विज कहकर न केवल अधिकारों से वंचित किया बल्कि अस्पृश्यता विषमता, ऊंच-नीच, भेदभाव मार फटकार, दुत्कार, अभाव, बेइज्जती को भी थोप दिया।''- *(धर्म और राजनीति की दलित चुनौती- डॉ. सोहनपाल सुमनाक्षर)*

'दलित' शब्द मूलत: प्राचीन भारतीय व्यवस्था के उस निम्नतम वर्ग के लिए प्रयुक्त होता है जिसे शूद्र, श्वपच या दास कहा गया। 'अछूत' 'हरिजन' 'अनुसूचित जाति-जनजाति' उपेक्षित 'बहिष्कृत' या पिछड़ा वर्ग आदि को दलित का पर्याय माना गया। (संचतना- दि. 1981-1982, पृ. 70) मानक अंग्रेजी-हिन्दी शब्दकोष में 'दलित' शब्द के लिए 'डिप्रेस्ड' शब्द का प्रयोग हुआ है। जिसका अर्थ - दबाना, नीचा करना, झुकाना, विनत करना, नीचे लाना, सवर नीचा करना, धीमा

करना, म्लान करना तथा दलित वर्ग का अर्थ नीची जातियों के लोग, अछूत हरिजन, पीड़ित दबाए हुए पददलित, कुचलें-सताए हुए लोग दिया गया है। - (मानक अंग्रेजी हिंदी कोश, सत्यप्रकाश पृ. 36)

डॉ. श्यौराज सिंह बेचैन दलित शब्द की व्याख्या करते हुए कहते हैं, 'दलित वह है जिसे भारतीय संविधान ने अनुसूचित जाति का दर्जा दिया है।' डॉ. सोहनपाल सुमनाक्षर - 'दलित शब्द जहां व्यक्ति को अपने अस्मिता, स्वाभिमान और अपने गौरवपूर्ण इतिहास पर दृष्टिपात करने को बाध्य करता है, वहीं पर अवनति, वर्तमान स्थिति और तिरस्कृत जीवन के विराम में सोचने के लिए विवश करता है। दलित शब्द आक्रोश, चीख, वेदना, पीड़ा, घुटन और चुभन, छटपटाहट का प्रतीक है।' (दलित विमर्श मेरे हिन्दी दलित काव्य- प्रो. कालीचरण, पृ. 25)

शूद्रों को ब्राह्मणों या अन्य उच्च जातियों की तुलना में एक ही अपराध के लिए कई गुना अधिक दंड दिया जाता था। उन्हें सम्पत्ति अर्जित करने का अधिकार छीन लिया गया। शूद्रों से केवल अन्य तीन वर्णों की सेवा की ही अपेक्षा की जाती थी। मनु ने शूद्रों की स्थिति को और अधिक गिराने और उत्पीड़न देय कई कड़े नियम बनाए और उसे पुर्नजन्म या कर्म से जोड़ दिया। उनके अनुसार शूद्र यदि किसी ब्राह्मण के लिए बुरा कहे तो उसकी जीभ काट ली जाए। शूद्र की हत्या करने पर ब्राह्मण करे वही प्रायश्चित करने चाहिए जो पशु अथवा पक्षी की हत्या पर करता है। विषमतामूलक समाज की नींव वैदिक युग के आरंभ हुई थी जो वर्तमान तक जारी है।

श्री सुरेश चंद्र के अनुसार, ''भारतीय समाज में आदिकाल से ब्राह्मण धर्म का वर्चस्व रहा है। जिन्होंने अपनी इच्छानुसार समाज को व्यवस्था दी, जिसमें कुछ बातें सार्वभौमिक एवं सर्वमान्य रहीं, तो अनेक ऐसी रहीं जो भेदभावमूलक तथा शोषण को बढ़ावा देने वाली थी। सवर्ण-अवर्ण के बीच में ऊंच-नीच और अस्पृश्यता आदि की भावनाएं ऐसी ही थीं, इसी आधार पर अन्तयजों का शारीरिक, बौद्धिक एवं आर्थिक शोषण किया जाता था। कहना न होगा यहां का बौद्ध धर्म इसी की प्रतिक्रिया में आया और जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में उसने समतामूलक दृष्टि की स्थापना की। चौरासी सिद्धों सें सिद्ध सरहपा का नाम बड़े आदर के साथ लिया जाता है। अपने समय में इस विद्वान सवर्ण ने असवर्ण स्त्री से विवाह किया। भेदभाव दूर करने का यह पहला प्रयास दिखाई देता है। किंतु दक्षिण के महाराष्ट्री संत तथा उनकी प्रेरणा एवं परिणाम के फलस्वरूप उत्तर भारत के अनेक हिंदी संतों ने प्रतिक्रिया स्वरूप ऐसी भावनाएं एवं उद्‌गार व्यक्त किए हैं जिन्हें दलित चेतना की देन माना जा सकता है। हिंदी दलित साहित्य के इतिहास के विषय में विद्वान एकमत नहीं है। अनेक विद्वानों का मानना है कि दलित चेतना का आरंभ सबसे पहले मराठी साहित्य में हुआ। यह राजनीतिक चेतना की देन है। उत्तर भारत में यह कुछ देर से आई, किंतु हिंदी दलित साहित्य का मूल स्वर अस्पृश्यता, वर्णवाद, जातिवाद तथा आर्थिक शोषण के विरुद्ध रहा है।अत: यदि कहा जाए कि यहां दलित चेतना का विकास भक्तिकाल से हो गया था तो अनुपयुक्त न होगा। (दलित साहित्य एक इतिहास-सुरेश चंद्र शुक्ल, दलित साहित्य सृजन के संदर्भ, डॉ. पुरूषोत्तम सत्यप्रेमी, पृ. 21-22)

आदिकाल में चौरासी सिद्धों ने अपना प्रभाव लोगों पर डालना आरंभ किया। गोरखनाथ इनकी परंपरा को आगे बढ़ाते है। निर्गुणपंथी ने ईश्वर की परिकल्पना का विरोध किया जिसका जुड़ाव सीधे तौर पर वैदिक युग से था। नाथ पंथी अधिकतर निम्न कही जाने वाली जातियों से थे। उन्होंने जातियों का खंडन किया और उसका विरोध भी किया तथा पंडित पुरोहितों को फटकार लगाई। आदिकाल में हिंदुओं के साथ-साथ मुस्लिमों ने भी नाथपंथ की ओर अग्रसरता दिखाई। ऐसा माना जा सकता है कि वर्ण व्यवस्था का जन्म शोषण के लिए हुआ था। यह शोषण रूका नहीं बल्कि काल दर काल बढ़ता चला गया। मध्यकाल में कवि नामदेव सामने आए जो पिछड़ी जाति से संबंध रखते थे। संत कवियों में सबसे महत्वपूर्ण स्थान कबीर का है।

''जात ना पूछिये साधु की, पूछि लीजिए ज्ञान।
मोल करो तलवार का, पड़ा रहा हो म्यान॥

अर्थात् व्यक्ति जाति से नहीं अपने ज्ञान और कृत्यों के बल पर बड़ा बनता है।

आधुनिक काल जो कि बेहद विस्तृत काल रहा है इस तक आते-आते दलित समाज की समस्याएं उभर कर स्पष्ट सामने आती थीं। उन्हें समाज से दूर अलग बस्तियों में रखा जाता था। ''इस जाति समूह में वे लोग आते हैं जिन्हें समाज सामान्यत: अस्पृश्य या अछूत महाराष्ट्र में ज्योतिबा फुले और उनकी धर्मपत्नी सावित्री बाई ने दलितों का शिक्षित करने का बीड़ा उठाया जिन पर उच्च समाज और यहां तक कि स्वयं

दलित समाज ने प्रश्नचिन्ह खड़े किए सावित्री बाई जब बालिकाओं का पढ़ाने जाती तो उन पर पत्थर तथा गोबर फेंक कर अपमानित किया जाता था। इन्होंने शूद्रों और दलितों को संगठित हो शिक्षित होने का संकल्प दिया। और कई विद्यालयों की स्थापना की। 1873 ई. में 'सत्यशोधक समाज' की स्थापना की जो उच्च जाति के लोगों के वर्चस्व को चुनौती थी। इन्हीं से प्रेरित होकर अम्बेडकर ने दलितों के उत्थान का बीड़ा उठाया। प्रथम गोलमेज सम्मेलन की अल्पसंख्यंक संबंधी समिति को डॉ. अम्बेडकर ने एक पत्र लिखा था, जिसमें डॉ. अम्बेडकर ने दृढ़ता से अपनी मांगें संविधान में अधिकारों के लिए रखी—

(1) समान मूल अधिकार।

(2) भेदभावपूर्ण व्यवहार के विरुद्ध संरक्षण

(3) सरकारी नौकरियों में उनके लिए स्थान सुरक्षित रखना।

(4) विधानसभाओं में उनके लिए स्थान सुरक्षित रखना।

(5) उनकी उन्नति के लिए अलग विभाग की स्थापना।

(6) सामाजिक बहिष्कार करने वालों के लिए कड़े दंड की व्यवस्था।

(7) शोषण-मुक्ति की ओर ध्यान दिया जाना।

दलितों को लेकर गांधी जी ने भी अग्रसर होकर कार्य किया। शायद उन्होंने भी भेदक के दर्द को झेला है भले ही वह भेद जाति आधारित न होकर रंग आधारित था। अंग्रेजी अफसरों द्वारा उन्हें ट्रेन से उतार देना क्योंकि वह उनकी श्रेणी में यात्रा कर रहे थे। अंग्रेजो को यह नागवार गुजरा। दलितों के दर्द की पीड़ा को उन्होंने कहीं न कहीं समझा था। दलितों का 'हरिजन' शब्द का संबोधन इनके द्वारा ही किया गया।

आधुनिक भारत में अर्थात् स्वतंत्रता प्राप्ति के पश्चात् दलित आंदोलनकारियों के संघर्ष के परिणामस्वरूप दलितों की स्थिति में कुछ हद तक सुधार आया। दलितों में अपने अधिकारों के प्रति तथा समाज में समानता स्थापित करने के उद्देश्य से चेतना का विकास हुआ। इस संबंध में ओमप्रकाश वाल्मिकी ने स्पष्ट किया-''दलित चेतना का सीधा संबंध दृष्टि से है। दलित यानी हजारों साल से शोषित, प्रताड़ित, सामाजिक और धार्मिक विद्वेष से नारकीय जीवन जीने के लिए बाध्य किया गया, मानवीय अधिकारों से वंचित वर्ण व्यवस्था में सबसे नीचे पायदान पर खड़ा अस्पृश्य, अंत्यज, पंचम कहे जाने वाले व्यक्ति की चेतना यानि दलित चेतना। यही चेतना दलित साहित्य की अंत: ऊर्जा में नदी के तेज बहाव की तरह समाविष्ट है, जो उसे पारंपरिक साहित्य से अलग करती है। भारतीय समाज व्यवस्था को सबसे बिना दलित चेतना की तीव्रता को समझना कठिन है। हजारों वर्षों की प्रताड़ना, शोषण, द्वेष, वैमनस्य और भेदभाव से दबा दलित सभी अस्मिता की खोज के लिए जागरूक दिखाई पड़ता है। ... वैचारिक रूप से दलित चेतना के मंतव्य को साफ करते हुए वे कहते हैं- वैचारिक रूप से दलित चेतना, बंधुता और स्वतंत्रता के पक्षधर है। अनीश्वरवाद, आत्मवाद पुर्नजन्म, ब्राह्मणवादी समाज व्यवस्था का विरोध, आर्थिक क्षेत्र में पूंजीवाद का विरोध, 1 हिंदू देवी देवताओं के प्रति अनास्था अधिनायकवाद का विरोध, वर्गहीन समाज की पक्षधरता, भाषावाद, लिंगवाद का विरोध 2 स्त्री के प्रति समानता का भाव आदि कुछ विशिष्ट बिंदु हैं।" (वसुधा-1990 जन-मार्च-2012, पृ. 81)

कैबिनेट मिशन योजना 1946 में निश्चित किया गया था कि भारतीय संविधान निर्माण हेतु परोक्ष निर्वाचन के आधार पर एक संविधान सभा की स्थापना की जाए। संविधान सभा की पहली बैठक 9 दिसंबर 1946 को हुई। संविधान निर्माण के कार्यों को सुगम बनाने के लिए कई समितियों का गठन किया गया जिसमें से सबसे महत्वूपर्ण प्रारूप समिति थी जिसके सभापति डॉ. अम्बेडकर चुने गए। सामाजिक समानता स्थापित करने के लिए संविधान के अनच्छेद 15 के अंतर्गत प्रावधान किए गए जिसके अनुसार- 'राज्य किसी भी नागरिक केवल धर्म मूलवंश, जाति, लिंग, जन्मस्थान या इनमें से किसी के आधार पर भेदभाव नहीं करेगा। अनुच्छेद 17 के माध्यम से 'अस्पृश्यता को समाप्त कर दिया गया और 1955 ई. में संसद में अस्पृश्यता (अपराध) अधिनियम पारित किया गया। 'अस्पृश्यता से उपजी किसी भी नियोग्यता को लागू करना विधि के अनुसार दण्डनीय घोषित किया गया।

डॉ. अम्बेडकर संविधान के अंतर्गत आरक्षण का प्रावधान देकर कुछ हद तक दलितों की स्थिति को सुधारने में सफल हुए है। ''भारतीय संविधान के तहत सभी नागरिकों को 'एक व्यक्ति, एक मूल्य' ऐसा गरिमारूप स्थान देकर उनकी स्वत्रंतता, समानता, भ्रातृत्वभाव, न्याय एवं धर्मनिरपेक्षता इन मानवीय मूल्यों पर आधारित संपूर्ण प्रगति करने का उत्तरदायित्व संविधान ने दिया है। (इक्कीसवीं सदी दलित आंदोलन, पृ. 108) डॉ. अम्बेडकर ही दलित साहित्य के प्रेरणास्रोत रहे हैं। इनकी

प्रेरणा से दलित साहित्य सुदृढ़ हो रहा है।1967 ई. में महाराष्ट्र बौद्ध सम्मेलन और 1972 ई. में दलित पैंथर ये दोनों घटनाएं ही साहित्य परंपरा में अपना नाम दर्ज कर चुका है।

दलितों के संबंध में पूर्व की बनी हुई अवधारणा, खोखली रूढ़िवादी मानसिकता के विरोध में दलित साहित्य का जन्म हुआ। दलित साहित्य समाज में परिवर्तन का द्योतक है। दलित एवं गैर दलित विचारकों द्वारा दलितों की स्थिति को सुधारने एवं क्रांति संचारित करने के उद्देश्य से विभिन्न कहानियों, उपन्यास, आत्मकथा, कविता, नाटक आदि की रचना की गई है। दलितों के संबंध में पहले से जो अवधारणा बनी हुई है वह समाज की मानसिकता में काफी गहराई से व्याप्त हो चुका है। उन्हीं खोखली रूढ़िवादी मानकों, सामंती अवशेषों के विरुद्ध संघर्ष करने के लिए प्रेरित ही नहीं करता बल्कि समाज को बदलने का साहस भी प्रदान करता है। इससे सिद्ध होता है कि यह साहित्य समाज के लिए परिवर्तन रूपी औजार है। समाज का सबसे निम्न तबका जो आज भी गुलामी का शिकार है चाहे वह सामाजिक गुलामी हो या मानसिक, इस गुलामी से मानव को मुक्त करने की क्षमता रखता है। समाज में समता, स्वतंत्रता व बंधुता का भाव पैदा कर मनुष्य से जोड़ने का कार्य करता है। मूलत: दलित साहित्य भारतीय समाज में व्याप्त घृणा, ईर्ष्या-द्वेष और धार्मिक पाखण्ड के विरुद्ध लिखा जाने वाला रचनात्मक इतिहास है। समाज में घृणा के कारण जो उपेक्षित कर दिए गए थे। यह साहित्य उन्हीं की समता की बात करता है।

ओमप्रकाश वाल्मिकी की कहानी 'सलाम' में ब्राह्मण जाति का कमल उपाध्याय अपने मित्र चूहड़ जाति के हरीश को उसकी जाति के भेदभाव को भूलकर आगे बढ़ने का हौसला देता है। कमल हरीश से कहता है-''हरीश अपने मन से हीन भावना निकालो। दुनिया कहाँ से कहाँ निकल गई और तुम लोग वहीं के वहीं हो। उगते सूरज की रोशनी देखो। अपने आप पर विश्वास करना सीखो। पढ़-लिखकर ऊपर उठोगे तो सब कुछ अपने आप मिट जायेगा।'' 1914 में 'सरस्वती पत्रिका' में प्रकाशित 'हीरा डोम' की 'अछूत की शिकायत' कविता हिंदी दलित साहित्य की प्रथम कविता मानी गई जिसमें इन्होंने करुणा भरे शब्दों में दलित की दयनीय स्थिति को समाज के समक्ष प्रस्तुत किया है।

1975 से पूर्व हिंदी साहित्य में दलित साहित्य जैसी कोई अवधारणा नहीं थी। इसी समय के आसपास कमलेश्वर द्वारा सारिका पत्रिका में दो दलित विशेषांक निकाले। प्रेमचंद के अतिरिक्त शायद ही कोई गैर दलित साहित्यकार होगा जिसने दलितों की स्थिति को उजागर किया होगा।

वाल्मिकी की ही कहानी सपना में एस सी जाति का गौतम व ब्राह्मण जाति का ऋषि दोनों एक ही कारखाने में वर्कर थे। मंदिर निर्माण में ऋषि की मदद गौतम ने भी की थी, पर जब उद्घाटन के दिन उच्च वर्ग के लोग गौतम को मंदिर में प्रवेश से मना करते हैं, तो ब्राह्मण जाति का ऋषि अपने मित्र गौतम की तरफ हो, उसके विरुद्ध अपनी ही जाति से लड़ता है। ऋषि गौतम के हक को याद कर गौतम से कहता है-नहीं गौतम, यह तेरी या मेरी लड़ाई नहीं है...आज यह जगह छोड़कर तुम चले गये तो फिर इस लड़ाई को जारी रखना मुश्किल होगा। और फिर तुम क्यों जाओगे। जायेंगे वे जो निकम्मे और जाहिल हैं। यह मंदिर इनका कैसे हो गया... आओ मेरे साथ...।

दलितों को अपनी लड़ाई स्वयं लड़नी होगी। समाज के अन्य वर्ग न तो कभी उनके साथ थे और न होंगे हां लेकिन बाबा साहब डॉ. अम्बेडकर की शिक्षा ने समाज को एक समझ दी है जिसके चलते आज का युवा दलितों के समर्थन में खड़ा हुआ है।

कुसुम वियोगी की कथा 'अंतिम बयान' में एक दलित जाति की लड़की अतरो ने प्रधान के बेटे राजेन्द्र का वध कर दिया था। वह पापी उसकी अस्मिता से खेलना चाहता था। आज केवल पुरुष वर्ग ही नहीं, बल्कि उच्च जाति के शोषण के विरुद्ध दलित स्त्रियां आवाज उठाने लगी हैं, क्योंकि अब वे समाज में अपना भी वजूद स्थापित करना चाहती हैं। अतरो अपनी मुहँबोली भाभी से कहती है-भाभी अगर उसने मुझे कुछ कह दिया तो फिर देख दराती से गन्ने सा कतरकर रख दूंगी हरामखोर को गांव वाले देखते रह जायेंगे।

हिंदी दलित साहित्य को समृद्ध करने में ओमप्रकाश वाल्मिकी, मोहनदास नैमिशराय, डॉ. एन. सिंह, डॉ. सोहनपाल सुमनाक्षर, रजनी तिलक, डॉ. धर्मवीर, जयप्रकाश कर्दम आदि का महत्वपूर्ण स्थान है। दलितों का आत्मसंघर्ष ऊपर से जितना सहज और सरल दिखाई पड़ता है भीतर से उतना ही व्यापक और भयावह है। जो दलितों की अदम्य जीजिविषा का परिणाम है। अत: दलित साहित्य यातनाओं की त्रासदी से उपजा एक साहित्यक हस्तक्षेप है, जो संपूर्ण जड़वादी समाज को हिलाने का सामर्थ्य रखती है।

सन्दर्भ सूची

1. डॉ. अंबेडकर और दलित साहित्य–डॉ. धर्मवीर, शेष साहित्य प्रकाशन दिल्ली–सं.1996
2. दलित क्रांति का साहित्य–डॉ. श्यौराज सिंह बेचैन, संगीता प्रकाशन दिल्ली–सं.1998
3. युगपुरूष अंबेडकर–राजेन्द्र मोहन भटनागर, राजपाल एण्ड संस प्रकाशन दिल्ली–1994
4. बाबा साहेब अंबेडकर : एक चिंतन–मधुलिमये, आत्माराम एण्ड संस प्रकाशन दिल्ली–1997
5. नयी सदी का पहचान श्रेष्ठ दलित कहानियां, मुद्राराक्षस
6. सलाम कहानी संग्रह, ओमप्रकाश वाल्मिकी

Research Paper

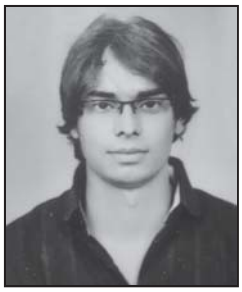

Dr. Ranjan Singh Yadav

"India's Ability in Administration and Governance: From Traditional to Modern"

Abstract

India's journey in governance and administration has been a delicate balance between tradition and modernity. Historically, India's administrative framework was deeply rooted in its traditional systems, drawing from a rich heritage of local governance, as seen in the panchayats and other indigenous institutions. These systems, while effective in their context, were limited in scope, often focusing on local or regional issues rather than the broader national concerns. With the advent of British colonial rule, India inherited a more centralized and formal administrative structure. This introduced modern bureaucratic practices, legal frameworks, and infrastructure development, laying the foundation for the contemporary administrative system. However, the challenge for post-independence India was to integrate these modern structures with its traditional values and social fabric.

The Indian Constitution, adopted in 1950, sought to merge these aspects by establishing a federal system that respects local governance while promoting a strong central authority. The introduction of reforms such as the Panchayati Raj system aimed to empower local bodies, ensuring that traditional practices of self-governance could coexist with modern administrative frameworks.

In recent decades, India's governance has increasingly embraced technology and innovation, further pushing the boundaries of modernization. Initiatives like the Digital India campaign, the implementation of Aadhar for identification, and the push for e-governance are testament to India's commitment to integrating modernity into its administrative practices. However, the challenge remains in ensuring that these modern practices are accessible and effective across diverse socio-economic groups, particularly in rural and marginalized areas.

India's administration reflects a hybrid model where traditional governance structures have been preserved and modernized to address the complexities of a rapidly evolving nation. The ongoing task for India is to continue harmonizing these elements, ensuring governance that is both inclusive and forward-looking.

Introduction

India's administrative practices have undergone a profound transformation over the centuries, evolving from ancient traditional frameworks to modern systems that leverage technology and innovation. The history of governance in India can be traced back to ancient times, where highly organized and centralized systems were employed in empires such as the Maurya and Gupta dynasties. The Mughals further developed a complex administrative structure, which later influenced British colonial rule. Under British governance, India saw the establishment of bureaucratic institutions that laid the groundwork for modern administration. Post-independence, the Indian government adopted a federal structure with a focus on democracy and decentralization.

Effective administration has always played a crucial role in governance, ensuring the implementation of policies, maintaining law and order, and delivering public services. It acts as the backbone of governance, enabling both the government and its citizens to interact within an organized framework.

Over time, the focus has shifted from rigid, hierarchical models to more flexible and citizen-centric approaches, with technology now playing a key role in enhancing transparency, efficiency, and accountability.

This paper aims to explore the evolution of India's administrative system from ancient times to the present day and assess its impact on the nation's governance structures. By examining the major changes and key innovations in the administrative practices, we can better understand how they have shaped India's current governance framework.

India's governance system has evolved significantly from traditional frameworks to a modern, technology-driven system, improving efficiency and accountability. This evolution highlights the interplay between historical legacies and contemporary innovations, shaping a more responsive and inclusive governance model.

Traditional Administration and Governance in India

India has a long history of organized governance and administration, evolving through various periods from ancient times to the medieval era. Below is an overview of governance during the Vedic period, Maurya dynasty, Gupta Empire, and the Mughal Empire.

Ancient India's Administrative Structures

Vedic Period (1500–500 BCE)

The Vedic period saw the beginnings of administrative structures in India, based on tribal and familial governance.

Role of the King: Kings were considered the ultimate authority, called **Rajan**, often chosen by the tribal assemblies **(Sabha and Samiti)**. The king's primary duty was to protect the tribe, ensure justice, and preside over religious rituals.

Ministers and Priests: Priests, or Purohitas, held great influence and advised kings on matters of governance and spirituality. The Senani led the military forces, and the Gramani governed villages.

Justice and Law: The king was the chief justice, but tribal assemblies played a significant role in the administration of justice. Vedic law was heavily influenced by religious principles, with the **Dharma** guiding legal proceedings.

Maurya Dynasty (322–185 BCE)

Under the Maurya dynasty, particularly during the reign of Chandragupta Maurya and his advisor Chanakya (Kautilya), India saw one of its most sophisticated and centralized forms of administration.

Arthashastra by Chanakya: Arthashastra, a political treatise attributed to Chanakya, laid out principles of governance, economics, warfare, diplomacy, and military strategy. It emphasized the importance of a well-organized bureaucracy and espionage network.

Role of the King: The king was seen as the absolute ruler but bound by the principles of statecraft to maintain order and prosperity.

Ministers: The king was assisted by a council of ministers (Mantriparishad), with each minister overseeing different portfolios like finance, war, agriculture, and justice.

Land Revenue: Land revenue was the primary source of income for the state, often constituting a percentage of agricultural produce.

Justice System: The Mauryan justice system was rigorous, with laws covering various aspects of crime and punishment. The **Rajuka** (officer) administered justice at local levels.

Gupta Empire (320–550 CE)

The Gupta Empire, particularly under **Chandragupta I** and **Samudragupta**, refined the administrative machinery of ancient India, combining centralization with regional autonomy.

Role of the King: The king was regarded as a divine figure, governing with the aid of ministers. The title Chakravartin (universal ruler) signified the emperor's extensive powers.

Ministers and Bureaucracy: The administrative system was decentralized, with local rulers and provincial governors (Uparikas and Vishayapatis) enjoying considerable autonomy. However, the center retained oversight of critical functions like defence and taxation.

Revenue System: Land revenue remained the major source of income, with the land divided into categories based on fertility. Taxation was moderate compared to the Mauryan era.

Justice: The Gupta period saw the codification of laws influenced by **Dharma Shastras** and custom. The king acted as the supreme judge, but local courts (Kulika) handled everyday disputes.

Medieval Period: Mughal Administration

Mughal Empire (1526–1857 CE)

The Mughals introduced a highly centralized and

elaborate administrative system, marked by sophisticated taxation and revenue systems, legal codes, and military organization.

Centralized Governance Model

The Mughal emperor was the supreme ruler, wielding both political and military authority. His court and ministers played pivotal roles in governance.

Council of Ministers: The emperor was aided by various high-ranking officials, such as:

Wazir: Chief minister who managed state finances.

Mir Bakshi: The head of the military.

Qazi-ul-Quzat: The head of the judiciary.

Sadr-us-Sudra: The chief religious officer, who looked after charitable activities and religious endowments.

Taxation System

One of the most enduring legacies of the Mughal administration was its taxation system, particularly under **Akbar**.

Raja Todar Mal's reforms: As Akbar's revenue minister, Todar Mal standardized the system of land revenue collection, known as the **Zabt** system, where taxes were based on the average yield of the land.

Jagirdari System: Military officers and nobles were assigned lands (Jagirs) from which they could collect revenue, which was partly used to fund their military contingents.

The Mansabdari System introduced under Akbar divided officials into ranks, and their status in the court and the number of troops they were responsible for raising were based on their rank.

Legal System

The legal system under the Mughals was based on a combination of **Islamic Sharia law** and traditional Indian laws.

The emperor had the final say in legal matters, although **Qazis** (judges) were appointed in provinces to handle local disputes.

Criminal justice was often harsh, with severe penalties for theft, murder, and rebellion.

Military Administration

The Mughals maintained a large standing army and a cavalry, as military strength was crucial to maintaining their empire.

Akbar organized the Mansabdari system, where nobles and military officials were ranked according to the number of soldiers and horses they maintained.

The Mir Bakshi supervised military operations and maintained discipline within the ranks.

India's administrative and governance structures evolved from the tribal councils and familial rulers of the Vedic period to the centralized and highly organized systems seen during the Maurya, Gupta, and Mughal empires. Each dynasty contributed to the development of taxation, land revenue, legal systems, and military administration, influencing governance in the region for centuries to come.

Colonial Influence on Indian Administration

British colonialism fundamentally reshaped Indian governance, leaving a legacy that continues to influence the country's administrative structure post-independence. The British did not merely exploit India's resources but also implemented new systems of governance, laws, and education that helped maintain control while leaving a long-lasting imprint on Indian administrative institutions.

Centralized Governance:

One of the key transformations during British rule was the introduction of centralized governance. Before colonial rule, India was a patchwork of princely states and regional kingdoms, each with its own administrative practices. The British, especially after the Government of India Act of 1858, consolidated power under the Crown and introduced a hierarchical structure of administration that brought India under direct control of the British Parliament. This system introduced a highly centralized authority with the Viceroy at the top, presiding over an extensive administrative bureaucracy that functioned uniformly across British India.

Indian Civil Services (ICS):

The creation of the Indian Civil Services (ICS) was another significant development. Established to maintain law and order and implement policies, the ICS was the backbone of British administration in India. The service was staffed mainly by British officers, but over time, some educated Indians were allowed to join after the open competitive exams. However, it remained an elite body dominated by British interests. The ICS introduced principles of meritocracy, but it also ensured that the British retained control by keeping key positions in the hands of British officers. Post-independence, the ICS was reformed into the Indian Administrative Service (IAS),

but the foundational structure remained similar.

Land Revenue Systems:

British colonialism also changed the agrarian structure of India through the implementation of various land revenue systems. The most notable among these was the Permanent Settlement of 1793, introduced by Lord Cornwallis in Bengal. This system transformed zamindars (landowners) into landlords who were responsible for collecting taxes from peasants. This policy was aimed at creating a loyal landed class but had far-reaching consequences, such as the exploitation of peasants and lack of investment in agricultural development. Other revenue systems like the Ryotwari and Mahalwari were introduced in different regions, but all were primarily focused on extracting as much revenue as possible, often leading to indebtedness and poverty among farmers.

Introduction of Western Education and Legal Systems:

The British also introduced Western education as a means of creating an educated class that could help administer their rule. English became the medium of instruction, and education was focused on producing clerks and officials who would serve in British institutions. This laid the groundwork for modern education in India but also had the effect of creating a divide between the English-educated elite and the masses.

Alongside education, the British implemented Western legal systems, replacing traditional systems of justice. The introduction of codified laws, courts, and procedures based on British models established a uniform legal system throughout the country. This was aimed at creating a predictable environment for British commerce and governance but also distanced the legal system from Indian customs and traditions.

Divide and Rule Policy:

One of the most impactful strategies employed by the British was their divide and rule policy. They systematically exploited religious, caste, and regional divisions to maintain control. For instance, the partition of Bengal in 1905 was carried out along communal lines, creating tensions between Hindus and Muslims. The British also favoured certain communities, giving them privileges to create loyalists, thus fragmenting Indian society and preventing unified resistance. This divisive policy had long-term implications, contributing to communal tensions that persisted even after independence.

Post-Independence Challenges:

After independence in 1947, India faced the monumental task of transitioning from a colonial governance model to a sovereign democratic republic. Many of the structures and systems left behind by the British had to be reformed or adapted to suit the needs of a democratic state.

Bureaucratic Continuity and Reform:

While the Indian Civil Services were renamed and reformed as the Indian Administrative Services (IAS), the bureaucratic structure remained largely intact. This created a sense of continuity and stability, but also led to challenges such as bureaucratic elitism, slow decision-making, and a lack of connection with grassroots concerns.

Agrarian Reform:

The land revenue systems introduced by the British led to widespread poverty and indebtedness among Indian farmers. Post-independence, India faced the challenge of implementing land reforms to redistribute land more equitably, but these reforms were met with mixed success due to political resistance and entrenched landowning elites.

Legal and Educational Reforms:

The Western legal system and education system, while modernizing, were not easily accessible to the vast majority of Indians. Post-independence governments had to work on expanding educational access and adapting the legal system to be more in tune with Indian social realities.

Managing Diversity:

The divide and rule policies of the British left deep-rooted divisions that India had to manage post-independence. The partition of India itself was a violent result of communal tensions fostered under colonial rule. After independence, one of the main challenges was to integrate princely states and foster a sense of unity in a country marked by religious, linguistic, and cultural diversity.

British colonialism fundamentally altered the Indian administrative structure, leaving behind centralized governance, a professional civil service, and legal frameworks that continued post-independence. However, the colonial legacy also posed significant challenges, such as the need to democratize these structures and address the social divides that had been exploited during British rule.

Despite these challenges, India has managed to adapt and reform its governance systems to suit its democratic aspirations.

Modern Governance Framework:

Constitution of India and Governance

The **Constitution of India**, which came into effect on January 26, 1950, serves as the foundation of modern governance in the country. It is the supreme law, establishing the structure, powers, and functions of various organs of government and guiding the relationship between the state and citizens. The Constitution enshrines fundamental rights, directive principles, and duties, ensuring a balance between individual liberty and societal welfare. It envisions a sovereign, socialist, secular, and democratic republic, laying the foundation for governance based on justice, liberty, equality, and fraternity.

Key features of the Constitution that underpin governance include:

Separation of powers between the Executive, Legislature, and Judiciary.

Federal structure with a clear demarcation of powers between the Union and the States (Schedules and Lists).

Fundamental Rights and **Directive Principles of State Policy** which guide governance priorities.

Role of the Parliament, Judiciary, and Executive in Governance

Parliament: The Parliament of India, comprising the Lok Sabha (House of the People) and the Rajya Sabha (Council of States), is responsible for enacting laws, approving the budget, and holding the Executive accountable through mechanisms like questions, motions, and committees. It plays a key role in lawmaking and representing the will of the people.

Judiciary: The Indian judiciary, with the Supreme Court at its apex, is tasked with interpreting the Constitution and ensuring that laws passed by the Legislature are consistent with constitutional principles. It has the power of **judicial review** to strike down unconstitutional laws and executive actions. The judiciary also protects citizens' fundamental rights and resolves disputes between the states and the Union.

Executive: The Executive, led by the President (constitutional head) and the Prime Minister (actual head of government), implements laws and policies. The Council of Ministers, headed by the Prime Minister, is responsible for decision-making and administration. At the state level, the Governor is the constitutional head, while the Chief Minister leads the government. The Executive is accountable to the Parliament or State Legislatures.

Federalism: Center-State Relations and Governance

India's federal structure divides powers between the **Center** and the **States** through the Union, State, and Concurrent Lists, enumerated in the Seventh Schedule of the Constitution. Key areas like defence, foreign affairs, and communications are in the Union List, while police, health, and agriculture fall under the State List. Both can legislate on subjects in the Concurrent List, with federal supremacy in case of conflict.

The Constitution provides mechanisms for resolving disputes between the Center and States, such as the role of the **Inter-State Council** and the **Finance Commission**. However, governance in India is quasi-federal, with a bias toward the Center, as seen in provisions like Article 356 (President's Rule) and the power to dismiss state governments.

Bureaucracy in India

Evolution of the Indian Administrative Services (IAS)

The **Indian Administrative Service (IAS)** evolved from the colonial-era **Indian Civil Services (ICS)**, which was established to administer British India. After independence, the IAS replaced the ICS but retained its role as the backbone of the Indian administration. The IAS officers are responsible for implementing government policies, maintaining law and order, and managing the day-to-day affairs of government at both the central and state levels.

The evolution of the IAS represents continuity with pre-independence governance structures, but it has undergone reforms to align with democratic governance and India's development goals.

Role of Bureaucrats in Policy Implementation and Governance

Bureaucrats, particularly those in the IAS, play a pivotal role in policy formulation, implementation, and governance. They ensure that policies crafted by the Executive and laws passed by the Legislature are executed effectively. Their duties include:

Advising ministers on policy matters.

Supervising public administration and maintaining law and order.

Managing resources and delivering public services (education, health, infrastructure).

Ensuring compliance with rules and regulations.

Challenges Faced by the Indian Bureaucracy

Despite its importance, the Indian bureaucracy faces several challenges:

Corruption: The misuse of power for personal gain hampers development and undermines public trust.

Red-tape: Excessive regulation and paperwork slowdown decision-making, leading to inefficiency.

Politicization: Bureaucratic independence is sometimes compromised by political interference, affecting impartial governance.

Accountability: There is often a lack of accountability for bureaucratic inaction or inefficiency.

Decentralization in India

Panchayati Raj System and Its Impact on Grassroots Governance

The **Panchayati Raj system**, established through the **73rd Constitutional Amendment (1992)**, decentralized governance by creating a three-tier system of local self-government at the village, block, and district levels. The system empowers local bodies, or **panchayats**, to make decisions on matters concerning local development, agriculture, water management, health, and education.

This system has had a profound impact on grassroots governance by:

Bringing decision-making closer to the people.

Empowering marginalized communities and women through reservations in local elections.

Encouraging local participation in governance and development planning.

Empowerment of Local Bodies and Their Role in Governance

The **74th Amendment (1992)** further extended decentralization by strengthening **Urban Local Bodies (ULBs)** like municipalities. These local bodies have been empowered to levy taxes, plan for urban development, and manage local infrastructure and services.

Challenges to the effective functioning of local bodies include:

Inadequate financial resources and excessive dependence on grants from higher levels of government.

Lack of capacity and expertise to manage complex local issues.

Political interference and lack of autonomy in decision-making.

India's governance system is a dynamic blend of **centralized authority** and **decentralized power**, with the **Constitution** serving as the guiding framework. The roles of Parliament, Judiciary, and Executive, along with federal principles and a robust bureaucracy, are essential in shaping governance. However, reforms in bureaucratic functioning, improved Center-State coordination, and greater empowerment of local bodies are necessary to address contemporary challenges and ensure more effective governance.

Technological Advancements in Governance

E-Governance Initiatives

E-governance refers to the use of information and communication technologies (ICT) to deliver government services, engage citizens, and improve the functioning of governance systems. In India, e-governance has played a crucial role in bridging the gap between government authorities and citizens by improving accessibility, transparency, and efficiency. Several initiatives have been launched to promote digital interaction and streamline government functions.

Introduction to E-Governance in India

Digital India Initiative:

Launched in 2015, the Digital India campaign aims to transform India into a digitally empowered society and knowledge economy. Its core components include:

Broadband highways: Increasing internet penetration and network infrastructure across rural and urban areas.

Universal access to mobile connectivity: Ensuring mobile connectivity in remote and rural areas.

Public internet access programs: Creating digital access points, such as Common Service Centres (CSCs), to provide e-services to citizens.

E-governance: Reforming government processes and improving service delivery through ICT.

Information for all: Promoting open data and transparency, enabling citizens to access government information online.

Aadhar:

Aadhar is a unique identification project that provides a 12-digit identity number to Indian residents. It is a biometric and demographic-based system that

ensures accurate identification of individuals, enabling them to access various government services like subsidies, welfare schemes, and banking. Aadhar has significantly streamlined processes and reduced the risk of fraud in beneficiary schemes.

Technology in Governance:

Use of **cloud computing**, **data analytics**, and **blockchain** in decision-making, citizen engagement, and public service delivery.

The implementation of **e-offices** and **online grievance redressal systems** to ensure smoother communication within government agencies.

Role of E-Governance in Improving Transparency and Efficiency

Transparency: By digitizing records and transactions, e-governance reduces corruption and opacity in government operations. Systems such as online RTI portals and public dashboards allow citizens to monitor progress on various schemes, holding the government accountable.

Efficiency: E-governance enhances administrative efficiency by automating repetitive tasks and reducing paperwork. It also enables faster processing of applications and delivery of services, cutting down delays and bottlenecks in traditional governance models.

Case Studies: Success Stories

Karnataka (Bhoomi Project):

The Bhoomi Project is an online land record management system launched by the Karnataka government. It digitizes land records and provides easy access to landowners and buyers. The project has simplified processes related to land ownership, sale, and transfer, eliminating the need for middlemen and curbing corruption in land deals.

Andhra Pradesh (MeeSeva):

MeeSeva (meaning "at your service") is an e-governance initiative by the Andhra Pradesh government, offering over 300 online services such as issuing certificates, licenses, and permits. It allows citizens to avail themselves of various services without visiting government offices, significantly improving transparency and reducing the need for bribes or long wait times.

Smart Cities and Governance

The smart city concept integrates technology into urban governance to make cities more efficient, sustainable, and responsive to citizens' needs. It involves using digital tools, IoT (Internet of Things), and data analytics to address urban challenges like infrastructure management, service delivery, and resource optimization.

Role of Technology in Urban Governance

Smart cities rely on advanced technological solutions to:

Improve service delivery: Automated waste management, water distribution, and traffic monitoring systems enhance urban services.

Engage citizens: Mobile apps, online portals, and public dashboards allow citizens to actively participate in governance by reporting issues, providing feedback, and accessing city services.

Data-driven decision-making: Real-time data collection and analysis through IoT sensors, cameras, and devices provide insights for better urban planning, resource management, and disaster preparedness.

Implementation of Smart City Projects

India's **Smart Cities Mission**, launched in 2015, aims to develop 100 smart cities that utilize technology to create efficient urban environments. Key features include:

Smart infrastructure: IoT-powered utilities such as smart lighting, intelligent traffic systems, and smart grids that reduce energy consumption.

Digital governance: E-portals and mobile apps enable easy access to services like healthcare, education, and transportation.

Sustainable development: Green building technologies, solar energy, and electric vehicle infrastructure enhance environmental sustainability.

Some successful smart city projects include:

Pune Smart City: Implementation of a digital traffic management system and smart waste collection to reduce pollution and congestion.

Ahmedabad Smart City: Use of GIS-based urban planning tools for efficient zoning and land-use management.

These advancements showcase how technology is reshaping governance in India, fostering more inclusive, transparent, and efficient systems. Through e-governance and smart city initiatives, India is steadily improving its service delivery and enhancing citizens' quality of life.

Key Challenges in Modern Indian Governance

Corruption

Corruption remains a pervasive challenge in India,

affecting various aspects of governance. This includes the influence of political elites, bureaucratic inefficiency, and widespread bribery.

Political Influence: Politicians often exercise significant control over the administrative machinery, undermining the independence of institutions. This political interference leads to favouritism, biased decision-making, and misuse of power.

Bureaucratic Inefficiency: Bureaucratic red tape and a lack of accountability often result in delays in project implementation, inefficiencies in public services, and misuse of public funds.

Measures to Counter Corruption

Right to Information (RTI) Act: Enacted in 2005, the RTI Act is a landmark tool that allows citizens to demand transparency from public authorities. It has empowered individuals to question government actions and seek information on public spending, project implementation, and decision-making processes. However, its implementation is inconsistent, and attempts to dilute its provisions continue.

Lokpal Bill: The Lokpal and Lokayuktas Act of 2013 created an anti-corruption ombudsman to investigate corruption cases against public officials. However, it is yet to function at full capacity due to lack of appointments and delays in operationalizing the institution. Moreover, the Lokpal's powers are limited by the political system, making its impact less effective than expected.

Population and Resource Management

India, with its vast population and diversity, faces immense challenges in managing resources and ensuring equitable distribution of services.

Diverse Population: India's demographic diversity comprising different ethnic, religious, and linguistic groups complicates governance. Regional inequalities, economic disparities, and ethnic tensions often challenge national policies designed to be universally applicable.

Resource Distribution: Unequal access to basic resources like water, energy, and food remains a critical issue. Urban areas tend to have better infrastructure and services compared to rural regions, creating imbalances that fuel rural-urban migration, further straining city resources.

Public Service Delivery: The challenge lies in delivering essential services education, healthcare, and sanitation to all citizens efficiently. Issues such as inadequate infrastructure, lack of proper monitoring, and corruption in welfare schemes impede the effective distribution of public services.

Judicial Delays and Law Enforcement

The judicial system in India is marred by significant delays and inefficiencies, affecting its ability to enforce laws and ensure justice.

Judicial Backlogs: Indian courts have an enormous backlog of cases, with millions pending across various levels of the judiciary. Delayed judgments affect not only citizens seeking justice but also investor confidence, especially in commercial disputes. The appointment of judges, poor infrastructure, and procedural inefficiencies contribute to these delays.

Delays in Legal Processes: Legal proceedings are often long-drawn due to a combination of complex procedures, insufficient staff, and frequent adjournments. This delay undermines the public's faith in the legal system and hampers access to timely justice.

Law Enforcement Challenges

Police Reforms: Law enforcement agencies, particularly the police, face severe challenges, including underfunding, outdated training methods, and political interference. Despite numerous recommendations from committees and commissions, reforms in policing, like modernizing equipment and improving training standards, have been slow.

Accountability: There are also concerns about police accountability, with reports of misuse of power, custodial violence, and inefficiency in crime prevention. Strengthening internal accountability mechanisms and ensuring greater transparency in policing is essential for upholding the rule of law.

Governance in India is a complex and multi-faceted challenge, influenced by corruption, political interference, resource management issues, and a struggling judicial system. While measures such as the RTI Act and the Lokpal Bill aim to enhance transparency and accountability, their effectiveness depends on robust enforcement and consistent political will. Additionally, tackling issues like judicial backlogs, law enforcement inefficiencies, and population pressures requires a combination of institutional reform, resource optimization, and decentralization of governance.

Conclusion

India's governance has undergone a remarkable transformation from its traditional systems to a modern administrative framework. In ancient times, governance was based on monarchies, village panchayats, and local institutions, with rulers wielding significant power through decentralized structures. The Mughal period introduced a more centralized administration, but it was the British colonial rule that laid the foundations for the modern bureaucratic state, introducing codified laws, civil services, and judicial institutions. After independence, India adopted a federal, democratic system with a robust constitution that ensured separation of powers, checks and balances, and a welfare-oriented state. Today, India's governance is characterized by democratic institutions, an independent judiciary, and an extensive bureaucratic framework, combined with initiatives like digital governance and citizen empowerment.

Future Outlook

The future of governance in India looks promising, driven by emerging technologies such as artificial intelligence (AI), blockchain, and further digitization. AI can enhance decision-making by providing data-driven insights and improving the efficiency of public services through automation. Blockchain has the potential to ensure transparency and accountability, especially in areas like land records, voting systems, and public procurement. The ongoing digitization efforts, exemplified by programs like Digital India, will further bridge the gap between the government and citizens, bringing services closer to the people through e-governance platforms. With smart cities, digital health records, and AI-assisted policymaking on the horizon, the governance landscape is set to become more inclusive, efficient, and transparent.

Final Thoughts

India's governance system reflects the country's rich cultural diversity and democratic ethos, with strong institutions that enable stability in a complex, pluralistic society. Its strengths lie in its resilience, adaptability, and ability to implement large-scale reforms like Aadhaar (biometric ID) and Goods and Services Tax (GST). However, challenges such as bureaucratic inefficiency, corruption, and regional disparities remain areas where reforms are needed. Further decentralization, civil service reforms, and leveraging technology to enhance transparency and reduce corruption can strengthen the governance framework. Balancing tradition with innovation, India is poised to continue its evolution towards a more responsive and forward-looking administrative system.

Dept. of Political Science
V.B.S.P.U, Jaunpur

References:

- Khilnani, Sunil "The Idea of India" Penguin India New Delhi (2004)
- Jayal, Niraja Gopal and Mehra, Pratap Bhanu "THE OXFORD COMPANION TO POLITICS IN INDIA" Oxford; Student edition (2011)
- Basham, A.L. "The Wonder That Was India: Volume I" Picador India New Delhi (2019)
- Smith, Vincent A. "The Oxford History of India: from the earliest times to the end of 1911" Gyan Publishing House, New Delhi (2021)
- Maheshwari, S.R. "Public Administration in India: The Challenges of Governance" Oxford University Press, India, 1st edition (2006)
- Kapoor, Devesh and Mehta, Bhanu Pratap "Public Institutions in India: Performance and Design" Oxford University Press (2007)
- Kautilya (Chanakya) "The Arthashastra" Penguin India, New Delhi; First Edition (2000)
- Habib, Irfan "The Agrarian System of Mughal India (1556-1707)" Oxford University Press, New Delhi; 3rd edition (2013)
- Das, S.L. "Bureaucracy and Development Administration" Swastik Publication New Delhi, (2010)
- Sharma, Ram Sharan "Aspects of Political Ideas and Institutions in Ancient India" Motilala Banarsidass Publishers, (2015)
- Weiner Myron "State Politics in India Princeton University Press" (8 December 2015)
- Paul R. Brass, "The Politics of India Since Independence" (1st January 2003)

Research Paper

Ratandeep Tripathi

Political Realignment: From Caste Mobilization to Cultural Nationalism

Introduction

Identity has always been central to India's democratic experience, but no identity has been as politically entrenched as caste. From the early decades of the republic to the turn of the twenty-first century, caste shaped voting patterns, party formation, political leadership, and coalition-building. Rajni Kothari's foundational work described how caste became intertwined with political processes to such an extent that Indian democracy could be understood only by examining the symbiotic

relationship between caste and politics. However, in recent years, this landscape has undergone a profound realignment. Cultural nationalism–rooted in civilizational narratives, symbolic politics, and welfare-based legitimacy–has emerged as an overarching framework capable of reorganizing caste identities within it. Scholars such as Yogendra Yadav and Suhas Palshikar argue that India is witnessing a new phase of political consolidation marked by the decline of caste-centric politics and the rise of an ideologically cohesive nationalist discourse.

Historical Evolution of Caste Mobilization

The roots of caste mobilization in Indian politics lie in the colonial and early post- independence periods. Nicholas Dirks has demonstrated how colonial categorization and census operations formalized caste identities in new ways. After independence, universal adult franchise transformed caste into a political resource because it provided pre-existing networks of solidarity, leadership, and local-level influence. Rajni Kothari observed that the "Congress system" effectively managed caste diversity through elite accommodation and patronage, maintaining stability while subtly reinforcing upper-caste dominance. In the first three decades after independence, caste operated implicitly as part of a patron-client system rather than an explicit mobilizational framework. However, economic transformations in the 1960s and 1970s–particularly the Green Revolution–empowered many middle peasant castes, giving them economic mobility and enabling them to challenge upper-caste hegemony. Ghanshyam Shah documented the rise of backward caste movements that demanded greater representation and social justice. The political fragmentation following the decline of the Congress party in the 1970s created fertile ground for regional and caste-based parties. This period marked the beginning of explicit caste mobilization, culminating in the watershed moment of Indian politics: the Mandal Commission reforms.

The Mandal Era and the Apex of Caste-Based Politics

The implementation of the Mandal Commission recommendations in 1990 marked a dramatic reshaping of India's political landscape. Yogendra Yadav described this phase as the "second democratic upsurge," wherein backward castes entered politics in unprecedented numbers, altering the configuration of political power. The rise of parties such as the Samajwadi Party, the Rashtriya Janata Dal, and the Bahujan Samaj Party signaled the consolidation of caste identity as the primary mode of electoral

mobilization. Christophe Jaffrelot called this transformation a "silent revolution" that empowered previously marginalized groups. Kanshi Ram and Mayawati mobilized Dalits around notions of dignity and representation, while leaders like Lalu Prasad Yadav and Mulayam Singh Yadav centralized backward caste identity in their political platforms. However, Indian scholars such as Suhas Palshikar and Kancha Ilaiah Shepherd pointed out that this phase, while transformative, carried inherent tensions. The dominance of certain OBC groups–such as Yadavs and Kurmis–often marginalized lower OBCs, leading to internal fractures. Dalit politics, too, faced divisions between dominant Dalit sub-castes and those with less visibility. While caste mobilization increased political participation and reshaped leadership patterns, it also laid the ground for its eventual saturation.

Limitations and Saturation of Caste Politics

By the early 2000s, caste politics began to confront structural limitations. Kanchan Chandra argued that caste mobilization in a competitive electoral environment tends to fragment into narrower sub-caste identities, undermining the formation of broad political coalitions. This phenomenon was evident across multiple states where caste-based parties struggled to maintain cohesive vote banks. Many caste parties were criticized for governance failures. Zoya Hasan noted that caste-based regional parties often relied heavily on patronage and identity consolidation at the expense of administrative efficiency, resulting in public dissatisfaction. Dipankar Gupta argued that modernization, migration, and urbanization weakened traditional caste bonds, creating individuals whose political aspirations were defined less by caste identity and more by economic opportunity and globalized cultural exposure. Moreover, the aspirational youth, increasingly influenced by mass media and digital communication, sought narratives that promised dignity, development, and national pride–aspirations often unmet by caste-centric rhetoric. Pratap Bhanu Mehta pointed out that Indian democracy's expansion created a demand for a more inclusive and moral vision of governance, something identity-based parties struggled to articulate. These factors collectively contributed to the decline of caste as the primary axis of political mobilization.

The Rise of Cultural Nationalism

Cultural nationalism emerged as a powerful alternative to caste-based politics. Building on Benedict Anderson's notion of imagined communities, Indian scholars such as Badri Narayan argue that cultural nationalism constructs a shared civilizational identity that transcends caste. This identity is rooted in history, cultural memory, and symbolic representation. The rise of cultural nationalism was supported by decades of ideological work carried out through social, educational, and cultural institutions, creating a deep cultural reservoir that could be politically mobilized. Andersen and Damle have shown how extensive grassroots networks helped reframe political identity in civilizational terms. Technological change amplified this ideological consolidation. The spread of social media and smartphone access created new forms of political communication capable of bypassing caste intermediaries and connecting directly with voters. Digital narratives focused on national pride, cultural revival, and civilizational glory gained mass traction. Pratap Bhanu Mehta argues that cultural nationalism offered a normative vocabulary that resonated deeply with aspirational citizens who sought dignity, empowerment, and global recognition. This ideological and communicational shift laid the groundwork for cultural nationalism to supersede caste as a mobilizational force.

Welfare-State Governance and Cross-Caste Consolidation

An important factor in the consolidation of cultural nationalism was the transformation of welfare governance. Universal welfare schemes such as housing, healthcare, sanitation, and direct benefit transfers strengthened the relationship between the state and marginalized communities. Yamini Aiyar and Michael Walton argue that welfare policies shifted the logic of state–citizen engagement from caste- mediated patronage networks to direct state delivery. This undercut the influence of caste leaders who traditionally mediated political support. Welfare-state expansion created new forms of political belonging rooted in citizenship rather than caste identity. Voting

behavior became increasingly influenced by perceptions of governance performance. Badri Narayan observes that welfare schemes were strategically used to integrate non-dominant OBCs and marginalized Dalits into wider cultural-nationalist coalitions, contributing to the formation of new political blocs that cut across caste lines. This welfare-driven consolidation enabled cultural nationalism to establish durable cross-caste support.

Symbolic Politics and Ritualization of Cultural Identity

Cultural nationalism also gained momentum through symbolic politics. Public spectacles, temple inaugurations, national celebrations, cultural festivals, and mass rituals created emotionally charged collective experiences. Ashutosh Varshney emphasizes that symbolic politics plays a critical role in constructing shared identities, particularly in diverse societies. Cultural symbols operate at a broader scale than caste markers and thus offer a unifying emotional experience. Badri Narayan highlights that cultural narratives and rituals provide a sense of dignity to marginalized groups who may feel excluded from traditional caste hierarchies. Cultural symbolism thus becomes a tool for emotional integration, reinforcing the appeal of cultural nationalism across diverse caste groups. This symbolic dimension enhances the political reach of cultural nationalism, making it a formidable mobilizational framework.

Political Realignment: Caste Reconfigured Within a New National Framework

While cultural nationalism appears to transcend caste, scholars like Yogendra Yadav caution that caste remains a deeply embedded social reality. Instead of eliminating caste, cultural nationalism reorganizes caste identities within a broader ideological framework. Suhas Palshikar describes this as the emergence of a new political bloc composed of upper castes, non-dominant OBCs, and sections of Dalits, unified through welfare, symbolism, and ideological narratives. Caste remains relevant in electoral calculations, candidate selection, and social hierarchies, but its political expression is reframed within national-cultural identity. This transformation aligns with Burnham's concept of political realignment, which refers to long-term, durable shifts in political behavior and ideological cleavages. Caste becomes a reorganized resource rather than a primary mobilizational identity.

Technological Transformation and the Decline of Caste Intermediaries

Technological transformation has dramatically accelerated the decline of caste intermediaries. Social media, online video content, and digital political campaigns have enabled national leaders to communicate directly with citizens. Sahana Udupa and Steven McDowell argue that digital platforms create new "imagined collectivities" centered on nationalism rather than caste. Digital media amplifies emotional, symbolic, and personalized narratives that favor civilizational identity over localized caste identities. The constant flow of digital content constructs a parallel public sphere where cultural nationalism becomes the dominant interpretive lens. This digital restructuring of the political sphere has marginalized traditional caste leaders and networks, further consolidating cultural nationalism.

Consequences for Democracy and Social Justice

The political realignment from caste mobilization to cultural nationalism has complex consequences for Indian democracy. On the positive side, cultural nationalism has integrated diverse caste groups within a broader narrative of national identity, reducing the parochial fragmentation associated with caste politics. Welfare-state governance has created new forms of political inclusion rooted in citizenship rather than caste affiliation. Marginalized castes have gained symbolic recognition through cultural narratives that emphasize their role in civilizational history. However, significant concerns remain. Pratap Bhanu Mehta warns that cultural nationalism may obscure structural caste inequalities, creating an illusion of unity while leaving deeper social hierarchies intact. Kancha Ilaiah Shepherd argues that without addressing systemic caste discrimination, cultural nationalism risks becoming a homogenizing ideology that suppresses subaltern voices. Ashutosh Varshney notes that cultural nationalism may also diminish pluralism by creating ideological boundaries that marginalize minority communities. Thus, while the political realignment offers new forms of integration, it also poses risks for democratic equality and inclusiveness.

Conclusion

The transformation of Indian politics from caste mobilization to cultural nationalism reflects a profound political realignment shaped by ideological consolidation, technological modernization, welfare-state governance, and symbolic politics. Caste, once the central axis of political mobilization, has been reorganized within a broader cultural-nationalist framework. This shift has reshaped political coalitions, voter behavior, and governance priorities, giving rise to new forms of political belonging. Yet caste remains an enduring social reality, and cultural nationalism's inclusive veneer risks masking persistent inequalities. The future of Indian democracy will depend on how it balances the cultural-nationalist narrative with commitments to social justice, pluralism, and constitutional equality. Understanding this realignment is crucial for analyzing the evolving nature of identity, power, and representation in contemporary India.

Research Scholar
MGKVP University Varanasi
Guide
Prof. Pankaj Kumar Jha
Pandit Kamalapati Tripathi Govt. P.G. College
Chandauli, U.P.

References:

1. Aiyar, Y., & Walton, M. (2015). *Rights, accountability and citizenship: The trajectory of India's welfare state*. Accountability Initiative.
2. Andersen, W., & Damle, S. (2019). *The RSS: A view to the inside*. Penguin Random House.
3. Anderson, B. (1983). *Imagined communities: Reflections on the origin and spread of nationalism*. Verso.
4. Bhargava, R. (2020). *Politics and ethics of the Indian constitution*. Oxford University Press.
5. Burnham, W. D. (1970). *Critical elections and the mainsprings of American politics*. W. W. Norton.
6. Chandra, K. (2004). *Why ethnic parties succeed: Patronage and ethnic head counts in India*. Cambridge University Press.
7. Deshpande, A. (2011). *The grammar of caste: Economic discrimination in contemporary India*. Oxford University Press.
8. Dirks, N. (2001). *Castes of mind: Colonialism and the making of modern India*. Princeton University Press.
9. Gupta, D. (2000). *Interrogating caste: Understanding hierarchy and difference in Indian society*. Penguin Books.
10. Hasan, Z. (2010). *Politics of inclusion: Castes, minorities, and affirmative action*. Oxford University Press.
11. Ilaiah, K. (1996). *Why I am not a Hindu*. Samya.
12. Ilaiah Shepherd, K. (2019). *From a Shepherd Boy to an Intellectual*. Samya.
13. Jaffrelot, C. (2003). *India's silent revolution: The rise of the lower castes in North India*. Hurst.
14. Jaffrelot, C., & Verniers, G. (2020). The Modi factor in the 2019 election. *Studies in Indian Politics*.
15. Kothari, R. (1970). *Politics in India*. Orient BlackSwan.
16. Mehta, P. B. (2003). *The burden of democracy*. Penguin Books.
17. Mehta, P. B. (2019). The deeper crisis in Indian democracy. *Journal of Democracy*.
18. Narayan, B. (2022). *Republic of Hindutva: How the Sangh is reshaping Indian democracy*. Penguin Viking.
19. Palshikar, S. (2017). Regional parties and realignment in Indian politics. *Studies in Indian Politics*.
20. Varshney, A. (2002). *Ethnic conflict and civic life: Hindus and Muslims in India*. Yale University Press.
21. Varshney, A. (2019). Modi's India: Nation, identity, transformation. *Foreign Affairs*.
22. Yadav, Y. (1999). Understanding the second democratic upsurge. In F. Frankel et al. (Eds.), *Transforming India*. Oxford University Press.
23. Yadav, Y., & Palshikar, S. (2009). Ten theses on state politics in India. *Seminar*.

Research Paper

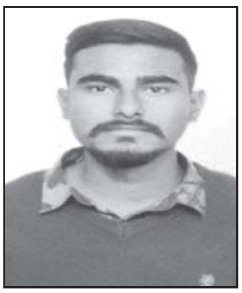

Underutilization of the Judicial System with Respect to the Rights and Status of Under-Trial Prisoners in India

Shubham Kumar* **Siddhant Gupta****

Abstract

India is one of the largest under-trial detention jurisdictions in the world, with almost three-fourth of the prisoners being under-trial (UTPs). The paper is political-science analysis of how the institutional design, constraints of state capacity, coercive policing styles, and judicial inefficiencies are the factors that lead to the long-standing under-utilization of the judicial mechanisms that are established to safeguard the rights of the detainees. The paper presents a structural governance issue: an absence of alignment between legal norms and bureaucratic practice based on the persistence of excessive pre-trial detention using constitutional law, political-institutional theory, NCRB datasets, Law Commission reports, and Supreme Court jurisprudence, and exacerbated by socio-economic inequalities and penal populism. The research also assesses the implementation gaps of some of the main reforms like Section 436A CrPC, legal aid service, and the Arnesh Kumar guidelines. The paper ends by a political-institutional reform agenda to fill in the disjuncture between judicial design and on-ground enforcement, and improve the rule of law of the most vulnerable detainees in India.

Keywords

Under-Trial Detention, Institutional Design, Judicial Inefficiencies, State Capacity, Penal Populism, Legal Reform Implementation.

Introduction

The plight of under-trial prisoners in India reveals an old conflict between the ideals of constitution and the real day-to-day operations of the criminal justice system. Even though the Indian Constitution ensures individual freedom, equal chances under the law, and prevention against unreasonable arrest, a considerably high percentage of individuals within the Indian prison systems have not been found guilty of any crime.[1] A number of them are kept in months or years in custody pending the slow passage of their cases in the courts. This fact casts solemn questions regarding the functionality of the judicial system, as well as the degree to which its mechanisms are actually implemented in an attempt to protect the rights of people who are yet to be considered guilty. The ratio of under-trial inmates to the total population is always very large in India showing severe systemic deficiencies.[2] The use of pre-trial detention is usually an indicator of the structural constraints and not the seriousness of the suspected crime. The practical barricades, which include inaccessibility to legal services, ignorance of rights, procedural inefficiencies, and administrative waste, all come to play to create a scenario where the freedom of an accused individual is more likely to be determined by socio-economic status than the case. It is more apparent when acknowledging the fact that the communities of marginalization are overrepresented among those being under-trial, indicating the trends of discrimination, weakness, and disparity in accessing justice.[3] The poor enforcement of the legal protection is another important problem. The Indian legal system has

measures that promote the release on early release, restrict needless detention and foster the idea that pre-conviction imprisonment is an exception and not the norm. Nevertheless, such safeguards are often not utilized. Some of these under-trial inmates are eligible to be released under the statutory requirements that can serve to avoid keeping them behind bars longer, but they are nevertheless confined in an effort to avoid administrative glaciation, a lack of coordination among the courts and prisons, or a mere lack of knowledge by officials regarding the provisions of the statutory provisions. Because of this, there are legal structures that are meant to ensure liberty but they do not always translate to real relief of those who are in need of it the most. Judicial capacity is also very crucial in determining the outcomes of under-trial detainees.[4] The Indian courts have a huge number of cases in their backlog, thus taking a very long time before these cases can be heard, as well as leaving the accused people long periods of uncertainty. These delays are caused by insufficient staffing of the judiciary, outmoded procedure, and disparate use of modern tools of case management. Although legal changes have been proposed and in certain instances, they have been initiated, their effectiveness has been weak unless they are supported by institutions and real-world implementation. The political and social consequences of these difficulties are enormous.[5] The high rate of under-trial detainees, along with the poor level of judicial protection usage, is an indication of the lapses in democratic responsibility and access to justice. It emphasizes the fact that legal rights can be theoretically present, but practically unattainable by substantial groups of people. These issues cannot be properly understood by merely examining the law but rather by examining interaction of state capacity, organization of the state, and social hierarchies to create the experiences of under-trial prisoners. Looking at such intersections gives an understanding of the reason why the judicial system is a underused system and the consequences they have on the rights, dignity, and daily lives of Indians awaiting trials.[6]

Theoretical Framework

This is because the theoretical basis of the multidisciplinary nature of the understanding of underutilization of the judicial system with respect to the rights and status of under-trial prisoners in India. It is not a legal matter but rather one which cuts across political science, studies of governance, criminology and constitutional theory.[7] The next framework is based on four large theoretical strands, namely, state capacity, access to justice, carceral politics, and the rule of law. These views combined can be used to understand why under-trial detention exists despite the constitutional guarantees, judicial dicta, and constitutional promises of liberty.[8] The first one is the state capacity theory which concentrates on whether or not governmental institutions can be effective in the implementation of laws, provision of public services and administration of justice.[9] Regarding the under-trial prisoners, judicial delays, backlog, and the uneven enforcement of bail or any release mechanism are all best explained in terms of state capacity in this case. The legal protections that accused people have are hard to implement when the institutions are understaffed, ill-coordinated, inefficient in administration, or resource-deficient.[10] This school of thought focuses on the point that the problem is not only legislative but very administrative and is caused by the contrast between design and performance of the institution on a day-to-day basis. Access to justice is the second theoretical strand that studies the way people relate to the system of law and hindrances that do not allow them to receive fair treatment. In the case of under-trial prisoners, there are barriers to the realization of legal rights due to poverty, poor legal literacy, absence of representation, and even social marginalization.[11] Theories of access to justice emphasize the fact that the formal guarantees of access to justice, including free legal assistance or the presumption of innocence, are not always realized by disadvantaged groups. This model can serve to explain why some populations are more prone to stay in excessive pre-trial incarceration even after satisfying the legal and legal bail or release requirements. This school of thought sees pre-trial detention as not merely a legal resolution of the matter but rather as a larger political platform that is indicative of social stratification, perception of risk, and the

coercive force of the state.[12] According to Carceral theorists, criminal justice institutions tend to reproduce already existing inequalities by exposing the marginalized groups to increased surveillance and custodial treatment. In this context, under-trial detention is a form of state control over social and political weaknesses, at times regardless of guilt or innocence, according to the law.

Lastly, the rule-of-law framework also emphasises the significance of predictability, impartiality and fair application of law. Although the legal environment of India is based on the strong constitutional values, the fact that there is still a disconnection between the law and practice poses the question of unequal application and inconsistency of the procedures in the legal framework.[13] The rule-of-law approach can be used to shed light on the impact of delays, arbitrary detention, ineffective enforcement of the protections on the validity of the judicial system and the loss of confidence in the population. A combination of these four theoretical approaches gives a complete prism of understanding the problems of under-trial prisoners in India. They disclose that the poor use of the judicial mechanisms cannot be explained only as a technical issue. Rather, it is a product of lower structural tendencies including institutional capacity, socio-economic inequality, political power, and unequal realisation of constitutional rights . This framework enables taking the analysis in a holistic manner, which relates the legal provisions with the wider political and social reality that influence the experience of under-trial detainees.[14]

Legal and Constitutional Landscape

The legal and constitutional basis of the rights and treatment of under-trial prisoners in India is constructed on a solid basis of the civil liberties, procedural safeguards, and judicial protections. The Indian Constitution is at the centre of this framework as it gives the fundamental rights that were aimed at ensuring that the freedom of individuals is upheld, and state is not allowed to act arbitrarily. The right to life and to personal liberty is one of the pillars among them.[15] This right encompasses a right against unlawful detention, entitlement to fair procedure and the right against a person being stripped of his liberty except by a fair, just, and lawful process. The constitutional obligation to guarantee under-trial inmates is further justified by the more general principles of due process and equality before the law.[16] These guidelines mean that most of the accused irrespective of socio-economic status can claim equal entitlement to procedural fairness. Another aspect of legal representation highlighted in the Constitution is the need to have access to legal aid through the establishment of free counsel to those that are unable to afford legal advice.[17] This need is based on the understanding that meaningful access to justice is a component of a rights-based society that is democratic in nature. The basic mandate of liberty cannot be achieved properly without proper legal aid, as it may turn into a luxury offered to a limited number of people sufficiently equipped.[18]

The statutory framework goes into greater detail, though, by the protection of the Code of Criminal Procedure (CrPC), which sets forth the procedure of arrest, bail, remand, and trial. The CrPC is filled with the clauses that promote minimally restrictive use of pre-trial detention, such as prescriptions of the amount of bail and certain guarantees of the persons who have been overly detained. Among the major provisions is a release of under-trial prisoners who have been in custody over a long period considering the maximum sentence to the alleged crime. These procedures are supposed to make pre-trial detention not a punishment unto itself .

The court action has been instrumental in enhancing the legal framework of under-trial inmates. The Supreme Court of India has over the years reiterated severally the need to avoid unnecessary detention and also to make sure that constitutional guarantees are not hollowed out by administrative inefficiencies. The Court has through landmark rulings also pointed out that speedy trial, humane treatment and presumption of innocence are not mere ideals but part of a justice system that believes in fairness. Judicial guidelines have also led to the initiation of reforms by the government agencies to cut the case backlogs, to enhance access to legal assistance and to simplify the criminal processes. With this massive

legal and constitutional edifice, there is still a challenge in the implementation of rights, as on paper. Crowded prisons, lack of resources and disproportionate application of statutory clauses still hinder meaningful application of legal protection.[19] Also, the efficacy of these safeguards is often undermined by institutional inertia, absence of coordination between courts and prisons, and marginalization of vulnerable populations. The discrepancy between official principles and practical facts shows the necessity of continuous administrative changes and greater institutional responsibilities. Altogether, the legal and constitutional environment introduces a holistic model that would safeguard the rights of the under-trial prisoners. Its success however, rests in how well institutions are committed to maintaining these principles over time and how well the system can see to it that promises made in the constitution are actually fulfilled in practice across the board, irrespective of status or circumstance.[20]

Empirical Overview: The Under-Trial Crisis in India

One of the most burning issues to the criminal justice system is the under-trial prisoner (UTP) crisis in India. Statistical evidence indicates that India has the highest percentage of pre-trial detainees in the globe. The recent statistics provided by the National Crime Records Bureau indicate that of the total prison population more than 77 percent of the prisoners are under-trial.[21] It implies that an overwhelming proportion of people in prisons did not commit a crime, which indicates inefficiency in the system and reliance on custodial detention as a response to default in dealing with crime. The other important warning sign of the under-trial crisis is prison overcrowding. Numerous facilities are functioning way above the designated capacity and some states have occupancy rates of more than 180 per cent of the approved capacity. Congestion increases the susceptibility of under-trials, provision of basic facilities, health care and rehabilitative services. Long-term pre-trial detention is also associated with considerable socio-economic impacts in terms of livelihoods, education, and family setups.[22] In many instances, they spend longer than what the law has stipulated as the maximum sentence on the crime they were charged with and this is an indication of extreme disconnection between the law and the practice of administration. Demographic studies indicate that the under-trial prisoners are overrepresented in the disadvantaged groups of society, such as the economically disadvantaged groups, lower castes, and religious minorities.[23] This excessive representation shows that policing is systematically biased, arrest operations are systematically biased, and access to legal representation is systematically biased. Research has always indicated that cases that are under-tried on minor offences or economic crimes are usually kept in custody merely because they cannot afford to be put on bail or even hire a good lawyer.[24] This problem is further aggravated by the fact that most individuals do not have the awareness of the statutory provisions or their eligibility of being released early, which leaves the detainees at the mercy of slow judicial procedures or intervention by outside advocacy group. Pre-trial detention is also quite problematic. As per latest prison statistics, there are thousands of under-trial prisoners who have been in custody more than one year and some prisoners are still in custody three to five years without trial. This kind of extended detention is not only in contravention of the constitutional right to speedy trial but it puts a lot of strain on the judicial system.[25] The judges are frequently ineffective in handling the cases, with large volumes of cases, judicial staffing, and delays in the application of the process often creating bottlenecks in the system, which creates additional bottlenecks and continues to pre-trial detention. The statutory guarantees still do not utilise the legal aid and support mechanisms. According to the surveys, in less than 20% of the under-trial convicts, professional assistance of the court is provided, which means that the majority of the population does not have real representation. Overcrowding, length of imprisonment, and lack of access to legal services contribute to the problem of the criminal justice system in India, which highlights the structural issues of the criminal justice system in India. The available empirical evidence illustrates clearly that under-trial detention is not a legal or

procedural matter, but a multi-faceted crisis of governance, social inequality, as well as institutional capacity. All in all the empirical picture of the under-trial prisoners in India depicts a profound systemic issue. The large percentage of pre-trial detainees, long jail terms, overpopulation, and socio-economic inequalities all indicate the underuse of the judicial processes aimed to protect the freedom.[26] To deal with this crisis, procedural, reforms, tougher legal assistance, enhanced institutional capacity and tougher monitoring measures are all needed in order to guarantee that the constitutional rights become virtually achievable.

Factors Contributing to Underutilization of Judicial Remedies

The continued under-use of judicial processes as an under-trial prisoner in India can be linked to a combination of several interrelated factors including procedural, administrative, socio-economic, and political ones. Although there is an elaborate constitutional and statutory foundation to ensure the rights of the accused persons are taken into consideration, the processes usually do not result into the provision of timely and effective relief to persons awaiting trial.

Procedural Delays and Judicial Backlog - The backlog of cases that plague the Indian court system is one of the greatest contributors to judicial underutilization. The court that has the least responsibility in handling criminal cases is the trial court, which has reported to be overwhelmed with cases pending nationwide which are in millions. The sluggishness of judicial operations does not allow hearing bail requests, remand cases and trials on time, and many under-trial inmates are detained much longer than the law allows.[27] These delays are increased by procedural inefficiencies, obsolete practices, and a poor level of adoption of case management technology so that the courts can protect the constitutional guarantees effectively.

Police Discretion and Arrest Practices - The police practices are very important in forming the flow of people to pre-trial detention. Although the law and court rulings underline the need to arrest only in situations of unavoidability, the police tend to employ detention as a standard tool of investigation. Arrest is possible without adequate reasons especially to the poor and marginal communities with little resources to question the police. This makes under-trials flood the courts because of the discretionary aspect of policing coupled with ineffective control measures on police practices and constrained the opportunity to adjudicate the bail or release rights of the accused due to its practical limitations of the law.[28]

Inadequate Legal Aid and Representation - Legal representation is a fundamental right of fair trial and most under-trial convicts do not have effective access to counsel. Despite the provisions of the Constitution and other legal statutes regarding free legal aid, the reality is that, there is a lack of funds, a case overload among lawyers and unequal allocation of funds in the system. Most of the detainees do not know their rights or the presence of any form of legal help and cannot make their bail applications on time or appeal against procedural anomalies. This weakness is a serious impediment to accessing or implementing judicial remedies where they theoretically exist.

Socio-Economic Barriers to Bail - Economic and procedural conditions of bails tend to be disadvantageous to less economically powerful prisoners. Financial sureties are often considered in the bail decision and when a person is not able to provide them, he is kept captive even after passing other eligibility tests. Poverty meets with social marginalization and lack of awareness, and that leads to a scenario where in theory, everyone enjoys legal rights, but in practice, these rights are unattainable by most of the under-trials. These social-economic obstacles support structural inequality in the criminal justice system.[29]

Weak Enforcement of Judicial Guidelines - The Supreme Court and other High Courts have come up with comprehensive rules of ensuring that arbitrary detention is discouraged and that judicial intervention is implemented in due time. The landmark rulings require the judicial review of detention periodically, implementation of procedural protections

in the course of arrest, and the stress on the use of non-custodial measures where feasible. Nevertheless, there is no standard implementation because of the lack of institutional accountability, decentralized administration, and no effective monitoring mechanisms in place. These judicial proclamations have minimal practical impact without the active compliance on the level of police, prison executives, and courts of lower level.

Political and Institutional Incentives - Lastly, political and institutional incentives are the factors that impact the pre-trial detention prevalence. The politics of crime usually prefers tough-on-crime stories, which discourages any reform that would lead to lower incarceration rates or focus on alternatives to custodial incarceration. Systemic delays are also enhanced by bureaucratic inertia, risk-averse decision making and fractured governance structures.[30] The political pressure and ineffectiveness of the institution will guarantee that custodial imprisonment will continue to be the default practice, as opposed to a well-explained exception, and will consequently lead to the underuse of the judicial procedures that are meant to safeguard liberty. Combined, these aspects show that the lack of using judicial remedies is not a consequence of one failure but a multifaceted complex of procedural, institutional, socio-economic, and political processes. To overcome this issue, reforms on various levels of government such as expansion of judicial capacity, reforms of police services, greater access to legal assistance, and institutionalization of non-custodial means of pre-trial management are necessary..

Recommendations and Conclusion

The solutions to the under-use of judicial redress in dealing with the under-trial prisoners in India can only be achieved through extensive changes in the law, administration, social, and political levels. The high number of cases pending adjudication, backlogged legal processes, and the lack of judicial capacity point to the fact that a serious expansion of courts, the number of judges and employees, modernization of the procedures, and the introduction of case management systems that make use of technology such as virtual hearings and automated tracking are the only way to guarantee the timely adjudication of the cases and avoid the needless detention of individuals. Enhancing legal aid is also essential; this involves the provision of more trained legal aid lawyers, creation of special legal aid units in the prisons and holding of sensitization to inform prisoners on their rights and eligibility to bail or early release. Bail reforms and non-custodial practices should be of priority where simplified procedures, lowered finances and risk-based evaluation should be put into consideration to make sure only those who present real dangers are kept in custody. Police reforms are also necessary to avoid false arrests and arbitrary detention which has contributed greatly to the under-trial inflow; these reforms should include better training, a tight rein on its operations, inner accountability measures, and better coordination of the police, the prosecutors and the courts. Administration of prisons such as separation of pre-trial detainees, basic amenity provision, medical facilities and rehabilitation programs can help to reduce the adverse effects of overcrowding and extended imprisonment and a systematic identification of those who should be released under the stipulated provisions of the law and subsequent release will further ease the strain on the prisons. The law, trends in detention, and best practices should be implemented through policy and legislative accountability, as well as data-driven monitoring and effective implementation of the law. Taken together, these measures can solve both procedural inefficiencies and socio-economic inequalities that make the marginalized and economically disadvantaged prisoners unable to seek judicial redress. Empirical evidence points to the fact that such a high rate of pre-trial detainees, the length of the jail term, and the imbalance of the system as evidence of the combination of judicial, administrative, and social failures, which makes it obvious that the issue of under-trial detention is both a governmental and a legal one. These reforms will help alleviate congestion, speed up the process, and ensure the dignity and rights of under-trial prisoners are respected, and constitutional rights to liberty, equality, and fair trial will actually be achieved. Finally, by establishing an

effective, transparent and responsive criminal justice system that focuses on addressing under-trial population, the criminal justice system will reinforce democratic governance and the protection of human rights and will ensure that the criminal justice system of India turns into one that will uphold the respect of justice, equity and rule of law to all people regardless of social-economic status.

*** Research Scholar**
Department of Continuing Education and Extension, University of Delhi, Delhi, India

**** Research Scholar**
Faculty of Law,
University of Delhi, Delhi, India

References:

1. National Crime Records Bureau. (2023). *Prison Statistics India 2023*. https://ncrb.gov.in
2. National Judicial Data Grid. (2024). NJDG Statistics. https://njdg.ecourts.gov.in
3. Commonwealth Human Rights Initiative. (2020). Section 436A: A Review of Implementation Across States. https://humanrightsinitiative.org
4. Ahuja, R. (2016). *Justice Before Trial: A Study of Pre-Trial Detention in India*. Tata Institute of Social Sciences.
5. Aiyar, Y., & Shrivastava, A. (2022). Pretrial Detention and Inequality in India. Centre for Policy Research. https://cprindia.org
6. Supreme Court of India. (1979). *Hussainara Khatoon v. State of Bihar*, 3 SCC 532.
7. Ahuja, R. (2016). *Justice Before Trial: A Study of Pre-Trial Detention in India*. Tata Institute of Social Sciences
8. Aiyar, Y., & Shrivastava, A. (2022). Pretrial Detention and Inequality in India. Centre for Policy Research. https://cprindia.org
9. Bhatia, G. (2020). *The Transformative Constitution*. HarperCollins
10. Commonwealth Human Rights Initiative. (2020). Section 436A: A Review of Implementation Across States. https://humanrightsinitiative.org
11. National Crime Records Bureau. (2023). *Prison Statistics India 2023*. https://ncrb.gov.in
12. National Judicial Data Grid. (2024). NJDG Statistics. https://njdg.ecourts.gov.in
13. Sharma, P. (2019). Access to justice and legal aid in India. Economic & Political Weekly, 54(32). https://www.epw.in
14. Supreme Court of India. (1977). *State of Rajasthan v. Balchand*, 4 SCC 308.
15. Constitution of India. (1950). Government of India. https://legislative.gov.in
16. Code of Criminal Procedure. (1973). Government of India. https://legislative.gov.in
17. Supreme Court of India. (1977). *State of Rajasthan v. Balchand*, 4 SCC 308
18. Supreme Court of India. (1979). *Hussainara Khatoon v. State of Bihar*, 3 SCC 532.
19. National Crime Records Bureau. (2023). *Prison Statistics India 2023*. https://ncrb.gov.in
20. National Legal Services Authority. (2023). Legal Aid Services and Performance Report. https://nalsa.gov.in
21. National Crime Records Bureau. (2023). *Prison Statistics India 2023*. https://ncrb.gov.in
22. National Judicial Data Grid. (2024). NJDG Statistics. https://njdg.ecourts.gov.in
23. Commonwealth Human Rights Initiative. (2020). Section 436A: A Review of Implementation Across States. https://humanrightsinitiative.org
24. Ahuja, R. (2016). *Justice Before Trial: A Study of Pre-Trial Detention in India*. Tata Institute of Social Sciences
25. Law Commission of India. (2017). Report on Criminal Justice Reforms. https://lawcommissionofindia.nic.in
26. National Legal Services Authority. (2023). Legal Aid Services and Performance Report. https://nalsa.gov.in
27. NLIU Law Review. (2017). Ayushi/ Priyadarshini & Madhurika/ Durge, "Undertrial Prisoners in India." Volume/ 6, Issue/ 2. https://nliulawreview.nliu.ac.in
28. International Journal of Law, Management & Humanities. (2024). Neya/ A.S., "Undertrial Prisoners in India: Detention of the Presumed 'Innocent'." 7(2). https://doi.org/10.10000/IJLMH.117181
29. Indian Journal of Law and Legal Research.

(2025). "Prison Reforms & Undertrial Rights: Analyzing the Plight of Prisoners in the Indian Criminal Justice System." https://www.ijllr.com

30 CEDA Ashoka University. (2022). "The Burgeoning Share of Under Trial Prisoners in India's Jails." https://ceda.ashoka.edu.in

Bibliography:

- Ahuja, R. (2016). Justice Before Trial: A Study of Pre-Trial Detention in India. Tata Institute of Social Sciences.
- Aiyar, Y., & Shrivastava, A. (2022). Pretrial Detention and Inequality in India. Centre for Policy Research. https://cprindia.org
- Bhatia, G. (2020). The Transformative Constitution. HarperCollins.
- Commonwealth Human Rights Initiative. (2020). Section 436A: A Review of Implementation Across States. https://humanrightsinitiative.org
- Constitution of India. (1950). Government of India. https://legislative.gov.in
- Code of Criminal Procedure. (1973). Government of India. https://legislative.gov.in
- National Crime Records Bureau. (2023). Prison Statistics India 2023. https://ncrb.gov.in
- National Judicial Data Grid. (2024). NJDG Statistics. https://njdg.ecourts.gov.in
- National Legal Services Authority. (2023). Legal Aid Services and Performance Report. https://nalsa.gov.in
- Law Commission of India. (2017). Report on Criminal Justice Reforms. https://lawcommissionofindia.nic.in
- Sharma, P. (2019). Access to justice and legal aid in India. Economic & Political Weekly, 54(32). https://www.epw.in
- Supreme Court of India. (1977). State of Rajasthan v. Balchand, 4 SCC 308.
- Supreme Court of India. (1979). Hussainara Khatoon v. State of Bihar, 3 SCC 532.
- Supreme Court of India. (2014). Arnesh Kumar v. State of Bihar, (2014) 8 SCC 273.
- NLIU Law Review. (2017). Ayushi?Priyadarshini & Madhurika?Durge, "Undertrial Prisoners in India." Volume?6, Issue?2. https://nliulawreview.nliu.ac.in/journal_articles/undertrial-prisoners-in-india
- International Journal of Law, Management & Humanities. (2024). Neya?A.S., "Undertrial Prisoners in India: Detention of the Presumed 'Innocent'." 7(2).

Research Paper

Impact of COVID-19 on Skill Development in India: Lessons and the Way Forward for Lifelong Learning

Deepak Goswami* **Prakash Narayan****

Abstract

The COVID-19 pandemic transformed India's skill development ecosystem, exposing its critical vulnerabilities while simultaneously catalyzing innovative approaches to vocational education and training. The abrupt closure of training institutions necessitated an immediate transition to online learning modalities, creating unprecedented challenges for learners lacking access to digital technologies and resources. This comprehensive analysis examines the pandemic's multifaceted impact on India's skill development sector through systematic evaluation of government reports, academic literature, industry studies and field observations. The paper also contributes to understanding pandemic-driven educational disruptions and provides strategic insights for developing resilient, adaptive skill development frameworks that can effectively serve India's demographic dividend in the post-pandemic era.

Keywords: COVID-19, Skill Development, Vocational Education, Digital Divide, TVET, Online Learning, Lifelong Learning

Introduction

The COVID-19 pandemic created an unprecedented global crisis that altered the educational landscapes worldwide, with profound implications for practice-based learning systems (UNESCO-UNEVOC, 2020). India's skill development ecosystem, traditionally characterized by hands-on training and industry-relevant competencies, encountered extraordinary challenges during prolonged lockdowns and social distancing measures (International Labour Organization, 2020). The pandemic's impact transcended temporary institutional closures, triggering a comprehensive transformation in how vocational education and training is conceptualized, delivered and assessed (OECD, 2020).

The global economic disruption manifested differently across sectors and geographical regions, with some industries ceasing operations entirely while others experienced unprecedented demand surges due to skilled worker shortages (World Economic Forum, 2021). Several sectors demonstrated remarkable adaptability, reorienting production capabilities toward essential items such as personal protective equipment and medical devices (MoHFW, 2020). However, workers across all sectors required adaptation to new organizational structures, including stringent workplace safety protocols and remote work arrangements (ILO, 2020).

Lockdown measures proved particularly severe for vulnerable workers, especially those in the informal sector dependent on daily earnings with limited savings, raising critical concerns about basic survival (Chadha & Agarwal, 2021). Women, constituting a significant portion of wage labor, self-employment and unpaid family work, faced disproportionate challenges during this period (Agarwal & Choudhury, 2021). Young people encountered exceptional difficulties in labor market entry, potentially creating long-term consequences for their career trajectories and earning potential (Kapur, 2020).

The immediate challenge involved rapidly

transitioning Technical and Vocational Education and Training (TVET) provision from face-to-face delivery to digital or blended learning modalities (Khasawneh, 2024). Several nations began developing virtual workplace performance assessments, modifying examination formats and transitioning traditionally physical assessments to online platforms (UNESCO-UNEVOC, 2020).

This paper examines the comprehensive impact of the COVID-19 pandemic on skill education in India, utilizing secondary data from various reports, academic publications and field observations during the pandemic period. It provides insights into challenges faced, adaptations implemented and lessons learned that can inform future resilience planning for India's skill development sector.

Job Market Dynamics during the Pandemic

1. Transformation of Work Patterns

The rapidly evolving nature of work during the pandemic significantly expanded India's skill development requirements by reflecting persistent concerns across industries regarding skilled worker's availability (World Economic Forum, 2021). This transformation transcended sectoral boundaries, affecting both manufacturing and service industries equally (FICCI & EY, 2020). The pandemic created distinct employment landscape winners and losers, with online platform-based services experiencing substantial growth while traditional professions adapted through virtual delivery models (NSDC, 2021).

The formal footwear market declined as casual and leisure footwear markets expanded, reflecting institutional adoption of work-from-home cultures (FICCI & EY, 2020). Similarly, fitness centers transitioned to virtual delivery models, including online personal training sessions, demonstrating sectoral adaptability during the crisis (World Economic Forum, 2021).

2. Manufacturing Sector Challenges

Manufacturing sectors in India, particularly labor-intensive industries, frequently employed cost-minimization strategies for hazardous tasks, exploiting the vulnerability of marginalized groups through dangerous assignments (ILO, 2020). The compensation structure remained disconnected from skill levels and social security provisions, creating critical vulnerabilities during the pandemic period (NITI Aayog, 2021). This highlighted the necessity for fundamental mindset shifts combined with effective skilling strategies to capitalize on India's demographic dividend benefiting industries, workers and society (World Bank, 2021).

3. Emergence of COVID Warriors

Many industries struggling with economic slowdown faced survival challenges during COVID-19, implementing hiring freezes, salary reductions and layoffs as common business strategies for maintaining operational viability (PIB, 2020). Conversely, demand for frontline workers designated as "COVID warriors" increased rapidly across various sectors (MoHFW, 2020).

India's Prime Minister characterized frontline workers as "soldiers without uniforms," primarily including healthcare workers, sanitation personnel and medical professionals (PIB, 2020). The official COVID warriors designation encompassed nurses, pharmacists, laboratory volunteers, National Service Scheme participants, National Cadet Corps members, ASHA workers, Anganwadi workers, home guards and firefighters (MoHFW, 2020). The framework outlined two fundamental expectations: "cure" and "care" with medical professionals providing expertise in the cure component while a significant portion of the existing workforce could be deployed for care components with appropriate training and standards (PIB, 2020).

Impact of the Pandemic on India's Skill Development Ecosystem

1. Digital Transition and the Widening Digital Divide

The majority of skill development programs in India traditionally operated through classroom-based delivery models, creating significant infrastructure challenges when transitioning to online platforms overnight (Sharma & Tiwari, 2021). Participants from low-income families lacked access to essential digital infrastructure, while trainers were inadequately prepared for virtual training delivery, particularly from home environments (Jafar et al., 2023).

The pandemic significantly widened the digital divide between students with resource access and

those without adequate support (Ministry of Electronics & IT, 2021). Despite internet accessibility increasing from 27% to over 50% in preceding years, the majority of youth participating in skill development programs had severely limited access to smartphones and reliable data connectivity (Sharma & Tiwari, 2021). Programs at organizations like Dr. Reddy's Foundation, designed for unemployed youth from low-income families, revealed that 25-30% of students did not own smartphones prior to national lockdown announcement (Dr. Reddy's Foundation, 2021).

This digital divide created substantial barriers to implementing effective online skill development programs, effectively excluding significant portions of the target demographic from continuing education and training during the pandemic period (Gilbertson et al., 2021).

2. Digital Opportunities and E-Learning Innovations

Despite COVID-19 challenges, skill development through e-learning gained increased importance and acceptance as rapid global adoption of digital technologies began redefining business operations (KPMG India & Google India, 2017). The talent landscape in this digital environment underwent significant re-imagination, with digital education creating opportunities for both educators and students, ensuring greater participation in learning processes (FICCI & EY, 2020).

With advancements in connectivity and aspirations for customized learning, e-learning became integral to most organizations' training methodologies (NSDC, 2021). Organizations leveraged multiple learning channels, focusing on hands-on project-based training and social learning approaches for comprehensive skill development (OECD, 2020).

E-learning gained popularity for both technical domains and soft skills development, with soft skills competency delivery becoming increasingly digitized through short concept audio-videos, real-life scenario-based artificial intelligence solutions, secondary research projects and smart gamified solutions (FICCI & EY, 2020).

3. Commuting and Mobility Challenges

When lockdown measures were gradually relaxed, the job placement which is crucial success indicators for short-term training programs were negatively impacted due to several interconnected factors (Skills India, 2021). Disruptions in demand-supply chains resulted in fewer job openings, with sectors such as retail, hospitality and tourism severely affected, offering fewer opportunities compared to healthcare, banking, finance, information technology-enabled services, e-commerce and logistics (World Economic Forum, 2021).

Fear of COVID-19 infection compelled students and families to postpone job placements, while lack of transportation facilities, particularly public transportation preferred by most Indians, made commuting to workplaces difficult even for students receiving job offers (Agarwal & Choudhury, 2021). As cities began reopening, local transportation costs increased threefold, creating additional challenges for students seeking entry-level positions paying between INR 10,000 and INR 15,000 (Skills India, 2021). Many youth in skill development programs preferred working at hyperlocal businesses rather than traveling long distances without affordable transportation options (NSDC, 2021).

4. Funding Constraints and Resource Limitations

Extended lockdown measures through September-October 2020 made funding sources for government-sponsored programs largely unavailable, creating significant pressure on small skill development organizations and forcing them to reduce project staff (Choudhury, 2021). During this period, many Corporate Social Responsibility (CSR) foundations provided considerable flexibility to non-profit partners for experimenting with new approaches, such as virtual delivery and digital infrastructure support, to minimize lockdown impacts on skilling programs (Pandey, 2021).

The pandemic created opportunities for CSR foundations, private foundations, industry partnerships, and employers to assume larger roles in developing the country's skilled workforce (NITI Aayog, 2021). The phase one launch of Pradhan Mantri Kaushal Vikas Yojana 3.0 in January 2021 represented welcome development that helped revitalize government-sponsored skilling programs

(MoSDE, 2021).

Educational Delivery Modalities: Virtual, Blended and Self-Paced Learning

During the COVID-19 pandemic, self-learning applications and virtual programs experienced significant growth, though maintaining equivalent training quality with digital delivery models proved challenging (Khasawneh, 2024). Issues included logistical complications, trainer difficulties in digitally engaging students and participant commitment challenges in online learning environments (UNESCO-UNEVOC, 2020).

Skill development programs already faced challenges in training delivery and achieving desired learning outcomes, with transferring solutions online potentially exacerbating learning outcome difficulties (OECD, 2020). Observations indicated that training course impacts varied during lockdown depending on online course characteristics, with theoretical concepts effectively delivered online while practical sessions still required classroom support (Khasawneh, 2024). Consequently, foundational courses produced better results than those teaching technical skills online (UNESCO-UNEVOC, 2020).

Based on virtual program learning experiences, significant opportunities existed to develop high-quality digital training solutions for youth demographics through trainer-assisted programs deliverable in local languages (NSDC, 2021).

Institutional Adaptations and New Learning Approaches

Organizations demonstrated remarkable agility through increased digital technology utilization, funding portfolio diversification, new skill introductions and Training of Trainers (ToT) course investments, helping them survive the crisis while creating innovative solutions (Pandey, 2021). Rapid transitions to online training enabled management of key processes in core employability skills training programs, though healthcare skilling programs faced difficulties due to their technical nature and practical elements involved (Dr. Reddy's Foundation, 2021).

Student onboarding strategies for virtual classes changed, with clear explanations of virtual class delivery through videos (MHRD, 2020). Students and parents were encouraged to obtain smartphones while training was provided at reduced costs, enabling purchase of necessary data packages for virtual training participation (NSDC, 2021).

Training of Trainers course investments proved extremely beneficial, with trainers receiving training for effective virtual delivery while short videos on core modules were created in vernacular languages (Kapur, 2020). Virtual training was delivered via video conferencing platforms in morning sessions while WhatsApp was used in afternoon sessions to maintain student engagement (FICCI & EY, 2020). Learning management systems were utilized for assessment administration and sharing core module videos for student self-learning, with online parent meetings and weekly sessions helping achieve positive learning outcomes (MHRD, 2020).

Analysis of Challenges and Opportunities

1. Infrastructure and Access Disparities

The pandemic exposed significant disparities in digital infrastructure access between urban and rural areas, as well as across socioeconomic lines, creating unequal opportunities for skill development and potentially perpetuating economic inequalities (Ministry of Electronics & IT, 2021). Rural participants often lacked access to high-speed internet, modern computing devices and quality training facilities, creating barriers to effective online skill development (Sharma & Tiwari, 2021).

2. Quality and Effectiveness Concerns

The rapid transition to online learning raised concerns about maintaining training quality and effectiveness, as traditional vocational education relies heavily on hands-on experience, practical demonstrations and direct supervision difficult to replicate in virtual environments (Khasawneh, 2024). While theoretical components translated well to online formats, practical elements essential to skill development remained challenging to deliver effectively through digital platforms (UNESCO-UNEVOC, 2020).

3. Trainer Preparedness and Capacity Building

The sudden shift to online delivery highlighted gaps in trainer preparedness for digital instruction, with many trainers lacking necessary technological skills and pedagogical knowledge for effective online teaching (Kapur, 2020). This situation necessitated

rapid capacity building initiatives and significant investments in trainer development programs to ensure quality instruction delivery in virtual environments (OECD, 2020).

4. Industry-Academia Collaboration Challenges

The pandemic significantly disrupted traditional mechanisms of industry–academia collaboration, adversely impacting internships, apprenticeships and on-the-job training opportunities, with long-term implications for practical skill development and employment outcomes (ILO, 2020). Students lost access to real-world work environments where they could apply learning and develop professional competencies (World Bank, 2021).

Policy Responses and Government Initiatives

1. National Skill Development Initiatives

The Government of India implemented several policy measures to address pandemic-related challenges in skill development, including continuation of stipend payments for apprentices during lockdown periods, development of online learning platforms and provision of digital infrastructure support for training organizations (MoSDE, 2020).

The National Skill Development Corporation's e-learning aggregator portal, eSkillIndia, offered more than 400 curated courses from various knowledge providers, partnering with international organizations during the pandemic to provide online opportunities for skill-seekers (NSDC, 2021).

2. State-Level Responses

Various state governments implemented innovative approaches to continue skill development during the pandemic, including traditional media such as television and radio for educational content delivery, mobile learning applications and community-based training centers operating with social distancing protocols (MHRD, 2020).

3. Public-Private Partnerships

The pandemic catalyzed new forms of public-private partnerships in skill development, with Corporate Social Responsibility initiatives playing crucial roles in supporting skill development organizations during the crisis, providing both financial support and technological resources to enable transition to digital delivery models (Pandey, 2021).

Lessons Learned and Future Implications

1. Resilience and Adaptability

The pandemic demonstrated both vulnerability and resilience of India's skill development ecosystem (World Bank, 2021). While traditional delivery models were severely disrupted, the sector showed remarkable adaptability in developing alternative approaches to training delivery, highlighting the importance of building flexible, multi-modal training systems responsive to various disruptions (OECD, 2020).

2. Technology Integration

The forced digital transformation accelerated technology integration in vocational education, providing valuable insights into potential and limitations of technology-mediated learning for skill development (FICCI & EY, 2020). These lessons can inform future strategies for blending traditional and digital approaches to create more effective and accessible training programs (UNESCO-UNEVOC, 2020).

3. Equity and Inclusion Considerations

The pandemic exposed and exacerbated existing inequalities in access to skill development opportunities, with the digital divide particularly affecting students from rural areas, low-income families and marginalized communities (Jafar et al., 2023). Addressing these inequalities requires comprehensive strategies beyond technological solutions, including infrastructure development, affordability measures and targeted support for vulnerable populations (Ministry of Electronics & IT, 2021).

Recommendations for Building Resilient Skill Development Systems

1. Infrastructure Development

Investment in digital infrastructure is crucial for ensuring equitable access to skill development opportunities, including expanding high-speed internet connectivity to rural areas, providing affordable devices to students from low-income families and developing robust online learning platforms capable of handling large-scale usage (Sharma & Tiwari, 2021).

2. Hybrid Learning Models

Future skill development programs should adopt

hybrid models combining online and offline learning approaches, providing flexibility while ensuring practical training components are adequately addressed (UNESCO-UNEVOC, 2020). Such models should leverage strengths of different delivery modes while mitigating respective limitations (OECD, 2020).

3. Trainer Development

Comprehensive trainer development programs are essential for successful implementation of technology-enhanced learning, focusing on both technological skills and pedagogical approaches for effective online and hybrid instruction (Kapur, 2020). Continuous professional development should be institutionalized to keep pace with evolving technologies and learning methodologies (World Bank, 2021).

4. Industry Engagement

Strengthening industry-academia partnerships is crucial for maintaining practical relevance of skill development programs, including developing virtual internship programs, remote mentoring initiatives and innovative approaches to workplace learning maintainable during disruptions (ILO, 2020).

Conclusion

The COVID-19 pandemic fundamentally transformed India's skill development landscape, creating unprecedented challenges while generating unique opportunities for innovation and reform. While the crisis severely disrupted traditional hands-on training methodologies forming the backbone of vocational education, it also catalyzed rapid digital transformation that permanently altered how skill development is conceptualized and delivered.

The pandemic's multifaceted impact affected different stakeholders variably, with students from disadvantaged backgrounds facing the greatest challenges due to limited access to digital infrastructure and resources, exacerbating existing educational inequalities. Training organizations rapidly adapted delivery models with limited resources and preparation time, while the broader ecosystem, including industry partners and government agencies, re-imagined their roles in supporting skill development during the crisis.

Despite these challenges, the crisis demonstrated remarkable resilience and adaptability of India's skill development ecosystem. Organizations developed innovative training delivery approaches, leveraged technology in unprecedented ways and created partnerships that had not existed before the pandemic. This experience provided valuable insights into digital technology potential for expanding skill development access while highlighting limitations, particularly for practical, hands-on training.

The lessons learned during the pandemic have significant implications for India's skill development future, highlighting the need for more resilient, flexible systems adaptable to various disruptions while maintaining quality and accessibility. The experience underscored the importance of addressing digital divides and ensuring technological solutions do not exacerbate existing inequalities.

Moving forward, India's skill development ecosystem must embrace hybrid approaches combining the best aspects of traditional and digital learning methodologies, requiring continued investment in digital infrastructure, comprehensive trainer development programs, and innovative industry-academia collaboration approaches. Most importantly, it requires commitment to ensuring technological transformation benefits are shared equitably across all society segments.

The pandemic provided an opportunity to re-imagine and rebuild India's skill development system in more inclusive, accessible and responsive ways to changing economic and societal needs. By learning from pandemic period challenges and innovations, India can develop more resilient and effective approaches to harnessing its demographic dividend through comprehensive skill development initiatives.

***Assistant Regional Director**
Indira Gandhi National Open University

****Former Professor**
Department of Continuing Education and Extension
University of Delhi
and
Director, Suramya an Equitable
and Sustainable Development Forum, Delhi

References:

1. Agarwal, P., & Choudhury, P. (2021). "COVID-19 and its impact on education, social life and mental health of students: A survey". Children and Youth Services Review, 121, 105866.
2. Behera, B., & Gaur, M. (2020). "Impact of COVID-19 on the skill development movement in India". Journal Press India.
3. Chadha, S., & Agarwal, P. (2021). "Impact of COVID-19 Pandemic on Women's Education and Employment in India". Social Change, 51(2), 228-235.
4. Choudhury, I. (2021). "Challenges with skill development programmes during the pandemic". IDR Online.
5. Das, K. (2021). "Skill Development in India: Challenges and Opportunities during COVID-19 Pandemic". Journal of Skills Development, 11(2), 50-59.
6. Dr. Reddy's Foundation. (2021). "The digital divide and skill development: A case study".
7. FICCI and EY. (2020). "Reconfiguring Indian education: Empowering for the new normal".
8. Gilbertson, A., Dey, J., Deuchar, A., & Grills, N. (2021). "India's COVID-19 divide in digital learning". Pursuit, University of Melbourne.
9. Indian Council for Research on International Economic Relations (ICRIER). (2020). "The efficacy of online skill training in India".
10. International Labour Organization. (2020). "COVID-19 and the world of work: Impact and policy responses".
11. International Labour Organization. (2020). "Skills development in the time of COVID-19: Taking stock of the initial responses in technical and vocational education and training". ILO Publications.
12. Jafar, K., Ananthpur, K., & Venkatachalam, L. (2023). "Digital divide and access to online education: New evidence from Tamil Nadu, India". Journal of Health Economics and Policy, 15(2), 124-138.
13. Kapur, R. (2020). "Impact of COVID-19 on the education sector in India". Education India Journal: A Quarterly Refereed Journal of Dialogues on Education, 9(2), 92-101.
14. Khasawneh, M. A. S. (2024). "The challenges facing vocational education online from the teachers' perspectives". Journal of Curriculum and Teaching, 13(2), 180-195.
15. KPMG India & Google India. (2017). "Online Education in India: 2021".
16. MHRD, Government of India. (2020). "Digital initiatives for education and training".
17. Ministry of Electronics & IT, Government of India. (2021). "Digital India: Bridging the digital divide".
18. Ministry of Health and Family Welfare, Government of India. (2020). "COVID-19 warriors".
19. Ministry of Skill Development and Entrepreneurship (MSDE). (2021). "Revamped Pradhan Mantri Kaushal Vikas Yojana".
20. Ministry of Skill Development and Entrepreneurship. (2020). "Guidelines for opening apprenticeship training facility post COVID-19 lockdown". Government of India.
21. National Sample Survey Office. (2011-12). "Status of education and vocational training in India (68th round)". Government of India.
22. National Skill Development Corporation. (2021). "Impact of COVID-19 on skill development in India". NSDC Publications.
23. NITI Aayog. (2021). "Post-pandemic reforms for inclusive and sustainable growth".
24. OECD. (2020). "Skills outlook 2021: Learning for life".
25. Pandey, P. (2021). "Organizational agility and innovation in skill education during the COVID-19 crisis". Indian Journal of Training and Development, 51(1), 60-74.
26. Press Information Bureau. (2020). "PM's address to frontline COVID-19 workers".
27. Sharma, R., & Tiwari, V. (2021). "Bridging the digital divide in India: Challenges and opportunities". International Journal of Information and Education Technology, 11(3), 132-137.
28. Skills India. (2021). "Placement and employability assessment during COVID-19".
29. UNESCO-UNEVOC. (2020). "Technical and vocational education and training (TVET) in the times of COVID-19".
30. World Bank. (2021). "Skilling India: Lifelong learning for a future-ready workforce".
31. World Economic Forum. (2021). "India's skills gap: Mobilizing collaborative responses for recovery".

Research Paper

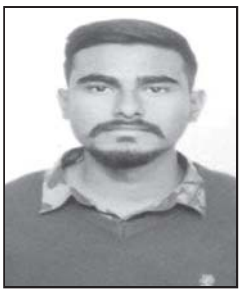

Assessing Prison Governance in India and Germany : A Comparative Political Study

Shubham Kumar* **Siddhant Gupta****

Abstract

This comparative analysis of the structuring and the governance of the prison systems in India and Germany show that the history, constitution making and the capacity of the state determine divergent results in penal systems. In India, the system, which remains largely punitive and security-centred, is marked by chronic congestion, high levels of under trials, bureaucratic hierarchies and disproportionate state capacity, even in 2012. Monitoring systems are usually not independent and sustained, and they help to maintain many of the challenges identified by the lack of sanitation, custodial brutality, a lack of infrastructures, and the absence of healthcare, legal and mental-health services. Having been reconstructed after World War II, in the spirit of human dignity at the core of its constitutional regime, Germany has evolved a model of the governance of prisons, based on decentralization and freedom of rights. It focuses on rehabilitation, normalization and social reintegration in its prisons and is aided by professional staffing, evidence-based management, robust federal guidelines, and open independent monitoring. Its correctional philosophy includes education, vocational training, therapy and planned pre-release. The juxtaposition between these systems helps the study to trace larger political trends: in Germany, prisons represent an exemplar of high capacity welfare state, and a system of consensus-oriented government, whereas in India, prisons are an embodiment of an institutional barrier of diverse developing democracy, the custodial reform in which is politically marginal. The comparison has added policy lessons to both, and perhaps in the future Germany can emulate the approaches of India with respect to rights-oriented approaches and professionalized management and India could benefit with approaches of community-based open prisons and low-cost rehabilitation. Finally, the research postulates that the governance of prisons is a commanding measure of the capacity of state, practice of democracy and investment of the society in human dignity.

Keywords: Prison governance, India–Germany comparison, penal philosophy, state capacity, inmate rights, rehabilitation and reintegration

Historical and Constitutional Foundations of Prison Governance

The Indian and German historical and constitutional background of governing the prison is not just a legal framework but also what the political culture and social philosophy of the country as well as the path of state-building development influenced the development of both nations. When analyzing these underpinnings, it is possible to see the reasons why the two nations, the two democratic nations that are constitutional, have positioned their views on imprisonment, punishment, and the treatment of a human being dramatically differently.[1] The current system of prisons in India has a strong institutional connection with the colonial British rule. British prisons

were regarded more as a means of control rather than reform (Bozzi, 1995), and this line of thinking greatly influenced early policy and laws towards prisons and the direction towards which they were governed. The best-remained heritage of this decade is the Prisons Act of 1894 that created a strict security-focused system revolving around discipline, isolation, and harsh labor.[2] Its clauses were the interests or concerns of the colony like ensuring order, getting labor and surveillance as opposed to paying attention to the welfare or rehabilitation of the prisoners. According to scholars, the Act formalized a bureaucratic and hierarchical prison administrator that emphasized on punishment and not on correction (Arnold 213). Following independence in 1947, India adopted this colonial law with little modification and despite the suggestion of radical changes by various reform committees (including the Mulla Committee (1980-83)) the law was not properly implemented since the willingness to do so was scarce at the national level and different states had disparate capacities to implement it.[3] India has a constitutional system of governance of prisons which is characterized by federalism. Prisons, according to the State List in the Seventh Schedule of the Constitution under its Entry 4, are the prisons whose only jurisdiction is the government of states. This has resulted in a wide range of differences in terms of prison management, infrastructures, budgeting and reform programs throughout 28 states and 8 Union Territories in India.[4] Even though other states have taken progressive steps like open prisons, rehabilitation programs, others are challenged with the chronic overcrowding, understaffing and decayed infrastructure. This fracturing can be seen as mirroring more general trends of administrative inequality in the federal system of India where disparities in development have profound impacts on the results of governance.[5] The judicial system in India has been transformative in increasing the constitutional protection of the prisoners even when there is one that is stagnant in the legislative system. Article 21, which enshrines the right to life and personal liberty, was actively interpreted by the Supreme Court particularly since the 1970s, as giving a broad array of rights to the inmate such as safeguarding against torture, access to the attorney and a human habitable living environment. Sunil Batra v. Lotman 2009. Sheela Barse v. Delhi Administration (1978). The case of state of Maharashtra (1983) defined that inmates must not be deprived of their basic rights just by being put into custody. What can be seen through these judicial interventions is a trend of judicial governance, by which the administrative vulnerabilities of the state are filled by the imposition of norms of care, control and responsibility by the courts on the state. Yet, researchers point out that court reform cannot replace structural legislative reform, in particular, when the main body of statutory regulation is still based on the colonial values.[6]

The system of prison management in Germany originated in a polar opposite movement of the history based on horrible effects of such kind of government and the necessity of the moral judgment line to reconstruct the institutions of the democratic society, which was ruined by the World War II. Atrocities of Nazi-incarceration, concentration camps, and governmental violence entrigued a reformative outburst in evaluating the connection between the state and the individual. A calculation of this kind came into being in the very first article of the Basic Law (Grundgesetz) of 1949 which stated: HUMAN D Ignity shall be inviolable.[7] This promise of human dignity written in the constitution (Menschenwurde) significantly changed the philosophy of punishment in Germany as noted by scholars. This contrasted with the experience in India whose colonial inheritance of penal governance, whereby all institutions such as prisons were run under a constitutional vision based on rights and founded on the aspects of respect, proportionality and human treatment of the individual. A philosophical fix was already embedded in the Federal Prison Act of 1976 (Strafvollzugsgesetz), which continues to be one of the most effective penal laws across Europe in the modern day.[8] Rehabilitation, and not deterrence or retribution, were the primary goals of imprisonment that were explicitly defined in the Act. It identified the principle of normalization, according to which the life within prison is to be as similar to the life in the society as possible. In this principle, prisons ought to offer chances of education, work, therapy and socialization but any

limit of liberty should not exceed the required level.[9] Scholars claim this Act was a breakthrough in achieving a congruence between prison management and democracy and make certain the incarceration never disrupts the basic citizenship rights. Prison administration in Germany was also influenced by the federal system in the country. At first, the prisons were federally governed, however, in 2006 there was a constitutional change that devolved the prison control to the Lander (federal states). Every Land has since its own law concerning prison, though these laws are bound by general constitutional rules, particularly, the rule of human dignity and proportionality. This model is a combination of both decentralization and uniformity model whereby regions are flexible to national standards. In contrast to India, state independence leads to unequal governance partly, as witnessed in India sometimes, but the high constitutional court and well-endowed bureaucratic institutions of Germany guarantee that instances of rights-based principles are minimized and checked up. The other pillar of the constitutional police system in Germany is that there are independent monitoring structures, including state ombuds offices and state-level preventive structures necessitated by the Optional Protocol to the Convention Against Torture (OPCAT).[10] These organizations enhance the integrity system and ensure the prisons are open and capable of adhering to the human rights standards. India on the other hand has visiting committees and human rights commissions, but due to political influence, lack of training and inability to enforce them they tend to have limited powers.

When coupled together, these historical and constitutional paths demonstrate two radically different prison government models.[11] The inherited colonial model and a fragmented federal system continues to define India, and the judicial activism tries to provide the gaps that legislative inertia has created. The German model was constructed in a conscious effort to work around human dignity, democratic accountability, and a professional approach of prison to welfare-state. These historic disparities still affect the modern-day prison policy, administrative potential, entitlement of inmates, and rehabilitation plans in the 2 countries.

Administrative Structures and Institutional Capacity

The political systems, culture of governance and the capabilities of states as demonstrated in the administrative setups and institutional capacities of India and Germany are part of the overall differences, which are ultimately influenced by the politics foundations and culture and the overall capabilities of the states, which end up determining the functioning of the prisons in its normal day to day operations.[12] The knowledge of these structures helps in our understanding how the power is structured, the way of distributing resources and the maintenance of accountability within the respective countries of correctional administration. Though India and Germany are both federal democracies, there have been intense contrasting models of the prison governance due to practical realities of their administrative systems. The bureaucratic hierarchies of India allow the administrative structure as a result of the colonial rule.[13] The state governments handle prisons and the chain of command normally proceeds downwards, with the State Home Department being followed by the Director General of Prisons who is followed by Inspector Generals, Deputy Inspector Generals, Superintendents, and lowly administrative functions. This is a structure that heavily emphasizes on command and control and most of the decisions are central to higher ranks in bureaucracy. Prison personnel in most states are not a special section of a particular cadre of correctional faculty, but a group of police personnel or even general administration staff. Consequently, the system is inclined to pay more attention to security and discipline rather than rehabilitation or psychological support. Prison officers also do not get the necessary training particularly in such areas as conflict management, rights of prisoners and the management of mental health because many prison officers are training with limited or inconsistent training resulting in unequal professionalism among states.[14] The significant characteristic of the institutional capacity of India is a high degree of diversification. The richer states that had more powerful administrative structures, i.e. Kerala, Tamil or Maharashtra, were more likely to have rather well-organized prison systems, more staff education spots,

and more access to rehabilitation methodologies. On the other hand, the poor states such as Bihar, Uttar Pradesh and Jharkhand face poor funding, endemic overcrowding and serious staffing shortages. The problem of overcrowding is one of the greatest administrative problems, as it tends to exceed national capacity.[15] The percentage of prisoners who are undertrials is still very high and it burdens the prison administration and the prison resources further since they are not necessarily allocated to rehabilitation or vocational training. These organizational problems reveal the poor institutional capacity which reduces the prison governance in India. The other opportunity is the absence of technological integration. Despite the introduction of digitized record keeping systems, video conferencing to appear before the court and online systems where individuals visit each other, the practice is not universal. Even now, there are lots of prisons that use the manual registers and outdated processes, which lower the level of transparency and effectiveness. Audits and inspections are conducted internally however the frequency and quality of such audits and inspections differs drastically.[16] Although India has arrangements such as Board of Visitors, State Human Rights Commissions and internal vigilance systems, such mechanisms of supervision tend to be independent or powerless. This undermines the accountability of administration and leaves problems like custodial violence, bribing and mismanagement to exist.

The administrative system of Germany, in turn, serves as a manifestation of high capacity welfare state, long history of following the principles of efficiency, professionalism and government by rights.[17] All Prison administration is decentralized to the Lander (federals), but all effectively are constitutional balanced in terms of human dignity, proportions and rehabilitation. Every Land has a Ministry of Justice that manages prisons, however, prison workers are usually well trained specialists, such as correctional officers, psychologists, social workers, and vocational educators. This professional diversification allows developing a more holistic atmosphere, when security, rehabilitation, and welfare are not conflictual values. The expertization of the German correctional staff is one of the main features of its administrative power. Officers go through an extensive training, which incorporates psychology, communication, conflict mediation and legal provisions.[18] Most of the facilities have more staff to inmate ratios than those found in India which enables to provide personal attention, counseling, therapeutic programs and planned inmate supervision. Decision-making in administrations is decentralized at the prisons individually, providing the superintendents and lower managers with a lot of freedom in structuring programs that would fit their inmate groups. It is flexibility with which the institutions become responsive and innovative. The prison infrastructure in Germany is also representative of the administrative capacity. The majority of prisons nowadays are contemporary, clean and built with smaller units or cells instead of large and crowded barracks. Most of the facilities have special areas of education, workshops, therapy, and outdoor activity. Of particular interest are open prisons, where the prisoners are housed in semi-independent structures, and where they can work outside throughout the day. These amenities need a strong administrative oversight and social assistance structures that Germany has developed well in terms of community based alliances, rehab agencies and reintegration procedures funded by the state. Another aspect in which Germany has good institutional capacity is the use of technology. Computerised schedules, surveillance, organised data of inmates, and digital record systems increase transparency and decrease the amount of administration required.[19] The efficient supervision is provided by the electronic monitoring system, which is active in a large number of facilities, where they organize semi-open or conditional release programs, providing more autonomy to inmates. Administrative auditing, inspection and evaluation are routine and their findings are made publicly. Accountability is further enhanced with the assistance of independent monitoring bodies like ombuds offices and the human rights committees. Such systems will make the prison administration transparent, consistent and occur based on the values of the constitution.

The two countries are also differentiated in the patterns of funding. Germany spends considerably more per inmate, which allows using high-quality facilities, training of quality personnel, psychological

assistance and effective rehabilitation programs.[20] Comparatively, the prison-budgets of India are usually too small to satisfy any fundamental infrastructural or medical requirements. This inequalities is moulding institutional competence at all ranks-sanitation and living standards to education possibilities and administrative management. In spite of these differences, these two systems have some similar pressures. Increasing populations of foreign prisoners, language barrier, and the growing demand of psychological services are some of the challenges that Germany has to deal with. India with limited structural capabilities has been innovative with open prisons in states such as Rajasthan and other programmes like skill development, prison industries and law aid clinics. Nonetheless, most of the innovations in India tend to be small-scale because of the insufficiency of resources and unstable political compromises.

Conditions of Incarceration and Protection of Inmate Rights

Incarceration in India and Germany represents an immense diversification of political priorities, administrative capabilities, and legal cultures, which, in their ultimate manifestation, bylives such as prisoners in both systems.[21] Indian prisons are still plagued by years of systematic overcrowding, lack of resources, and unequal standards of service, whereas a prison system based on robust constitutional rights and a rehabilitative ethos of punishment is relatively humane and rights-aceous as in Germany. It is therefore important to know about these variations in order to judge the level at which each system respects the dignity and the basic rights of the incarcerated people.[22] Overpopulation in India is one of the most continued problems. Most prisons have way over capacity as mandated by the constitution and this is mainly because of the high percentage of under-trial inmates who are still awaiting trial instead of receiving sentences. This adds to small living quarters, poor sanitation amenities, and poor access to the simple necessities like clean water and bedding. The Indian prisons are often associated with the shortage of staff, the lack of modern medical equipment, and the slow nature of referrals to specialized services. There has been a severe underdevelopment of mental health support and most prisons do not have educated professionals such as psychologists or counselling service providers.[23] Additionally, cases of custodial violence, staff misconduct, and inmate-on-inmate violence show the weakness of monitoring systems and accountability that is more effective that its counterpart. Germany suggests a very contrasting picture, in the great part because of focusing on the concept of the so-called normalization, which presumes that life in prison must be as close to the outside conditions as it can get. German prisons are usually furnished with either personal or limited communal rooms rather than big barracks and institutions tend to have similar standards of hygiene, nutrition and medical treatment afforded as those that are in the community. Medical care in a nation is provided by qualified health care institutions which are a part of a national healthcare, and psychological assistance is very common.[24] The physical setting is also carefully designed in order to minimize stress and aggression through an open space, academic and work rooms that support positive habits. Right protection to inmates is another zone that separates the two systems. In India, the rights of life, dignity, access to legal assistance, and torture protection are supported by constitutional rights and judicial rulings. Nevertheless, these rights are not uniformly applied, which is partly because there is a lack of control over them and the bureaucracy in managing prisons. There are legal aid services, which are however strained particularly in the rural areas. There is a tendency that independent monitoring committees have limited resources or power and therefore reduce effectiveness.[25] The rights system in Germany has a greater and more practical entrenchment. The rights of prisoners will not be lost but will be limited to the ones defined by the sentence. Regular inspections are carried out by independent ombuds and external monitoring bodies, which releases the findings to the people and holds them accountable. The prisoners are subjected to grievance systems, lawyers, learning, jobs and rehabilitations programs which are aimed at enabling the prisoners to integrate back into the society. Communication, visiting, or movement restrictions are highly controlled and solitary confinement is applied with a tight rein. In general, the difference in living conditions and the

implementation of the rights is significant even though both India and Germany value the need to protect the rights of inmates.[26] India still is struggling with the systemic obstructions based on the overcrowding, lack of resources and bureaucratic stagnation; meanwhile Germany with its rights-based policy and well-resourced mechanism that proves what committed and competent administration can accomplish. Increased oversight, increased rehabilitative facilities, and increased transparency deserve significant attention in improvement of the state of affairs in the Indian prisons.

Rehabilitation, Reintegration, and Penal Philosophy

Modern penology is based on rehabilitation and reintegration, which defines the way societies conceive the role of punishment and the state roles toward persons imprisoned. Comparing India and Germany, one can see that the two nations conceptualize the idea of the commitment to the revisionist notion of justice differently, but their institution-based and philosophical approaches to the penal cause them to take radically different directions. The instrument of the system in Germany is deeply rooted in the principles that prison must limit liberty but not dignity hence making rehab the sole focus.[27] The framework of India, increasingly reform-focused but still largely operating in a punitive and security-depriving paradigm it has been due to the effects of colonialism, unequal distribution of resources, and sociopolitical limitations. In the modern world, Germany provides one of the best examples of the rehabilitation-centered penal philosophy. German law focuses on the reintegration of offenders into society as the main goals of imprisonment and the prison regime is specially built to resemble the situation in the external society. It is a normalization principle that acknowledges the fact that reintegration does not occur once one has been released, but rather in prison.[28] Training on job skills, psychological counselling, substance-abuse rehabilitation, as well as access to jobs are considered as crucial elements in the prison setting. Employees are also widely trained not just in security but also in communication and conflict de-escalation and this establishes a culture in which officers are user of a task, part social worker/mentor. Open prisons, semi-open prisons and community based programs provide opportunities through which inmates are able to maintain their family ties, to work as well as take a slow path of reentry back into the community. The focus on post-prison preparation assists to prevent the risk of recidivism and this is done based on an idea of indivine treatment, dignity, and arranged opportunities as prerequisites of ultimate behavioral change. Rehabilitation is also a recognized objective of the official penal philosophy in India, with special emphasis placed on reformative provisions in the Constitution, in directives of the Supreme Court, and in national law and policy, including the Model Prison Manual. The idealistic implementation of these ideals, however, is skewed. Other states have done so with some more radical changes like the open prisons in Kerala, the vocation programs in Tihar Jail and yoga and meditation based programs are also some changes done in a select few states.[29] Reform-oriented programs are often shrouded by overcrowding, shortages, low funds, and the custodial mode of thinking. There are other vocational training workshops, literacy courses, and skills development programs and their coverage and quality widely vary between states. Reintegration support Reintegration support, including post-release counselling, employment assistance, or community-based monitoring, is very meager which exposes most group released inmates to social stigma, homelessness and recidivism.[30] The large percentage of undertrial prisoners is a major challenge that India faces in the rehabilitation efforts made by the Indian government since they form the major proportion of the prisoners. Since they remain unconvinced, they are locked out of work attempts, long-term education program or carefully designed reintegration planning. The continuity between prison programmes and the community support services is also missing which contributes to weakening the efforts on reintegration. Also, rehabilitation is hampered by lack of expertise like social workers, psychological and trained counsellors, who can offer systematic approach to rehabilitation. Given these differences, penal philosophy has a significant role in explaining them. The German model is driven by the rights culture of the legal system that is the result of the constitutional

culture of the post-war era when human dignity became the central focus of the state agenda.[31] The German model perceives the loss of freedom as the punishment and should not make the situation in the prison more painful. This attitude promotes investment in social services, personnel training, and re-integration models. The development in the penal philosophy of India maintains the influence of the colonial-era rule that gave more emphasis to discipline, surveillance, and order than human development. Judicial intervention in reforms is a common occurrence as opposed to systematic political intention, which slows the change and constrains transformation of institutional change. Nevertheless, these differences do not mean that both nations do not have a chance to learn relationally. The reintegration pathways, good psychological support systems and normalization principle that characterize Germany offer good lessons to the Indian policymakers who want to reformulate their prison philosophy to be more modern. On the other hand, the experimental experience of open prisons within India and the community-based rehabilitation may provide low-cost alternatives that may add variety to German discourse regarding the further limiting of incarceration.[32] Finally, the issue of rehabilitation and reintegration is a critical assessment of the democratic postulates of a society and its faith in second chances. Although Germany is a prime example of the rights-based penal philosophy, Indian gradual changes and new advances do indicate a system trying to create some balance between the available resources and its constitutional obligation to human dignity. Enhancement of these reformative channels is still at the forefront of ensuring human, fair and future-prudent governance of prisons.

Oversight, Accountability, and Comparative Findings

The mechanisms of oversight and accountability are the necessary elements of the democratic governance of the prison system, as they serve to define how the states exercise the coercive power, as well as to guarantee that the rights of the people of the penitentiaries are not violated.[33] The difference between India and Germany stands out especially vivid when comparing the two nations. Germany is characterized by very organized and transparent systems of oversight, the basis of which is deep in constitutional protection and federal norms and associated with the culture of rights-based governance.[34] Although India is constitutionally bound by upholding the rights of prisoners, it has yet to solve the problem of disjointed control packages, deficient material resources, and bureaucracy. These differences can give valuable knowledge on the relation between a political capacity, administrative culture and democratic values of a nation and its way of governance in the prison. The oversight structure of Germany has the advantage of having several layers of institutional coordination. Regular inspection of prisons, reviewing of complaints, and releasing of public reports on shortcomings with corresponding corrective recommendations are undertaken by independent agencies, including state-level ombuds institutions along with external commissions. Such institutions also are autonomous, which enhances their credibility and makes the prison administrations responsible outside the mechanisms of review. Courts also become proactive in the defence of the rights of the inmates. Disciplinary action can be appealed, conditions of confinement, or administrative decisions, and this habit of incarceration reinforces a culture of law, which places imprisonment and denial of judicial recourse.[35] The federal nature of Germany also obligates the existence of the same minimum standard in all the states so that the states do not experience severe differences in the conditions of prisons. The system puts transparency in its core: the results of the inspections, academic assessments, and the reports of the government can be publicly accessed and allow the civil society and researchers to conduct knowledgeable audits. The oversight mechanisms of India are more disjointed given the very complex federalist structure of the country and diversity in the capacities of the states. Although there is a high level of constitutional and judicial oversight, it is not practiced in a steady manner. Much of the reform discourse is often guided by the Supreme Court and High Courts intervening to tackle violations, overcrowding, custodial violence or scarcity of basic facilities.[36] Nevertheless, judicial activism will tend to substitute systematic oversight but not to complement it. Prison visits and advisories by statutory

bodies like the National Human Rights Commission (NHRC), State Human Rights Commissions undermine their effectiveness due to lack of force, staffing constraints and lack of enforcement.[37] The boards of Visitors as community-based oversight committees are seldom active and miscellaneous in their operations. The fact that they are not institutionally independent and are dependent on the state administrations makes them even less effective. There is other difference in data transparency between the two systems as well. India has the National crime records bureau, which releases yearly statistics about the prisons; however, the statistics are not analytic and focus on the situation but not the details of rights adherence, the state of the facilities, and the performance of the programs. Germany, in its turn, combines the data collection with the qualitative measurements, enabling the evidence-based policymaking and long-term planning. Also, Germany promotes cooperation between the prison authorities and the educational facilities, which leads to a higher number of research-based reforms and the ongoing testing of rehabilitation programs. The research access to the prisons in India is very restricted and regulated; it lowers the chances of empirical evaluation and transformation to the discussion. Analyzing the comparison of oversight and accountability mechanisms of the two countries, a number of larger trends can be identified. The success of Germany lies in the independence of the institutions, transparency, and political adherence to human dignity. Its control mechanisms are proactive and not responsive and this is in an ability to keep high standards than it responds and reacts to crisis. The regulation in India is reactive as it depends heavily on the courts, the spotlight of the media and the sporadic political focus. The resource limitation, overcrowding, and administrative systems entrenched in the colonial California distant practice and policy contributed to the gap between policy and practice. Nevertheless, India has a significant positive example as well. The proactive judges have developed a progressive jurisprudence that enlarges the rights of prisoners. Causes that included in the attention of the civil society organizations are custodial deaths, women prisoners and the needs of undertrials. There are also examples of states that implemented some new reforms, open-prison regimes and online monitoring platforms, which may lead to a more massive transformation. The existing comparison between oversees and accountability shows that the governance within prisons is eventually an action that depends on political will and administrative culture. The system in Germany shows how a rights based penal ideology, combined with powerful institutions, can produce a humane and effective correctional environment. The problems faced by India point to the absence of structural aspects but indicate that serious reform can still occur when the state administrations, courts and civil societies collaborate. The main factors that will empower the control institutions, frequent control, improve transparency, and create accountability by means of independent organizations are the steps to the better governance of the prison in India. In both nations, ongoing assessment and engagement among the citizenry is critical towards maintaining democratic checking on one of the most controlling and least noticeable institutions of the state.

Conclusion

In this comparative perspective of the Indian and German prison regimes, it has been revealed that the extent of a penal regime is a profound expression of the political will, administrative competence and determination of a nation concerning the human dignity. The rights-based model developed in Germany that relies on the idea of normalization and rehabilitation shows that close supervision, professional personnel, and policies aimed at reintegration have the ability to provide humane and effective correctional settings. Although rules, rules, and constitutional protection along with progressive judicial interventions are guiding India, the country is still grappling with such persistent challenges as overcrowding, high numbers of undetermined cases, minimal resources, and lack of cohesive oversight. However, a system that can be reformed is monitored in studies of innovative practices in a number of states. What the comparison demonstrates is that intelligent prison governance cannot be made just by the infrastructure but a change in philosophy, long-term investment, and allocation of responsibility by the institutions. With some of the lessons learned during the German reintegration

strategy and enhanced control over and rehabilitation Indian prison system can be progressed to a more human, productive and democratically oriented system.

*** Research Scholar**
Department of Continuing Education and Extension, University of Delhi, Delhi, India

**** Research Scholar**
Faculty of Law,
University of Delhi, Delhi, India

References:

1. Arnold, David. *The Police and Colonial Control in South India*. Oxford UP, 1986
2. Baxi, Upendra. *The Supreme Court and Politics of Judicial Reform*. Eastern Book Company, 1980
3. Bhatia, Gautam. *The Transformative Constitution*. HarperCollins, 2019.
4. Raghavan, V. *Prison Administration in India*. Sage Publications, 1996.
5. Sen, Satadru. *Disciplining Punishment: Colonialism and the Prison in India*. Oxford UP, 2000.
6. Kiefer, Jonas. "Monitoring Prisons in Germany: Preventive Mechanisms and Human Rights Oversight." *German Law Review*, vol. 14, no. 2, 2013, pp. 90–108.
7. Morgenstern, Christine. "The Reform of German Prison Law." *European Journal of Crime, Criminal Law and Criminal Justice*, vol. 16, no. 3, 2008, pp. 141-157
8. Shannon, Sarah. "The German Prison System: Principles of Normalization and Rehabilitation." *European Journal of Criminology*, vol. 9, no. 2, 2012, pp. 205–222.
9. Komter, Aafke. "Human Dignity and Penal Reform in Post-War Germany." *Punishment & Society*, vol. 15, no. 2, 2013, pp. 199–220
10. Morgenstern, Christine. "The Reform of German Prison Law." *European Journal of Crime, Criminal Law and Criminal Justice*, vol. 16, no. 3, 2008, pp. 171–194.
11. van Zyl Smit, Dirk. *Taking Life Imprisonment Seriously: In National and International Law*. Kluwer Law International, 2002.
12. Bhatia, Gautam. *The Transformative Constitution*. HarperCollins, 2019.
13. Arnold, David. *The Police and Colonial Control in South India*. Oxford UP, 1986.
14. Bottoms, Anthony, and Richard Sparks, editors. *Legitimacy and Compliance in the Penal System*. Willan Publishing, 2007.
15. Indian Law Institute. *Prison Reforms in India*. ILI Publications, 1983.
16. Cavadino, Michael, and James Dignan. *Penal Systems: A Comparative Approach*. Sage Publications,
17. Morgenstern, Christine. "The Reform of German Prison Law." *European Journal of Crime, Criminal Law and Criminal Justice*, vol. 16, no. 3, 2008, pp. 171–194.
18. Shannon, Sarah. "The German Prison System: Principles of Normalization and Rehabilitation." *European Journal of Criminology*, vol. 9, no. 2, 2012, pp. 205–222.
19. Raghavan, V. *Prison Administration in India*. Sage Publications, 1996
20. van Zyl Smit, Dirk, and Sonja Snacken. *Principles of European Prison Law and Policy*. Oxford UP, 2011.
21. Bhadra, Dipanwita. *Prison Conditions in India: An Assessment of Human Rights Standards*. Sage Publications, 2021.
22. India, Ministry of Home Affairs. *Prison Statistics India*. National Crime Records Bureau, various years.
23. Moosavi, Leonidas. *Prison Reform in Germany: A Rights-Based Approach*. Routledge, 2020.
24. Morgan, Rod, and Andrew Liebling, editors. *The Effects of Imprisonment*. Willan Publishing, 2007.
25. Subramanian, Ram. *Incarceration and Justice in India*. Centre for Justice Studies, 2019.
26. Van Zyl Smit, Dirk, and Sonja Snacken. *Principles of European Prison Law and Policy*. Oxford , 2011.
27. Bhadra, Dipanwita. *Prison Conditions in India: An Assessment of Human Rights Standards*. Sage Publications, 2021.
28. India, Ministry of Home Affairs. *Model Prison*

Manual 2016. Government of India.
29. Dünkel, Frieder. *European Penology: The Rise of Crime Prevention and European Prison Models*. Routledge, 2018.
30. Mathur, Radhika. *Reformative Justice in India: Challenges and Possibilities*. Cambridge University Press, 2022..
31. Van Zyl Smit, Dirk, and Sonja Snacken. *Principles of European Prison Law and Policy*. Oxford UP, 2011
32. Kantorowicz-Reznichenko, Elena. *The Rehabilitative Ideal in German Prisons*. Oxford University Press, 2020.
33. Bhadra, Dipanwita. *Prison Conditions in India: An Assessment of Human Rights Standards*. Sage Publications, 2021.
34. Bock, Michael, and Frieder Dünkel. *Prison Oversight in Europe: Comparative Perspectives*. Springer, 2019.
35. India, Ministry of Home Affairs. *Prison Statistics India*. National Crime Records Bureau, various years.
36. Jha, Prashant. *Human Rights and Prison Oversight in India*. Oxford University Press, 2020.
37. Liebling, Alison, and Shadd Maruna, editors. *The Effects of Imprisonment*. Routledge, 2013.

Bibliography:

1. Bhadra, Dipanwita. *Prison Conditions in India: An Assessment of Human Rights Standards*. Sage Publications, 2021.
2. Bock, Michael, and Frieder Dünkel. *Prison Oversight in Europe: Comparative Perspectives*. Springer, 2019.
3. Dünkel, Frieder. *European Penology: The Rise of Crime Prevention and European Prison Models*. Routledge, 2018.
4. India, Ministry of Home Affairs. *Model Prison Manual 2016*. Government of India.
5. India, Ministry of Home Affairs. *Prison Statistics India*. National Crime Records Bureau, various years.
6. Jha, Prashant. *Human Rights and Prison Oversight in India*. Oxford University Press, 2020.
7. Kantorowicz-Reznichenko, Elena. *The Rehabilitative Ideal in German Prisons*. Oxford University Press, 2020.
8. Liebling, Alison, and Shadd Maruna, editors. *The Effects of Imprisonment*. Routledge, 2013.
9. Mathur, Radhika. *Reformative Justice in India: Challenges and Possibilities*. Cambridge University Press, 2022.
10. Moosavi, Leonidas. *Prison Reform in Germany: A Rights-Based Approach*. Routledge, 2020.
11. Morgan, Rod, and Andrew Liebling, editors. *The Effects of Imprisonment*. Willan Publishing, 2007.
12. Subramanian, Ram. *Incarceration and Justice in India*. Centre for Justice Studies, 2019.
13. Van Zyl Smit, Dirk, and Sonja Snacken. *Principles of European Prison Law and Policy*. Oxford University Press, 2011.

.

.

Research Paper

From Learners to Young Historians: Fostering Disciplinary Skills in Senior Secondary History Classrooms

Seema Sharma* **Prof (Dr) Vandana Gupta****

Abstract

Developing historical thinking skills in senior secondary students is essential for achieving meaningful history education. These skills empower learners to critically analyze sources, evaluate diverse perspectives, construct well-informed interpretations, and appreciate the complexities of historical narratives. This article explores how educators can foster key historian skills—sourcing, contextualization, corroboration, interpretation, multiperspectivity, and historical argumentation—transforming students into budding historians. Drawing on foundational scholarship in history education from prominent figures such as Wineburg, Seixas, Lee, Levstik, and Barton, along with insights from contemporary studies on history pedagogy, this article delineates the theoretical underpinnings and pedagogical strategies aimed at fostering these disciplinary skills in educational settings. Developing historical thinking skills among senior secondary students is fundamental to a meaningful history education. Such skills empower learners to critically examine sources, evaluate diverse perspectives, construct well-informed interpretations, and appreciate the complexity of historical narratives. This article explores how educators can foster essential historian skills—such as sourcing, contextualization, corroboration, interpretation, multiperspectivity, and historical argumentation—to transform students into budding historians. Drawing on foundational scholarship in history education by Wineburg, Seixas, Lee, Levstik, and Barton, as well as insights from contemporary studies on history pedagogy, this article outlines both the theoretical foundations and pedagogical strategies for nurturing these disciplinary skills within school settings. The discussion aligns these skills with the expectations set forth by the NCF 2005, NCERT's Position Paper (2006), and NEP 2020, all of which emphasize conceptual understanding and inquiry-based learning. This article offers a rigorous conceptual analysis of historian skill development in Indian senior secondary classrooms.

Keywords

Historical thinking; disciplinary skills; sourcing; contextualisation; corroboration; multiperspectivity; historical interpretation; senior secondary education

1. Introduction

History education at the senior secondary level must aim to equip learners with the intellectual tools necessary to engage critically with the past. Contemporary educational frameworks in India, such as the National Curriculum Framework (NCF, 2005) and the NCERT Position Paper on the Teaching of Social Sciences (2006), stress that history should be perceived not as a mere collection of static facts but as a discipline characterized by interpretation grounded in evidence, reasoning, and argumentation. The National Education Policy (NEP, 2020) also promotes teaching methods that encourage critical thinking, analytical skills, and inquiry-driven learning.

In this framework, the development of disciplinary skills is crucial, as they enhance student involvement and enrich the comprehension of history's interpretative nature. Scholars like Wineburg (2001)

argue that historical thinking is significantly different from ordinary modes of understanding; it demands specific mindsets that need to be explicitly taught. Seixas and Morton (2013) further clarify historical thinking as encompassing the examination of evidence, recognizing continuity and change, identifying causes and consequences, evaluating historical importance, and applying perspective-taking. Together, these frameworks stress the necessity of fostering disciplinary skills in school learners.

Despite these goals, research in the field of history education indicates persistent shortcomings in skills-based instruction. Students frequently encounter history mainly as storytelling or summaries from textbooks rather than as a process of inquiry. Teachers may find it challenging to translate disciplinary techniques into productive classroom activities or may lack confidence in assisting students with intricate interpretative assignments. This situation underscores the demand for pedagogical models that deliberately nurture historian skills and enable students to engage with the discipline as a vibrant and analytical field.

This article seeks to fulfill this requirement by presenting a thorough theoretical basis for developing historian skills and suggesting teaching strategies that aid students in moving from passive participants to emerging historians. Systemic reforms in the curriculum and teacher training are vital for achieving this vision and fostering a collective sense of purpose among educators and policymakers. By exploring essential disciplinary skills and their impact on classroom practices, this article contributes to the ongoing discourse surrounding history pedagogy in the context of Indian senior secondary education.

2. Review of Literature

2.1 Disciplinary Foundations of Historian Skills

The development of historical skills is rooted in the epistemology of the discipline. Wineburg (2001) highlights that thinking historically is considered an "unnatural act" since it requires critical assessment, contextual reconstruction, and an openness to ambiguity. In contrast to everyday reasoning, which typically seeks clear-cut answers, historical reasoning embraces uncertainty and appreciates interpretive discussion.

Seixas and Morton (2013) define six historical thinking concepts that act as benchmarks for educational objectives: significance, evidence, continuity and change, cause and consequence, perspective-taking, and ethical judgment. These concepts provide a framework within which students can cultivate a nuanced understanding of the past.

Lee (2005) points out that learners often start with simplistic beliefs—viewing history as a static account or assuming that interpretations are merely subjective opinions. With proper guidance, students evolve to understand that historical narratives are well-reasoned constructions based on evidence.

2.2 Evidence and Sourcing in Historical Thinking

Teaching sourcing requires specific instruction because students frequently lack the ability to assess a document's origin, intent, and bias, which is essential for developing critical evaluation skills. Wineburg (2001) contends that proficient historical readers analyze not just the content of a source but also the methods and reasons behind its creation. This necessitates that students interrogate the superficial meaning and explore deeper contextual elements.

Research in history education consistently indicates that students seldom engage with sourcing unless it is taught directly. When provided with support, learners become more skilled at assessing reliability and recognizing the partial or contextual nature of narratives. This underscores the importance of structured educational guidance.

2.3 Contextualisation and Historical Understanding

Contextualisation requires placing events, actions, or viewpoints within wider temporal, cultural, political, or social contexts. Seixas (2013) states that true historical understanding cannot occur without reconstructing the environments in which individuals lived and made choices. Contextualisation confronts presentist interpretations and enables students to grasp the intricacies of human experience.

Lee (2005) points out that the capability to comprehend context develops gradually and must be nurtured through ample exposure to background materials such as maps, demographic details, visual cultural elements, and secondary narratives.

2.4 Corroboration, Interpretation, and Narrative Construction

Corroboration involves students analyzing various sources to ascertain how different accounts agree or differ. According to VanSledright (2011), corroboration is essential for fostering disciplinary literacy, as it allows students to identify inconsistencies and assess evidence.

Interpretation, on the other hand, entails integrating various types of evidence to formulate historical explanations. Levstik and Barton (2001) point out that students often gain from assignments that require them to build and defend interpretations, as these tasks compel them to engage deeply with evidence and reasoning.

2.5 Multiperspectivity and Critical Historical Reasoning

Multiperspectivity acknowledges that historical events can be perceived from various viewpoints. Levstik and Barton (2001) note that interacting with a range of perspectives cultivates empathy and critical awareness, especially in diverse societies where conflicting histories influence identity and civic discussions.

Understanding multiperspectivity is crucial for developing critical thinking, particularly in diverse contexts like India, where recognizing multiple narratives strengthens democratic citizenship and diminishes dependence on unquestioned histories.

2.6 Ethical Understanding in the Study of History

Engaging in ethical reflection allows learners to address issues of justice, responsibility, and moral assessment. Apple (2024) contends that teaching history carries ethical obligations because it shapes how students view power, inequality, and human agency. Students cultivate ethical reasoning by interacting with marginalized voices, confronting challenging historical events, and considering the implications of past actions.

3. Theoretical / Conceptual Framework

3.1 Historical Thinking as a Cognitive Apprenticeship

Historical thinking is nurtured through guided involvement in the practices of the discipline. The theory of cognitive apprenticeship suggests that students gain expert skills when instructors model the thought processes, support tasks, and progressively shift responsibility to the learners. In history education classrooms, this entails that educators explicitly showcase how historians scrutinize evidence, reconstruct historical context, and formulate interpretations.

3.2 Developmental Progression in Students' Historical Understanding

Studies by Lee (2005) and VanSledright (2011) indicate that students' historical understanding evolves across discernible stages. Learners transition from viewing history as a singular narrative to acknowledging interpretive diversity and eventually crafting their own evidence-supported interpretations. This developmental trajectory shapes teaching strategies.

3.3 Alignment with Indian Curricular Frameworks

The NCF 2005, NCERT 2006, and NEP 2020 emphasize the importance of conceptual understanding, critical thinking, and inquiry-based learning. These policy documents highlight the necessity for students to engage with historical evidence, recognize various viewpoints, critically assess the past, and partake in discussions that encourage reasoned decision-making. The historian-skills framework is directly aligned with these goals, rendering it pertinent for senior secondary classrooms education.

4. Discussion

Cultivating historical skills in senior secondary students requires transforming classrooms into environments where learners take an active role in building historical understanding. Instead of simply memorizing established narratives, students should participate in the intellectual activities typical of historians: questioning sources, interpreting evidence, examining various viewpoints, and forming well-reasoned arguments. This section explores essential historian skills and the teaching methods through which educators can foster them.

4.1 Sourcing: Analyzing the Origins and Intentions of Evidence

Sourcing serves as the primary and fundamental skill for historians, enabling students to investigate the origin, authorship, purpose, and viewpoint of a document. Wineburg (2001) contends that sourcing

challenges students' tendency to accept texts at face value and encourages a mindset inclined toward critical analysis. Proficient historical readers consider the creator of a document, the reasons behind its production, and how its context may have influenced its content.

In senior secondary classrooms, sourcing can be actively developed through clear demonstrations. Teachers can analyze sample documents, verbally explaining how they assess reliability, motivation, and intended audience. This approach clarifies the historian's method and equips learners with tangible strategies for questioning the authority of texts. Educators can also create sets of documents that promote comparisons between official reports, personal testimonies, and visual materials, thus emphasizing how different types of sources convey varied intentions and perspectives.

By consistently engaging with sourcing, students come to understand that historical evidence is constructed rather than impartial. This not only enhances critical reading skills but also prepares learners for more intricate interpretive tasks.

4.2 Contextualisation: Reconstructing Historical Worlds

Contextualisation enables students to place events, actions, and interpretations within wider historical contexts. Seixas and Morton (2013) highlight that comprehending the past necessitates an understanding of the social, political, cultural, and economic circumstances experienced by historical figures. Without this insight, students may evaluate historical events through contemporary perspectives, thus misrepresenting their interpretations.

Teachers can foster contextualisation through activities that engage learners in the historical atmosphere. Creating timelines, analyzing demographic trends, exploring visual culture, and examining current debates can all assist students in reconstructing the backdrop of historical occurrences. Encouraging students to juxtapose their own life experiences with those of individuals in the past also promotes empathetic understanding and challenges anachronistic interpretations.

Contextualisation enhances historical comprehension by steering students toward more intricate interpretations. It allows them to understand why particular events transpired as they did and how overarching structures influenced both individual and collective actions.

4.3 Corroboration: Comparing Sources to Evaluate Claims

Corroboration entails comparing multiple documents to assess the consistency and credibility of claims. VanSledright (2011) notes that corroboration is fundamental in developing evidentiary reasoning, as it exposes students to contradictions, omissions, and alternative perspectives. Historians seldom depend on a single source; rather, they compile and triangulate evidence from various materials.

Students can cultivate corroboration skills through structured comparison activities. Teachers might present conflicting narratives of a historical event, asking learners to identify areas of agreement or disagreement, clarify inconsistencies, and evaluate which interpretations are more convincing based on evidence. Such activities help students recognize that historical narratives are disputed and that strong interpretations necessitate careful assessment of multiple sources.

Corroboration encourages intellectual independence. Students begin to realize that they should not accept any document without scrutiny; instead, they need to interrogate and evaluate evidence before reaching conclusions.

4.4 Interpretation: Constructing Meaning from Evidence

Interpretation requires students to integrate evidence into cohesive accounts of the past. Lee (2005) posits that interpretation is a developmental journey: students shift from viewing history as a single narrative to acknowledging the validity of multiple interpretations based on various questions or frameworks. Interpretation compels learners to utilize evidence purposefully and form reasoned conclusions.

Teachers can nurture interpretation by creating inquiry tasks where students must formulate explanations rather than merely identify facts. Assignments could involve writing evidence-based essays, creating thematic narratives, or developing digital presentations rooted in historical sources. By offering supports–such as graphic organizers, prompts

for thesis statements, or argumentation frameworks—educators assist students in organizing complex information into convincing interpretations.

Interpretative ability is the defining quality of historical thinking. When students develop their own explanations, they perceive history not as a static collection of knowledge but as a dynamic field influenced by inquiry and discussion.

4.5 Multiperspectivity: Grasping Diverse Historical Perspectives

Multiperspectivity denotes the capacity to acknowledge and assess various viewpoints within historical narratives. Levstik and Barton (2001) contend that this ability is vital for cultivating critical thinking and civic consciousness, particularly in diverse societies where historical interpretations frequently intersect with identity and power dynamics.

Educators can promote multiperspectivity by offering narratives from various social groups, regions, or ideological stances. For instance, when teaching about independence movements, it is beneficial to include perspectives from political leaders, women, marginalized communities, and colonial administrators. Engaging in activities like role-plays, comparative textbook analyses, and debates facilitates students' understanding of the reasons behind differing viewpoints and how these variations influence historical comprehension.

Multiperspectivity nurtures intellectual humility and enhances students' capacity to navigate complex and contested narratives. It prompts learners to engage with the past with an open mind, acknowledging that historical intricacies cannot be simplified to a singular explanation.

4.6 Historical Causation and Significance: Grappling with Complexity and Importance

To comprehend cause and effect, students must analyze the elements that shape historical occurrences. Seixas (2013) notes that historical causation is rarely straightforward; events arise from the convergence of structures, contexts, and human actions. Consequently, educators should guide students to look beyond oversimplified explanations and develop a nuanced understanding of how and why events transpire.

Meanwhile, assessing historical significance involves students evaluating why certain events, figures, or developments are remembered more significantly than others. They must consider the impact, relevance, and significance of these factors over time and across various contexts.

Teachers may assign tasks that compel students to rank causes based on their influence, justify the importance of events, or debate pivotal moments in history. Such activities enhance students' analytical reasoning abilities and deepen their conceptual grasp of historical processes.

4.7 Ethical Understanding: Considering Justice, Responsibility, and Memory

Ethical considerations in history involve recognizing the moral dilemmas inherent in studying the past. Apple (2024) highlights that teaching history carries ethical obligations because it shapes civic awareness and affects how students interact with social inequalities. Ethical reasoning encourages learners to navigate complex historical narratives, reflect on diverse experiences, and contemplate the moral implications of past actions.

Educators can cultivate ethical understanding through discussions on controversial events, examination of marginalized perspectives, exploration of human rights matters, and reflection on historical memory. These activities promote sensitivity, empathy, and a critical approach to the ethical aspects of history.

4.8 Classroom Structures that Support Historian Skill Development

Historian skills thrive in educational settings that promote inquiry, discussion, and contemplation. Several pedagogical structures support this development and growth:

Inquiry-Based Units

Learners investigate historical inquiries through in-depth explorations, gathering evidence, analyzing sources, and presenting their interpretations.

Document-Based Questions (DBQs)

DBQs require students to construct arguments based on curated collections of primary and secondary sources, integrating sourcing, contextualization, corroboration, and interpretation.

Collaborative Investigation

Group assignments encourage cooperative reasoning and introduce students to various

perspectives. Learners engage in debates over interpretations and collectively refine their ideas.

Argumentative Writing

Structured writing assignments demand that students develop claims, back them up with evidence, anticipate and counter opposing arguments, and offer coherent reasoning.

Reflective Practices

Journals, self-assessments, and peer feedback motivate students to evaluate their historical thinking and recognize their progress.

These structures gradually nurture independence and confidence, enabling students to think and work increasingly like historians.

5. Implications

Cultivating historian skills among senior secondary students necessitates systemic shifts at multiple educational levels. Such skills cannot thrive in environments dominated by rote memorization or limited assessment practices. Instead, they require innovative teaching methods, curricular coherence, teacher training, and thoughtful assessment reforms. The implications below outline the structural changes needed to support a historian-skills framework in Indian schools.

5.1 Implications for Classroom Pedagogy

To facilitate meaningful engagement with historical inquiry, teaching strategies must transition from passive information delivery to active investigation. Conventional teaching methods that prioritize memorization restrict students' engagement with evidence, reasoning, and interpretation. Classrooms should instead create opportunities for learners to encounter varied sources, engage in discussions, and develop their own interpretations.

Educators must employ instructional techniques that emphasize evidence analysis, comparative evaluation, and interpretive debates. For example, the consistent use of primary sources allows students to practice sourcing and corroboration. Inquiry-based questions introduced at the start of lessons encourage learners to tackle historical issues rather than simply receive fixed answers. Structured discussions aid students in articulating their reasoning, while teacher modeling clarifies analytical processes.

Such teaching approaches require careful planning and an awareness of students' developmental needs. Teachers must identify suitable scaffolding—like graphic organizers, question prompts, and sentence frames—that supports students' gradual acquisition of historian skills. Over time, these scaffolds can be diminished as students gain confidence in their abilities.

Ultimately, a historian-skills approach necessitates a classroom atmosphere that values curiosity, critical engagement, and reflective questioning.

5.2 Implications for Curriculum Development

Curricular frameworks must explicitly integrate historians' skills into learning outcomes, instructional materials, and suggested pedagogical approaches. NCF 2005 and NCERT 2006 acknowledge the importance of conceptual understanding, yet curricular implementation often remains content-heavy. To nurture young historians, curricula should foreground disciplinary practices over exhaustive factual coverage.

Curricular reforms may involve the following strategies:

- **Integrating primary sources directly into textbooks** to encourage sourcing and interpretation.
- **Designing thematic units** organised around historical problems rather than event sequences.
- **Providing exemplars of student inquiry**, including annotated interpretations and sample evidence analyses.
- **Embedding multiperspectivity** by presenting contrasting narratives and encouraging learners to compare them.
- **Reducing content overload** to create space for deeper exploration and discussion.

Curricula that place disciplinary skills at the centre help teachers coordinate their methods with the goals of historical thinking and enable students to engage with the construction of historical knowledge.

5.3 Implications for Teacher Education and Professional Learning

The success of a historian-skills approach depends heavily on teachers' knowledge, confidence, and pedagogical repertoire. Therefore, teacher education programs must deliver explicit training in historical methodology, inquiry-based learning, and assessment of disciplinary skills.

Initially, pre-service teacher education should incorporate coursework on historiography, historical thinking frameworks, and inquiry pedagogy. Understanding the contributions of Wineburg, Seixas, and VanSledright can offer teacher candidates a robust theoretical foundation. Practical learning experiences—like microteaching with sources and analyzing student work—should also be included to strengthen their preparation.

Second, In-service professional development should assist active teachers in gradually adopting disciplinary methods. Workshops, peer learning groups, collaborative lesson planning, and model lessons can support teachers in honing their techniques and gaining confidence in running inquiry-based classrooms. Teachers benefit from testing, reflecting on, and improving their approaches, aided by collegial discussions and mentoring from experts.

Moreover, it is essential to directly address teachers' beliefs. Educators who perceive history as a fixed narrative may find it challenging to accept interpretive teaching methods. Therefore, professional development should promote contemplation of epistemological beliefs and encourage identities that align with disciplinary practices.

5.4 Implication for Assessment Reform

Assessment plays a significant role in shaping classroom practices. To develop the skills of historians, assessments must go beyond memory-based questions and assess students' capabilities to analyze, interpret, and construct arguments using evidence. Conventional assessment methods often limit historical thinking by rewarding shallow memorization.

Revised assessment approaches can include:

- Questions based on sources that require students to assess reliability, compare differing views, and interpret meanings.
- **Document-Based Questions (DBQs)** that encourage students to integrate information from various sources.
- **Extended writing** assignments that allow students to formulate arguments supported by evidence.
- **Formative assessments** such as reflective journals, group conversations, and peer evaluations that are in line with historical thinking principles.
- **Rubric designs** that clarify criteria for assessing evidence, reasoning, interpretation, and communication.

Reforming assessments aligns evaluation with learning goals and reinforces the cultivation of historians' skills. When students are aware that their assessment will focus on their reasoning, they are more inclined to engage thoroughly with inquiry activities.

Conclusion

Converting senior secondary students into young historians necessitates reimagining history education as an engaging process founded on disciplinary skills and knowledge. Skills of historians—such as sourcing, contextualization, corroboration, interpretation, multiperspectivity, and ethical reasoning—are crucial for developing students' abilities to think critically, interact with various perspectives, and create meaningful interpretations of history.

This article has contended that fostering these skills demands a consistent alignment of teaching methods, curriculum, teacher training, and assessment. By drawing on the theoretical insights of Wineburg, Seixas, Lee, Levstik, Barton, and VanSledright, the article presents a strong framework for comprehending the cognitive and methodological aspects of historical thinking. It also emphasizes the significance of ethical reflection, recognizing that history education shapes students' civic identities and their engagement with complex societal issues.

To nurture historians' skills, classrooms should emphasize inquiry rather than rote memorization, conversation over mere recitation, and interpretation instead of simple transmission. Teachers must act as facilitators of critical thought, guiding students through detailed evidence analysis and motivating them to express well-founded interpretations. Curricula should incorporate disciplinary skills and allow for an in-depth investigation of historical issues. Teacher training programs ought to provide ongoing and practice-oriented support for inquiry-based teaching. Assessment methods must match disciplinary aims and evaluate how learners develop their historical understanding.

When these aspects come together, students are

empowered to progress from passive learning to active engagement with the discipline as emerging historians. This type of educational experience equips them not just for scholarly pursuits but also for responsible citizenship in a varied and intricate world.

***Research Scholar**
Central Institute of Education
University of Delhi
****Professor**
Maharishi Valmiki College of Education
University of Delhi

References:

- Apple, M. W. (2024). *On being a scholar/ activist: Personal history and acquired wisdom*. Education Review, 31, 1–23.
- Lee, P. (2005). Putting principles into practice: Understanding history. In S. Donovan & J. Bransford (Eds.), *How students learn: History in the classroom* (pp. 31–77). National Academies Press.
- Levstik, L., & Barton, K. (2001). *Doing history: Investigating with children in elementary and middle schools*. Lawrence Erlbaum Associates.
- Seixas, P., & Morton, T. (2013). *The big six historical thinking concepts*. Nelson Education.
- VanSledright, B. (2011). *The challenge of rethinking history education: On practices, theories, and policy*. Routledge.
- Wineburg, S. (2001). *Historical thinking and other unnatural acts: Charting the future of teaching the past*. Temple University Press.
- NCERT. (2006). *Position paper: National focus group on teaching of social sciences*. National Council of Educational Research and Training.
- NCF. (2005). *National Curriculum Framework*. National Council of Educational Research and Training.
- NEP. (2020). *National Education Policy 2020*. Ministry of Education, Government of India.

Research Paper

Indonesia's Indo-Pacific Approach: Navigating the US-China Power Contest

Hukam Singh Meena* **Gopal Khillo****

Abstract

Indonesia as the world's largest archipelagic state and a pivotal Southeast Asian power, it doesn't see the Indo-Pacific region as battlefield rather a maritime common space vital for trade, security and global supply chain. Indonesia's Indo-Pacific approach tactfully balances between the US-China power contest, through embodying nation's longstanding approach of "active and independent" or *Bebas Dan Aktif* foreign policy. These perspectives are well reflected in former President Joko Widodo's 2013 vision of "Global Maritime Fulcrum" or *Poros Maritim Dunia*. Which eventually evolved into Indonesia's approach for ASEAN Outlook on the Indo-Pacific (AOIP) in 2019. Which lays a blueprint for inclusivity, rule of law and sustainable development over zero-sum game in the region. In order to manage China's assertive claims in South China Sea, Indonesia's actively participates in ASEAN and US led forums, bolsters military ties such as exercise *Garuda Shield*, and yet avoid formal pacts like AUKUS to not provoke China, the top trading partner. On the other side, Indonesia engages in China's BRI for economic gains, as well as engages India, Japan and Australia to diversify its strategic partnership. Simultaneously, it champions the ASEAN centrality and greater economic cooperation in the region. Ultimately, Indonesia peaks how middle powers can navigate great power contests, prioritising agency over allegiance.

Introduction

The post-Cold War global order has witnessed radical shifts over the last decades. For a brief period of time, followed by the collapse of Soviet Union global power distribution underwent for a unipolar world order. That had only one centre of power the United States. The rise of developing world especially China and India are leading to a multipolar world order. Where rather than one core centre of power, there would be multiple centres of power.

This is seen as power shift from Trans-Atlantic to Indo-Pacific region. Indo-Pacific spans across the Eastern Coast of Africa to Western Coast of the United States. This region consists about two-third of world population, seven of ten most powerful militaries, six nuclear weapon possessing nations, nine of ten busiest ports in the world, sixty percent of global maritime trade, and four of five largest economies (White House, 2022). It indicates the prominence of the Indo-Pacific region in changing global order. It brings both great opportunities and challenges for countries within the region. It demands both the regional and global powers to actively engage in order to secure their strategic interests and tackle their adversaries within the very same region, including Indonesia. Indonesia as a pivotal power in the Southeast Asia has a larger geopolitical role to play. Hence, it makes essential to understand Indonesia's Indo-Pacific approach and examine its implications towards the regional security of the Southeast Asia (Koyuncu, 2023).

Indonesia's Security Priorities

Indonesia is the largest nation in the Southeast Asia both in terms of population and size of economy. It is also the largest archipelagic country in the world, lying in the midst of a significant strategic location where Indian and Pacific Ocean meets. Due to long tradition of leadership and unmatched power, Indonesia's diplomatic voice within in Association of South East Asian Nations (ASEAN) significantly matters (Muhibat, 2019). Therefore, it is quite essential for Indonesia to have a neutral stance regarding the great power competition in region and pursue peace and harmony for common good of ASEAN countries. It is also seen that Indonesia is among those few powers who essentially denies picking sides, rather tactfully balances between the great power competition in the region (Koyuncu, 2023).

Indonesia's security priorities have a number of issues. It spans across internal affairs to external security threats. The internal security issues include social unrest, separatism and terrorist activities. Terror incident such as the Bali bombings in 2002 which caused over 200 deaths (National Museum of Australia, 2025). These separatism issues extensively prevail in the province of Aceh and East Papua. While social unrest is always a possibility due its large diversified population (Hammond, 2025).

While the external security priorities of Indonesia include tackling maritime threats, piracy in sea lanes and safe guarding the deep sea. Indonesia as an archipelagic state it has a huge coast line and a large number of islands, to which it requires to protect in order to maintain the national security. Hence, it makes a compulsion for Indonesia to constantly monitor the region and safe guard its interests (Kembara, 2024).

In a broader sense Indonesia has a constructive role to play in order to tackle any foreseen challenges and secure its strategic interests across the region. Its commitment for active participation in regional and global security can be achieved through a combined measured approach of a tactful diplomacy, peace keeping and humanitarian assistances to regional neighbours (Scott, 2019).

Indonesia's Indo-Pacific Approach: Vis-à-vis the US and China

(i) Indonesia-US Bilateral Relations

Indonesia is undisputedly the most powerful country in the Southeast Asia. Since its inception, Indonesia has seen playing a key role in formulating the policies within ASEAN forums (ASEAN, 2024 and Cabinet Secretariat of Indonesia, 2025). ASEAN officially announced its Indo-Pacific strategy in 2019. Undoubtedly, Indonesian Foreign Ministry has played a significant role in unveiling the ASEAN Indo-Pacific strategy (Kembara, 2024).

The "Indo-Pacific Treaty of Friendship and Cooperation" was announced in 2013 by then Indonesian Foreign Minister Marty Natalegawa, that serves as the cornerstone of Indo-Pacific Strategy by ASEAN. The "ASEAN Centrality" foundation ideas were presented by Indonesian President Joko Widodo in November 2018 during his address at the East Asia Summit. The "ASEAN Centrality" emphasises on openness, inclusiveness, transparency, and the respect for international law (Kembara, 2024).

The rise of Indo-Pacific region is hugely responsible for the power rivalry between the United States and China. Where both the powers are strongly pushing their respective power projection to gain influence over the region. This power rivalry is providing both challenges and opportunities for countries across the region (Andrews, 2025). Picking a side between either side of the power is hard. Hence pursuit of neutrality, prioritisation of national interest and commitment for peace and prosperity is the only option for the regional powers to ensure peace and stability. The leadership trend of Indonesia, since former President Widodo who took office in 2014 and present President Prabowo who took office in 2024 are mostly matches the policies of other ASEAN countries in order to pursue their respective "ASEAN centrality" approach in the larger Indo-Pacific region (Koyuncu, 2023 and Setiawan, 2025).

Moreover, Indonesia has an active role to play to guide the ASEAN institutions such as the ASEAN Regional Forum, the East Asia Summit and the ASEAN Defence Minister's Meeting. Indonesia also

encourages both the United States and China to join them. Through this approach Indonesia is conveniently forcing both the United States and China to follow the path of ASEAN rather ASEAN being just an institution who follows the path and strategies of the United States and China (Anwar, 2023). Indonesia has also demonstrated its capacity by addressing the "Free and Open Indo-Pacific" with a greater inclusiveness of all the forum member including China. This strategy has propounded by the United States to contain China, showing Indonesia's willingness to play its balancing role in the region (Mohan, 2025).

The diplomatic voice of Indonesia is only going to embolden more with each passing year. The sizeable economic advancement of the country is providing a great stature in regional decision making. Compared to the last decades, geopolitical importance and leadership spirit of Indonesia has come a long way. As its economy grows it will provide a promising landscape for the regional security. Indonesia is the fastest growing over USD 1 trillion economy since the last decade except India and China. It will soon join the club of upper middle-income countries if the growth remains as it is (Verico, 2021).

Over the last decade the bilateral relations between the Indonesia and United States have rapidly grown. Taking significant jumps in terms of diplomatic and security developments. These bilateral relations have moved to a next level when the former US President Barack Obama visited Indonesia in 2010, resulting signing the "Comprehensive Partnership" between two countries. Subsequently both nations have signed "Strategic Partnership" in 2015. This agreement took bilateral relations into one step further scaling up the strategic cooperation, making Indonesia an exclusive ally of the United States in the region. Each year both countries are conducting numerous military exercises both bilaterally and multilaterally, enhancing both counties to tackle the security threats and terrorism across the region (White House, 2015).

In addition to this, Indonesia considers the United States as a top security partner regarding the issues of Natuna Island. The "Super Garuda Shield" a joint exercise between Indonesia and the United States is often regarded as Indonesia's front most deterrent in relation to the Natuna Island issue (Shekhar, 2022).

Arms purchases are another significant front in the Indonesia-US bilateral relations. In 2022 the United States sold about 36 units of F-15EX fighter jets to Indonesia worth of USD 14 billion. Initially Indonesia was also looking for Russia's SU-35 but due sanctions over the fighter jet and other strategic concerns, it opted for F-15EX (Lee, 2022). In the past as well, Indonesia did defence purchases from the United States. It includes F-16 C/D Block fighter aircraft, AH-64D Apache Block III Longbow Helicopter, MV-22 Block C Osprey aircraft and AGM-65k2 Maverick missiles (Department of State, 2025).

The reason why Indonesia is continuously seeking to deepen strategic ties with the United States is because it is a crucial extra regional power in this region. The more Indonesia will cooperate, the more it can secure its strategi position in the region. As Indonesia views a free, open and rule based-order in the Indo-Pacific region, it becomes essential to cooperate with other like-minded nations including the United States to maintain peace and harmony. Indonesia knows cooperation with the United States is critical to maintain independent strategic choices. In return, this cooperation will bring range of opportunities for Indonesia to play an active role in the regional and global security affairs concerned to the broader Indo-Pacific region (Laksmana, 2021).

Indonesia-China Bilateral Relations

On the other side, Indonesia has a very deep cooperation with China. Perhaps it is one of those few countries in the world that is able to smartly balance its relations between both the United States and China. Since the establishment of "Strategic Partnership" in 2005 and "Comprehensive Strategic Partnership" in 2013 between Indonesia and China their bilateral ties have rapidly grown. Which is reflected in both their economic and security cooperation (Ministry of Foreign Affairs, 2013).

In 2013 when the People's Republic of China (PRC) has started its Belt and Road Initiative (BRI), Indonesia was among those few countries around the

world that overwhelmingly established trade relations with China to gain economic benefits. As a result of this Indonesia was able to gain large scale investments from China. Subsequently, the economic ties between the two nations have rapidly grown (Anwar, 2023).

Furthermore, these developments made China the largest trading partner of Indonesia. As per data of Chinese Authority in 2021 the bilateral trade between Indonesia and China were USD 124 billion. The Indonesian export was nearly USD 64 billion and import USD 60 billion respectively. Recent major Chinese investments in Indonesia are Jakarta-Bandung High Speed Railway, Batang Toru hydro energy project, Morowali electric vehicle and lithium battery factory setup, Jatigede dam, the Medan-Kualanamu highway, and Kuala Tanjung port (Koyuncu, 2023).

The major exports of Indonesia to China are coal, nickel, copper, palm oil and agrarian products. Since the geopolitical tension between the China and Australia are increasing, Indonesia emerged as a major supplier of coal to China. China heavily requires coal for its economic sustainability as well to keep functioning its manufacturing sector (Anwar, 2023). These growing economic relations with China are helping Indonesia to turn as a major investment hub in the region. This development will also help Indonesian authority to build stronger cooperations with other ASEAN countries. Apart from China, due to the invest-friendly legal regulations Indonesia is also able to attract investments from Japan, Australia, European Union and the United States. Especially in the energy and geothermal field, which is helping Indonesia for its economic growth (Koyuncu, 2023).

Indonesia's role in maintaining the regional security in the Southeast Asia includes a range of aspects. Since the formation of ASEAN in 1967 Indonesia has played a crucial role in it. Alongside Malaysia, Singapore, Thailand and the Philippines it was one the founding member of the regional grouping (Acharya, 2009). Over the years Indonesia was playing a very active role among ASEAN member states in the matter of foreign policy, trade, economic ties, and defence issues (ASEAN, 2024 and Setiawan, 2025).

Indonesia is also playing a critical role in combating the non-traditional security threats in the region along with the other ASEAN countries. It includes tackling the terrorism, piracy and trans-national crimes. It also put emphasis on tackling human security and drug trafficking concerned to the region. Indonesia is also seen actively tackling the natural calamities such as the flood, cyclone and Tsunami whenever the region faces it (Setiawan, 2025).

Conclusion

In conclusion it can be said that, Indonesia as the most powerful country in Southeast Asia has a larger geopolitical role to play. Indonesia requires to actively participate in the regional affairs in order to secure both its regional and global interests. In recent years Indo-Pacific region has seen a shift from an economic-centred region to more defence and strategic centred region. Therefore, all the major countries that belong to this part of the world has a larger strategic role to play, including Indonesia.

Further, Indonesia can play a role of diplomatic facilitator to maintain peace and stability in the region. These diplomatic outlook of Indonesia will help to balance between the great powers, especially the United States and China. Also, these balance of power efforts not only helps Indonesia to navigate strategic complexities but also it helps all other ASEAN countries to manage great power competition, and pursue their individual security interests to maintain peace and stability. The Indo-Pacific region is a highly contested space between United States and China. Duet to its balancing strategy, Indonesia would remain as one of those few powers that is able to balance between both the powers. Simultaneously, championing the ASEAN centrality approach in the Indo-Pacific and larger economic cooperation in the region (Laksmana, 2021).

Despite, such highly tensed geopolitical environment, Indonesia sought to speak with both Russian and Ukrainian leadership to look for a constructive solution to end the war. It also advocates for a peaceful solution for both Israel and Palestine, with a reasonable stance addressing security concerns

of both the sides. These are few examples, that demonstrates the active neutrality of Indonesia in global security affairs. Indonesia is determined to follow the "active and independent" or *Bebas Dan Aktif* foreign policy, that meant for an independent stance regarding its core foreign policy issues, including managing the great powers in the Indo-Pacific region.

***PhD Research Scholar**
Centre for Indo-Pacific Studies,
School of International Studies,
Jawaharlal Nehru University, New Delhi
Email: 1701235@pg.du.ac.in

****PhD Research Scholar**
Centre for Indo-Pacific Studies,
School of International Studies,
Jawaharlal Nehru University, New Delhi
Email: gopalk52_isn@jnu.ac.in

References:

- Acharya, A. (2009). *Constructing a Security Community in Southeast Asia*. Oxon: Routledge.
- Andrews, D. (Host). (2025). *Indonesia's evolving role in the Indo-Pacific and beyond*. In *National Security Podcast*. ANU National Security College. https://nsc.anu.edu.au/podcast/indonesias-evolving-role-indo-pacific-and-beyond
- Anwar, D. F. (2023). Indonesia's hedging plus policy in the face of China's rise and the US-China rivalry in the Indo-Pacific region. *The Pacific Review*, *36* (2), 351–377. https://doi.org/10.1080/09512748.2022.2160794
- ASEAN (2024). Overview. *ASEAN*, accessed on 15 July. https://asean.org/overview/
- Cabinet Secretariat of Indonesia (2025). Presiden Prabowo Tegaskan Komitmen Pemerintah Percepat Pemulihan Aceh Tamiang. accessed on 15 November. https://setkab.go.id/en/indo-pacific-concept-important-for-asean president-jokowi/
- Department of State, U. S. (2025). U.S. Security Cooperation with Indonesia. 20 January. https://www.state.gov/u-s-security-cooperation-with-indonesia/
- Hammond, J. (2025). A Stable Indo-Pacific Is Key to Indonesia's National Security. *Jakarta Globe*. 17 December. https://jakartaglobe.id/opinion/a-stable-indopacific-is-key-to-indonesias-national-security#goog_rewarded
- Kembara, G. (2024). *Indonesia - Indian Ocean security and the US Indo-Pacific strategy*. East-West Center. https://share.google/neeL4eNeDusAtiLED
- Koyuncu, M. C. (2023). Indonesia: The Tranquil Power of the Indo-Pacific. *Ankara Center for Crisis and Policy Studies*. 14 June. https://www.ankasam.org/indonesia-the tranquil-power-of-the-indo-pacific/?lang=en
- Laksmana, E. A. (2021). Stuck in Second Gear: Indonesia's Strategic Dilemma in the Indo-Pacific. *ISEAS Perspective*. 28 December. https://www.iseas.edu.sg/wp-content/uploads/2021/11/ISEAS_Perspective_2021_170.pdf
- Lee, M. (2022). US approves major $14 billion arms sale to Indonesia. *Associated Press*. 11 February. https://apnews.com/article/antony-blinken-united-states indonesia-china-jakarta-083ed101e2c67cd77b17704464c18b2c
- Ministry of Foreign Affairs, China (2013). Xi's Indonesia visit lifts bilateral ties, charts future cooperation. 4 October. http://www.china.org.cn/world/2013 10/04/content_30201723.htm
- Mohan, B. (2025). Indonesia's Approach to the Global South and Its Implications in the Indo-Pacific Region. *Diplomatist*. 12 February. https://diplomatist.com/2025/02/12/indonesias-approach-to-the-global-south-and-its-implications-in-the-indo-pacific-region/
- Muhibat, S. F. (2019). *Indonesia and Indo-Pacific: Seeking the proper response to great power politics* (SWP Working Paper). Stiftung Wissenschaft und Politik. https://www.swp-berlin.org/publications/products/projekt_papiere/BCAS_2019_Muhibat_Indonesia_and_Indo-Pacific.pdf
- National Museum of Australia (2025). Bali Bombings. accessed on 15 November. https://www.nma.gov.au/defining-moments/resources/

bali-bombings
- Scott, D. (2019). Indonesia grapples with the Indo-Pacific: Outreach, strategic discourse, and diplomacy. *Journal of Current Southeast Asian Affairs, 38*(2), 194–217. https://doi.org/10.1177/1868103419860669
- Setiawan, A. (2025). Indonesia's Foreign Policy Trajectory Under President Prabowo Subianto: Balancing Assertiveness and Pragmatism in an Evolving Global Order. *COMSERVA Jurnal Penelitian dan Pengabdian Masyarakat* 4 (8). https://doi.org/10.59141/comserva.v5i4.2708
- Shekhar, V. (2022). Indonesia's Great-Power Management in the Indo-Pacific: The Balancing Behavior of a "Dove State". *Asia Policy*. *17*(4), 123–149. https://www.jstor.org/stable/27254597
- Verico, K. (2021). How Indonesia Sees the Indo-Pacific Economic Architecture. *Center for Innovation, Trade, and Strategy* (Commentary). 6 November. https://www.nbr.org/publication/how-indonesia-sees-the-indo-pacific-economic-architecture/
- White House, Press Secretary (2015). Joint Statement by the United States of America and the Republic of Indonesia. https://obamawhitehouse.archives.gov/the-press-office/2015/10/26/joint-statement-united-states-america-and-republic-indonesia
- White House, Executive Office of the President (2022). Indo-Pacific Strategy of the United States. https://bidenwhitehouse.archives.gov/wp-content/uploads/2022/02/U.S.-Indo-Pacific-Strategy.pdf

डॉ. बिपिन प्रसाद

उन्नीसवीं सदी के पूर्वार्द्ध में राजकीय भाषा-विवाद और हिन्दी

समाज में संस्कृति, साहित्य और भाषा हमेशा ही दो रूपों में पाये जाते हैं। जैसे संस्कृति के लिए लोक संस्कृति और शिष्ट संस्कृति, लोक साहित्य के लिए लोक एवं शिष्ट साहित्य सामने आता है। ऐसे ही समाज में भाषा भी दो रूपों, लोक भाषा और शिष्ट भाषा के अन्तर के साथ चलती है। हम संस्कृति, साहित्य और भाषा के पहले वाले शब्द 'लोक' का अर्थ आम जनता, साधारण जनता के रूप में स्वीकार करते हैं। इनका समाज में आगे बढ़ना परम्परा पर निर्भर करता है। ये पीढ़ी-दर-पीढ़ी अपनी संस्कृति, साहित्य और भाषा को एक से दूसरे तक पहुँचाते रहते हैं। वहीं दूसरी तरफ शिष्ट संस्कृति साहित्य और भाषा को पढ़े-लिखे लोगों, जो आम लोगों से ज्ञान में ऊपर होते हैं, के रूप में देखा जाता है। इस लेख के द्वारा लोक और शिष्ट संस्कृति और साहित्य को जाँचना-परखना नहीं है बल्कि समाज के अन्दर सत्ताओं की भाषा विषयक नीति को देखने का है। इसमें उन्नीसवीं शताब्दी के प्रारम्भ से मध्य तक के भाषा के विभिन्न परिवर्तित रूप को देखना है।

भारत के भाषा सर्वेक्षण पर सुनीति कुमार चातुर्ज्या ने भाषा के खेल को बहुत स्पष्ट रूप में समझाने की कोशिश की है, ''जनता अपनी प्रान्तीय अर्थात् स्थानीय बोलचाल की भाषा को लेकर अपना दैनिक काम चलाती थी और अभिजात या उच्च तथा शिक्षित वर्ग के लोग, जिनके हाथों में देश संचालन का भार था, हिन्दू राज्य में संस्कृत भाषा की सहायता से और मुसलमानी राज्य में फारसी की सहायता से, भारत के अन्तर अन्त: प्रादेशिक और भारत के बाहर की दुनिया से अन्तर्राष्ट्रीय काम-काज चलाते थे।''[1] इसका अर्थ है कि राजकाज की भाषा नीति में 'कोस-कोस पर पानी बदले, चार कोस पर बानी' वाली स्थिति नहीं होती। जनता की बोली या भाषा इस युक्ति का प्रमाण हो सकती है लेकिन राज्य की भाषा नीति इतने अन्तर पर नहीं बदलती। राज्य का शासक उस सम्पूर्ण भू-भाग पर अपनी राज्य की भाषा को एक ही रूप में लागू करता है। वह आम और खास दोनों व्यक्तियों के लिए उस भाषा नीति को पूरे राज्य में लागू करता है। यही कारण है कि सत्ताओं की राजकाज की भाषा नीति चार कोस पर नहीं बदलती।

उन्नीसवीं शताब्दी के पूर्व मुगलों के शासन काल में राजकाज की भाषा 'फारसी' थी। मुसलमानों ने फारसी भाषा को ही अपने राजकाज की भाषा घोषित की थी। उसी भाषा में शिक्षा भी प्रदान की जाती थी। जनता और मुसलमानों के राजकाज की भाषा नीति को ऐहतेशाम हुसैन की कथनों से स्पष्ट कर देना चाहता हूँ। वे स्वीकार करते हैं कि सत्ताओं का डर इतना गहरा होता है कि कवियों, लेखकों के विचार भी उसी की भाषा में ही आते हैं। लेकिन जो सत्ताओं से भयभीत नहीं होता है वह आमजन की भाषा में भी अपना साहित्य दे सकता है। ''कभी-कभी तो विचार तक फारसी के होते, परन्तु अट्ठारहवीं शताब्दी के आरम्भ ही से हमको उर्दू काव्य के साफ-सुथरे उदाहरण मिलने लगते हैं। राजकाज की भाषा फारसी रही, किन्तु कवियों ने जनता की बोली से काम लिया। उच्च वर्ग में फारसी का जादू चलता रहा और जन साधारण में हिन्दुस्तानी जड़ पकड़ती रही।''[2]

मुसलमानों के भारत आगमन के समय उनकी भाषा (फारसी) में कई भाषाओं के शब्द सम्मिलित थे। यहाँ तक की मुसलमानों का धार्मिक ग्रन्थ 'कुरआन' अरबी भाषा में है जबकि उनकी अपनी भाषा फारसी रही। यह भाषा मुसलमानों के समय से उन्नीसवीं सदी के पूर्वार्द्ध तक राज राजकाज की

भाषा रही। उन्नीसवीं शताब्दी के पूर्वार्द्ध भारत में सत्ता की भाषाओं की दृष्टि से उथल-पुपथ का था। इस समय मुसलमानों की सत्ता लगभग समाप्ति की ओर थी और अंग्रेजी सत्ताओं की हुकुमत शुरू हो चुकी थी। इस प्रकार सत्ता परिवर्तन की स्थिति में अंग्रेजों की पूरी नीति का परिवर्तित होना लाजिमी ही थी। रामविलास शर्मा ने बताया किया है कि भारत में मुसलमानों के आगमन के समय कोई पश्तो बोलता था, कोई तुर्की, कोई अरबी तो कोई फारसी। मुसलमानों की भाषाएं कम से कम तीन परिवारों की है। बाहर से आने वाले मुसलमानों ने राजभाषा के लिए अरबी नहीं बल्कि फारसी को चुना था। फारसी को राजभाषा चुनने का कारण धार्मिक कम सांस्कृतिक ज्यादा लगता है। कोई भी भाषा जब किसी परिवेश में राजकाज के रूप में प्रयुक्त की जाती है तो उस समाज का समग्र रूप सामने दिखाई देने लगता है।

इतिहास से हमें ज्ञात होता है कि भारत में अट्ठारहवीं शताब्दी में मुगल साम्राज्य का लगभग पतन हो चुका था, जिससे उनकी शक्ति भी क्षीण हो चुकी थी। उन्नीसवीं शताब्दी का पूर्वार्द्ध मुगल सत्ता के लिए अन्धकारमय हो गया था। उसके जीवन के प्रत्येक पहलू में बदलाव दिखने लगा था। जहाँ इनकी हैसियत किसी काम की नहीं रह गई वहाँ से इनकी संस्कृति युक्त भाषा उन्नीसवीं सदी में लुप्त होती नजर आ रही थी। यह समय मुस्लिम समाज और सत्ता के लिए सब कुछ खो देने का समय था। कहने का आशय है कि मुगल सत्ता के पैरों तले की जमीन खिस रही थी। यहाँ यह कहने में थोड़ा भी संकोच नहीं है कि जब भारत के हिन्दी प्रदेश में फारसी राजभाषा बनाई गयी उसके पीछे का कारण मुगल साम्राज्य का उत्तर भारत के अत्यधिक क्षेत्रों पर शासन करना था। मध्यकाल में हिन्दू या मुस्लिम कवियों के साहित्य में फारसी शब्दों का प्रभाव इसी आधार पर दिखाई देता है। यहाँ तक की उत्तर भारत की लगभग सभी भाषाओं एवं बोलियों पर उसका प्रभाव देखा जाता है।

जिस भाषा को सत्ता के आने के साथ ही राजभाषा घोषित किया गया हो और उसका प्रभाव उस समय की समस्त भाषाओं पर हो, उसको एकाएक हटा देना, बहुत सरल कार्य नहीं था। यही कारण है कि फारसी मुगल साम्राज्य के पतन के पश्चात् भी चर्चा का विषय बनी रही। अंग्रेज इस भाषा को भारत में स्थापित देख, उसे समाप्त कर अपनी भाषा थोपने के लिए लगातार प्रयत्न करते रहे। उनका भाषा विषयक प्रयत्न लार्ड मैकाले के भारत आने के बाद सार्थक होता दिखाई दिया। उन्नीसवीं सदी के पूर्वार्द्ध में 'फारसी' राजकाज की भाषा में ऐसे रच बस गई थी जिसे अंग्रेजों के लिए हटा पाना मुश्किल था। कुछ वर्षों तक ब्रिटिश सत्ता भी फारसी को राजकाज की भाषा के लिए छोड़ रखी थी।

फारसी के राजकाज की भाषा विषयक सन्दर्भ पर डॉ. सूर्यनारायण का कथन है, ''मुगल शासन काल में फारसी भाषा के अध्ययन को अधिक महत्व दिया जाने लगा हिन्दू संस्कृत का और मौलवी फारसी का पारंपरिक पद्धति से ही अध्ययन करते थे। फारसी राजकाज, व्यापार तथा न्यायालय की भाषा थी। जब ईस्ट इंडिया कम्पनी ने उत्तर भारत में अपना कारोबार शुरू किया तो आरम्भ में उन्होंने भी फारसी को ही राजभाषा के रूप में स्वीकार किया था।''[13] उस समय फारसी रोजगार पाने के लिए भी अनिवार्य हो गयी थी। यह भाषा राजकाज में प्रयुक्त होने के कारण अधिकाधिक मात्रा में विकसित थी। आम आदमी के लिए यह समय संक्रमण का था। इसमें अरबी, फारसी और उर्दू को लेकर मुस्लिमों में भी काफी विवाद देखा जा रहा था। यह विवाद उन्नीसवीं सदी के उत्तरार्द्ध तक आते-आते हिन्दी-उर्दू विवाद में तब्दील हो गया। कहा जाने लगा कि यह पूरा का पूरा मामला धर्म को लेकर खड़ा किया जा रहा है। धार्मिक पतन को रोकने के लिए और प्रत्येक व्यक्ति तक धर्म की बुनियादी बातों को पहुँचाने के लिए शाह वली उल्लाह ने पहली बार 'कुरआन' का अरबी से फारसी में तजुर्मा किया। इसका परम्परावादी उलेमाओं ने कड़ी निंदा की क्योंकि फारसी मजहबी जुबान नहीं थी।

ऊपर कहा गया है कि अट्ठारहवीं सदी के उत्तरार्द्ध में मुगल शासन की राजभाषा फारसी होने के बाद भी 'कुरान' फारसी में आम आदमी को उपलब्ध नहीं था। 'कुरान' को फारसी में अनूदित कराने के लिए अनेक प्रकार की कठिनाइयों का सामना करना पड़ा। डॉ. वीरभारत तलवार ने भी लिखा है, ''18वीं सदी के उत्तरार्द्ध से पहले उर्दू इस्लाम का प्रतीक कभी नहीं रही। उल्टे वह एक गैर इस्लामिक जुबान समझी जाती थी। ज्ञान और कविता की भाषा फारसी थी और धर्म की भाषा अरबी, जिसे समझने वाले आम मुसलमान तो क्या, पढ़े-लिखे मुसलमान भी बहुत कम थे।''[14] इस विवाद ने 1837 ई. में देशी भाषाओं एवं राजभाषा के प्रश्न को और अधिक बढ़ावा दिया। इससे उर्दू मुसलमानों में काफी लोकप्रिय होने लगी और 19वीं सदी के उत्तरार्द्ध से उर्दू भाषा को लेकर भी काफी

बहसें होने लगी।

उन्नीसवीं सदी के पूर्वार्द्ध से जो विवाद प्रारम्भ हुआ, वह उर्दू और हिन्दी विषयक हो गया। इस समय फारसी तो अपनी जगह पर बनी हुई थी। जॉन गिलक्राइस्ट ने फोर्ट विलियम कॉलेज में उर्दू और हिन्दी को संयुक्त कर 'हिन्दुस्तानी' रूप देने से रोक नहीं सका। सही मायने में गिलक्राइस्ट फारसी के पक्ष में खड़े होते दिखते हैं। इसीलिए फोर्ट विलियम कॉलेज में फारसी भाषा को अधिक सुविधाएं दी जाती थीं। यह फारसी भाषा अंग्रेजों के लिए भी राजनीतिक जमीन तैयार कर रही थी। लक्ष्मीसागर वार्ष्णेय इसे राजनीतिक समझदारी मानते हैं, ''जहाँ तक देशी भाषाओं के ज्ञान से सम्बन्ध था, कम्पनी फारसी भाषा का प्रयोग करती थी। अच्छी तरह या कामचलाऊ फारसी जानने वाले कर्मचारियों पर अधिकारीगण विशेष कृपा रखते थे। राजनीतिक कारणों से कम्पनी ने 1837 तक फारसी भाषा का प्रयोग बराबर बनाये रखा।''[15] इस प्रकार सत्ताओं का खेल समाज सेवा, शिक्षा इत्यादि पर कम तथा राजनीति करना ज्यादा होता है। सत्ता हमेशा उसी कार्य को करना पसन्द करती है जिससे उसे राजनीतिक लाभ मिलता रहे।

लॉर्ड वेलेजली 1798 ई. में कोलकाता पहुंचता है और बार्थविक गिलक्राइस्ट के कार्य को देखकर बहुत खुश होता है। गिलक्राइस्ट 1783 ई. में कम्पनी के अधीन सहायक सर्जन नियुक्त होकर भारत आया था। उस समय गिलक्राइस्ट महोदय ने देखा कि कम्पनी जिस फारसी भाषा का उपयोग राजकाज में कर रही है, वह अब देश की भाषा नहीं रह गयी। इसका कारण दिल्ली दरबार की अवनति है। शायद यही कारण रहा होगा कि गिलक्राइस्ट हिन्दुस्तानी भाषा पर जोर देने लगते हैं और अपना अध्ययन हिन्दुस्तानी की तरफ मोड़ लेते हैं। डॉ. लक्ष्मीसागर वार्ष्णेय ने वेलेजली, गिलक्राइस्ट और फोर्ट विलियम कॉलेज पर गहन अध्ययन किया है। उन्होंने फोर्ट विलियम कॉलेज की स्थापना के पूर्व गिलक्राइस्ट के हिन्दुस्तानी योगदान पर लिखा है, ''यह कहना अनुपयुक्त न होगा कि कम्पनी के कर्मचारियों में हिन्दुस्तानी का प्रचार करने के लिए जितनी परिश्रम गिलक्राइस्ट ने किया उतना और किसी ने न किया था। इस कार्य में उन्हें जितने शारीरिक एवं आर्थिक कष्ट उठाने पड़े, उनका उन्होंने स्वयं वर्णन किया है।''[15] वार्ष्णेय जी जॉन गिलक्राइस्ट और राजभाषा नीति के परिवर्तित रूप की ओर संकेत करते हैं। वे गिलक्राइस्ट को हिन्दुस्तानी भाषा के प्रचार-प्रसार का अगुवा मानते हैं।

उन्नीसवीं सदी के प्रारम्भ में ही फोर्ट विलियम कॉलेज, कोलकाता (1800 ई.) की स्थापना होती है। पद्म सिंह शर्मा ने 'हिन्दुस्तानी भाषा' के नाणकरण की पृष्ठभूमि को यहीं से प्रारम्भ होते माना है, ''इस नाम पर सरकारी सनद की बाकायदा छाप उस समय लगी जब (सन् 1803 ई.) कलकत्ते के फोर्ट विलियम में, डॉक्टर जॉन गिलक्राइस्ट की देख-रेख में, ईस्ट इंडिया कम्पनी के यूरोपियन कर्मचारियों को देशी भाषा सिखाने के लिए एक महकमा कायम किया गया और हिन्दू मुसलमान विद्वानों से उर्दू-हिन्दी में पुस्तकें लिखवायी गयी।''[17] इस प्रकार राजकाज की भाषा नीति को प्रभावित करने वाले व्यक्तियों में गिलक्राइस्ट का महत्वपूर्ण हाथ था। गिलक्राइस्ट ने अनेक ऐसी किताबें लिखीं, जिसमें हिन्दी-उर्दू को हिन्दुस्तानी नाम दिया गया है। गिलक्राइस्ट की मंशा साफ दिखती है कि वे किस प्रकार की भाषा नीति लागू करना चाहते थे। इस कार्य हेतु गिलक्राइस्ट ने हिन्दी-उर्दू दोनों भाषाओं के लिए पंडित लल्लूलाल जी एवं मुसलमान मीर 'अम्मन' देहलवी जैसे विद्वानों को कॉलेज में नौकरी दी। और हिन्दुस्तानी पर कार्य करने के लिए अनुरोध किया। स्वयं गिलक्राइस्ट ने भी हिन्दुस्तानी भाषा के सन्दर्भ में सोलह पुस्तकें लिखीं, उनमें उन्होंने प्राय: भाषा के लिए हिन्दुस्तानी शब्द का ही व्यवहार किया। हिन्दुस्तानी भाषा में उनकी दो पुस्तकें महत्वपूर्ण हैं- 'अंगरेजी-हिन्दुस्तानी डिक्शनरी' और 'हिन्दुस्तानी भाषा का व्याकरण'।

गिलक्राइस्ट महोदय ने भले ही हिन्दुस्तानी भाषा पर जोर दिया हो लेकिन कॉलेज में फारसी भाषा को इनसे अधिक महत्व दिया जा रहा था। फोर्ट विलियम कॉलेज में फारसी पढ़ने वाले कर्मचारियों को जो बंगाल में नियुक्त किये गये थे, वेतन से तीन रुपये अलग से मासिक देने का गिलक्राइस्ट ने प्रावधान किया था। इस प्रकरण के संज्ञान में आने पर लॉर्ड वेलेजली नाराज हुआ और हिन्दुस्तानी भाषा पर विशेष दृष्टि रखने की हिदायत दी। बढ़े हुए अतिरिक्त वेतन देने का कारण था कि कर्मचारी देशी भाषाओं, विशेष रूप से फारसी भाषा का अध्ययन करें। परन्तु शिक्षा का माध्यम देशी भाषा या फारसी भाषा इन दोनों में से कोई एक हो सकती थी। मुंशी लोग अंग्रेजी नहीं जानते थे और कर्मचारी देशी या फारसी भाषा से अनभिज्ञ थे। अभी तक अंग्रेजी भाषा या रोमन लिपि का कोई प्रमाण नहीं था। शीतांशु लिखते हैं, ''अगर फोर्ट विलियम कॉलेज के पुस्तकालय की मुहर में बांग्ला, देवनागरी और

फारसी लिपियों को महत्व दिया गया, वह अंग्रेजी भाषा या रोमन लिपि को नहीं मिला। साथ ही कम्पनी फारसी को इतने सालों तक अपनाए रही तो इसे प्राच्यवाद का प्रभाव भी समझा जाना चाहिए।''[8] इस प्रकार शीतांशु फारसी भाषा को अंग्रेजों द्वारा राजभाषा के रूप में स्वीकारने को प्राच्य विद्या का प्रभाव मानते हैं। हमें यह ज्ञात होना चाहिए कि फोर्ट विलियम कॉलेज में जो मुहर स्वीकार की गयी थी, उसमें अंग्रेजों की भाषा अंग्रेजी का कहीं भी निशान नहीं था।

फोर्ट विलियम कॉलेज खोलने और उसमें अनेक भाषाओं का ज्ञान अर्जित करने का जो प्रावधान किया गया, उसमें फारसी भाषा और लिपि को 1837 ई. तक अत्यधिक महत्व दिया गया। फोर्ट विलियम कॉलेज की स्थापना के बाद भारत की भाषा-नीति में अंग्रेजों के द्वारा जो परिवर्तन किया गया, उसका सूत्रपात 1813 ई. के चार्टर एक्ट से हुआ माना जाता है। कुछ विद्वान इस चार्टर से भारत में अंग्रेजी शिक्षा की स्थापना मानने के पक्षधर है। इस चार्टर में पहली बार अंग्रेजों के द्वारा भारत में शिक्षा के विकास और साहित्यिक रूचि में प्रोत्साहन देने के लिए एक लाख रुपये की व्यवस्था की गई थी। इस चार्टर के पूर्व 1791 ई. में बनारस में 'संस्कृत कॉलेज' की स्थापना हो चुकी थी। जिसमें प्राच्य शिक्षा का प्रावधान शामिल था। इसी आधार पर अंग्रेजों की मंशा अंग्रेजी शिक्षा, भाषा और साहित्य के लिए कॉलेज स्थापना पर थी। 1813 ई. का चार्टर अंग्रेजी भाषा और साहित्य के साथ-साथ देशी भाषाओं को भी प्रभावित किया। यह चार्टर ईसाई मिशनरियों को भारत में प्रवेश और स्थायित्व को लेकर खुली छूट देता है। मिशनियों को जब इस तरह की छूट प्रदान की गई तो उन्होंने अपने धर्म प्रचार के लिए देशी भाषाओं का सहारा लिया। इससे भारत की भाषा-नीति में थोड़ा परिवर्तन दिखायी दिया।

इन ईसाई मिशनरियों के मुख्य कार्य पर टिप्पणी करते हुए रणशुभे का कथन है, ''लक्ष्य एक ही था धर्म प्रसार। इनके सामने महत्वपूर्ण प्रश्न था कि यहाँ के लोगों से सम्पर्क किस भाषा सें करें? और यह काम पूरी निष्ठा से इन मिशनरियों ने किया। तमिल, मराठी, बंगाली, हिन्दी तथा अन्य भारतीय भाषाएँ, आदिवासियों की भाषाएँ इन लोगों ने सीख ली। इन भाषाओं में बाइबिल का अनुवाद किया।''[9] इन मिशनरियों में कुछ ने तो तत्काल अपने धर्म प्रसार के लिए बाइबिल का अनुवाद प्रारम्भ किया तो कुछ ने शिक्षण संस्थाएं और अस्पताल भी खोले। उन्नीसवीं शताब्दी के पूर्वार्द्ध में यह देखा जाता है कि भारतीय शिक्षा के मसले पर दो मत हो गये थे। इनमें अंग्रेज और भारतीय दोनों शामिल थे। यह नहीं कहा जा सकता कि प्राच्य और आंग्ल शिक्षा के दो पक्ष, केवल भारतीयों में ही थे। अंग्रेजी गुट में भी प्राचीन भारतीय शिक्षा और ब्रिटिश अंग्रेजी शिक्षा के दो पक्ष थे। इनमें एक पक्ष प्राचीन भारतीय भाषा और साहित्य की शिक्षा देने तथा दूसरा केवल अंग्रेजी शिक्षा या पाश्चात्य शिक्षा का पक्षधर था।

भारत में अंग्रेजी शासन काल में भाषा के प्रश्न को लेकर बहुत खेल खेले गये। इतिहासकार इस विवाद को स्पष्ट करने में लगे हैं कि 1813 ई. के चार्टर में एक लाख रुपये भारतीय शिक्षा पर 1822-23 ई. तक खर्च क्यों नहीं किये जा सके? यह विवाद लॉर्ड हेस्टिंग्स के समय 1823 ई. में एक 'जन-शिक्षा-समिति' गठन के पश्चात् और बढ़ गया। इस समिति से ही प्राच्य और पाश्चात्य शिक्षा का विवाद खड़ा हो गया। इस विवाद के पश्चात् अंग्रेजों की राजकाज की भाषा-नीति प्रभावित होती दिखती है। आगे चलकर लॉर्ड मैकाले के मिनट्स से भारत में अंग्रेजी शिक्षा लागू होती है। इस पर भी विवाद शुरू हो जाता है। लेकिन उसका प्रभाव राजकाज की भाषा पर स्पष्ट दिखाई देने लगता है। लॉर्ड वेलेजली के आदेश क्रम में क्षेत्र विशेष के अनुसार राज्य में राजकाज की भाषा को महत्व दिया गया। उन्होंने सिविल सर्विस के कर्मचारियों को आदेश दिया कि राज्य के अनुसार भाषा-सम्बन्धी ज्ञान को वरीयता दी जानी चाहिए। इसके लिए कर्मचारियों की जिस राज्य में नागरिक सेवा होगी, उस राज्य की भाषा को सीखना अनिवार्य कर दिया गया। वार्ष्णेय जी लिखते हैं, ''बंगाल, बिहार, उड़ीसा या बनारस में न्याय विभाग के अफसरों के लिए हिन्दुस्तानी और फारसी भाषाएँ बंगाल या उड़ीसा प्रान्त के मालगुजारी इकट्ठा करने वाले कलक्टरों या चुंगी के या व्यापार के, या अफीम के एजेंटों के लिए हिन्दुस्तानी भाषा।''[10] उन्नीसवीं शताब्दी के पूर्वार्द्ध तक अनेक कॉलेज खुले। इसमें संस्कृत कॉलेज, बनारस (1791) में खुला जिसमें 1830 ई. में अंग्रेजी विभाग खुला। हिन्दू कॉलेज, कलकत्ता (1816), आगरा कॉलेज (1823), दिल्ली कॉलेज (1825) में भी अंग्रेजी भाषा के अध्ययन एवं अध्यापन की व्यवस्था की गयी।

हमें यह ध्यान देना होगा कि अंग्रेजी भाषा और पाश्चात्य ज्ञान की शुरूआत यहीं से हो गयी थी, जिसे लॉर्ड मैकाले ने 1835 ई. में स्थापित कर दिया। हालांकि तमाम विवादों के बाद 1837 ई. में फिर से देशी भाषाओं को महत्व मिलने

लगा। अंग्रेजी को शिक्षा का माध्यम एवं राजकाज में प्रयोग से भारतीय जनता में कठिनाइयां महसूस होने लगीं। जो कर्मचारी कार्यालयों, शिक्षालयों और कचहरियों में काम करते थे उन्हें अंग्रेजी का कोई भी ज्ञान नहीं था। न्याय की भाषा अंग्रेजी और जनता की भाषा फारसी और देशी रही, जिसे सभी का समन्वय नहीं बन पा रहा था। 1835-36 में सरकार ने न्यायिक अधिकारियों से फारसी को अदालतों से हटाने के सम्बन्ध में पूछताछ की। इस पर उसे हटाकर देशी भाषाओं का समर्थन मिला। इस प्रकार न्याय व्यवस्था को ध्यान में रखते हुए कोर्ट ऑफ डॉयरेक्टर्स ने फारसी और अंग्रेजी के स्थान पर देशी भाषा लागू करने का समर्थन किया। ऐसी परिस्थितियों में फारसी 1837 ई. तक अंग्रेजों की राजभाषा बनी रही। उस समय ऐसे कई विवाद हुए जिनका निपटारा भी हुआ लेकिन अंग्रेजी राजभाषा घोषित नहीं हो सकी और फारसी चलती रही। फारसी भी भारतीय जनता की समझ से बाहर थी लेकिन मुगालों के समय से राजभाषा होने के कारण 1837 ई. तक चलती रही।

इन्हीं परिस्थितियों में लार्ड विलियम बैंटिक ने अंग्रेजी भाषा को अधिकार से लागू किया। लेकिन 1837 ई. में बैटिंक ने देखा कि हमारी नीतियों से भारतीयों में कोई जागरूकता और विकास नहीं हुआ है इसलिए उसने अदालत की भाषा में थोड़ी नरमी बरती। बी.एम. दिवाकर के अनुसार, ''अदालतों में दूसरा सुधार भाषा का था। बैटिंक ने दावा करने वाले को यह सुविधा प्रदान की कि वह फारसी छोड़कर अपनी बोलचाल की भाषा में मुकदमा पेश कर सकता था। अब तक सब लोग फारसी का ही प्रयोग करते थे।''[11] 1837 ई. के बाद जब फारसी को अदालतों से हटा दिया गया और देशी भाषाओं में फरियाद देने को कहा गया तब भी अंग्रेजी शिक्षा, कार्यालयों और अदालतों में बनी रही।

न्याय व्यवस्था को ध्यान में रखते हुए कोर्ट ऑफ डायरेक्टर्स ने फारसी और अंगेजी के स्थान पर देशी भाषा लागू करने का समर्थन किया था। ईसाई मिशनरियों ने भी हिन्दी को राजभाषा बनाने का लगातार प्रयास किया। वे भी चाहते थे कि कार्यालयों और कचहरियों की भाषा भी देशी होनी चाहिए। इन देशी भाषाओं में सबसे प्रचलित भाषा खड़ी बोली हिन्दी है। 1835 ई. के बाद सरकार ने भारतीयों और मिशनरियों के प्रयत्न से राजभाषा 'हिन्दी' को बनाया लेकिन मुसलमानों के घोर विरोध के कारण हिन्दी को राजभाषा के पद से हटाना पड़ा। तत्पश्चात् उसके स्थान पर उर्दू राजभाषा घोषित की गई। इस सन्दर्भ में जाधव जी ने लिखा है, ''ईसाई मिशनरियों ने सदैव हिन्दी माध्यम द्वारा विशेष रूप से धर्म प्रचार किया। अत: सन् 1836 ई. में सरकार ने भारतवासियों की सुविधा के लिए दफ्तरों की भाषा हिन्दी कर दी, परन्तु यह सुविधा चिरस्थायी न रह सकी। मुसलमानों के घोर परिश्रम के फलस्वरूप सरकार ने बिना समुचित विचार किये एक वर्ष पश्चात् सन् 1837 ई. में दफ्तरों की भाषा उर्दू कर दी।''[12]

निष्कर्षत: हम उन्नीसवीं शताब्दी के पूर्वार्द्ध में राजकाज की भाषानीति में खूब विवाद देखते हैं। इसका कारण सत्ता और गवर्नर जनरल के बदलने की भी स्थिति शामिल है। जिस अंग्रेज शासक ने भारत में अपनी सत्ता सम्भाली उसने अपने राजनीतिक लाभ के अनुसार राजकाज की भाषा को बदलना चाहा। इस पूरे घटनाक्रम में भारतीय जनता पीसती रही। भारतीयों ने सैकड़ों वर्षों तक फारसी का दर्द झेला। उसके पश्चात् अंग्रेजी थोपी गई उसका भी दर्द झेला। ऐसे ही आज हम अंग्रेजी भाषा से उबर नहीं पाये हैं बल्कि उसे अपने हृदय तल में बैठा लिया है। उन्नीसवीं शताब्दी में अंग्रेजी, फारसी, हिन्दी और देशी भाषाओं को लेकर जो उलझन थी आज वह कम हो गई है। हिन्दी और उर्दू का विवाद उन्नीसवीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में खूब देखने को मिला। आज इसकी स्थिति को हम भली-भाँति देख रहे हैं। इस प्रकार उन्नीसवीं सदी के पूर्वार्द्ध में भाषा-विवाद, हिन्दी और राजकाज की भाषा-नीति में सामंजस्य नहीं रहा। अंग्रेजों की भाषा-नीति में सबसे अहम बदलाव लॉर्ड विलियम बैंटिंक के शासन काल में लाये गये मैकाले के 'मिनिट्स' से होता है। फारसी के हटाये जाने के बाद और (1854 ई.) के 'वुड्स डिस्पैच' के समय तक किसी प्रकार की भाषा-नीति पर कोई ठोस प्रमाण नहीं मिला है। इसके बीच में उर्दू, अंग्रेजी, हिन्दी और देशी भाषाओं का प्रयोग होना माना जाता है। इस अध्ययन के दौरान यह पाया गया कि उन्नीसवीं शताब्दी के पूर्वार्द्ध में अंग्रेजों की भाषा नीति फारसी, उर्दू, हिन्दी, अंग्रेजी और देशी भाषाओं के बीच में उलझी रही। उस समय अंग्रेजों को यह निर्णय कर पाना कठिन हो गया था कि किस भाषा को पूर्ण रूप से राजकाज के लिए स्वीकार किया जाये।

सहायक आचार्य
बुन्देलखण्ड विश्वविद्यालय, झाँसी
ई-मेल : bkanaujiya9@gmail.com

सन्दर्भ सूची

1. भारत की भाषाएँ और भाषा सम्बन्धी समस्यायें : सुनीति कुमार चातुर्ज्या, पृ. 2
2. उर्दू साहित्य का आलोचनात्मक इतिहास : ऐहतेशाम हुसैन, पृ. 41
3. 19वीं शताब्दी का नवजागरण और हिन्दी साहित्य : सूर्यनारायण रणशुभे, पृ. 67
4. रस्साकसी; (उन्नीसवीं सदी का नवजागरण और पश्चिमोत्तर प्रान्त), वीर भारत तलवार, पृ. 253
5. फोर्ट विलियम कॉलेज (1800-1854 ई.) : लक्ष्मीसागर वार्ष्णेय, पृ. 2
6. फोर्ट विलियम कॉलेज (1800-1854 ई.) : लक्ष्मीसागर वार्ष्णेय, पृ. 03
7. हिन्दी, उर्दू और हिन्दुस्तानी : पद्म सिंह शर्मा, पृ. 27
8. कम्पनी राज्य और हिन्दी, (सन्दर्भ फोर्ट विलियम कॉलेज) : शीतांशु, पृ. 92
9. 19वीं सदी का नवजागरण और हिन्दी साहित्य : सूर्यनारायण रणशुभे, पृ. 17
10. फोर्ट विलियम कॉलेज (1800-1894 ई.) : लक्ष्मीसागर वार्ष्णेय, पृ. 7
11. भारत में कम्पनी राज के कारनामे (1613-1857) : बी. एम. दिवाकर, पृ. 416
12. हिन्दी भाषा और साहित्य के अध्ययन में ईसाई मिशनरियों का योगदान : पंजाब राव रामराव जाधव, पृ. 21

शोध-पत्र

डॉ. सुनीता दुरंगल

केदारनाथ सिंह की कविता का अनुभव संसार और उसका सौन्दर्य

मानवीय सभ्यता संस्कृति के आदि समय से ही नजर सृष्टि के उन पक्षों की ओर जाती है जो सत्य है, जो सुन्दर है और शिव भी है अर्थात् महसूस की प्रणालियाँ हरेक दौर में इंसान को कई तरह के अनुभवों से जोड़ती रही हैं, वह जब जंगलों में भटक रहा था तब भी प्रकृति के सौन्दर्य व विनाश की कहानी ने उसे अपनी ओर आकर्षित किया और भटकते-भटकते उसे एक कहानी मिली 'राम की कहानी' जो वाल्मीकि ने क्रौच वध के दर्द की अनुभूति में जीकर गढ़ दी। इसी तरह 'व्यास' ने उस यथार्थ को 'महाभारत' में जिया व रचा जो अपनों को अपनों के खिलाफ छल, कपट, षडयंत्रों की दुनिया की ओर धकेल रहा था। रामकथा वनवास में जा रूकी और महाभारत विनाश में। यहाँ रचनाकार ने जो जिया व भोगा वहीं रच भी दिया। मानवीय सभ्यता के ये आदि ग्रंथ न जाने कितने दर्द को खुद में समाए हुए हैं जो सत्य था इसी सत्य की कहानी युगों से न जाने कितने रचनाकारों ने रची व जी हैं। यदि केदारनाथ सिंह की कविता की बात करें तो जो है जैसा है वैसा ही को रचती उनकी कविता हर उस अनुभव को बयां करती है जो अनुभूति की सत्यता व भोगे गए यथार्थ का हिस्सा है।

केदार जी ने अपनी कविता में जिस अनुभव संसार को गढ़ा है वह कभी उन्हें प्रकृति के नजदीक ले जाता है तो कभी दूर बसे उनके गाँव की ओर-जहाँ एक अजब सा सुकून है जहाँ वे चले आते हैं हर बार और रच देते हैं कुछ ऐसा कि लगने लगता है, उनके यहाँ जो भोजपुरी की क्रियाएँ हैं वे खेतों से आई हैं, संज्ञाएँ पगडंडियों से और क्रौंधती बिजलियाँ, टपकते महुए के स्वर ध्वनियों को रचते हैं और उनकी कविता के शब्द दाने हो जाते हैं। यहाँ क्रियाएँ, ध्वनियाँ, संज्ञा और शब्द सभी गाँव में बसे उनके अनुभव का हिस्सा बन कर उन्हें कविता का मर्म समझा जाते हैं। वे बचा लेना चाहते हैं हर उस अनुभव को जो अपने असीम सौन्दर्य से किसी को भी अपनी ओर आकर्षित कर लेता है। 'अकाल में सारस', 'जमीन पक रही है', 'यहाँ से देखो', 'अभी बिल्कुल अभी', 'आँसू का वजन', 'ताल्सताय और सायकिल', 'उत्तर कबीर और अन्य कविताएं' सभी कविता संग्रहों में केदार जी ने जिस लय स्वर में अनुभवों को गढ़ा है वे उन्हें उनके अपने ही समय से अलग एक नई पहचान सौंप रहे हैं।

अपने गाँव से केदार जी को एक अलग ही तरह का लगाव ताउम्र रहा है, वे शहर में रहकर भी कभी नहीं भूले अपने प्यारे से गाँव को, उनकी कविताओं में बसे नजर आते हैं, पडरौना, बलिया, चकिया बस्ती और तो और बनारस, गोरखपुर, आजमगढ़ है जब भी जाते कुछ न कुछ अनुभव अपनी कविताओं में रचकर साँझा करते रहे। शहरों की विडंबनाओं, जटिलताओं, उलझनों से थक कर वे लौट जाते, गर्मियों की छुट्टियों में अपने गाँव में जो उन्हें सुकून दिया करते, जिसकी सौंधी-सौंधी मिट्टी की गँध उन्हें संपूर्णता सौंपती रही है। उस गाँव में बसी है, हल्दी की गंध, भुने चनों की महक, चूल्हे पर पकती लाल-लाल सुर्ख रोटियों की महक, आलुओं का भुजे जाने, घास की मदहोश करती गंध, पके हुए टपकते महुआ की महक, तंबाकू के खेतों से आती तंबई सी महक, पुआल का गंध, सभी उन्हें हर बार अपनी ओर बुलाते रहे हैं जो सुख वे शहर में आकर नहीं खोज पाए उसे वे बेहद आसानी से अपने गाँव में तलाश लेते हैं। कभी दूर तक पीछा करते हैं वे

आसमा में उड़ते बगुलों का, आलसाई दुपहरिया में वे मीलों दूर तक चले जाते हैं। वे शहर जो दूरियों के एहसासों से भरे हैं वहीं केदार जी की कविता में बसा गाँव उन्हें हरेक के बेहद करीब ले जाता है। ये अनुभव का एक अलग ही अंदाज था, जिसे केदार जी अपनी कविता में रच रहे थे। जो अकेलापन, खालीपन, शून्यता, अजनबीपन शहरों में बसा नजर आता है वह केदार जी की कविता के गाँव में कहीं नहीं नजर आता। यहाँ उन्हें हर कोई भला सा और अपना ही महसूस होता है। गाँव की सांझ भी उन्हें अपनी सी महसूस होती है। वे गाते हैं-

'आज शाम
सीधे धान की मंजरियों तक चलें
हम सीधे वहीं पहुँचे
जहाँ चावल
दाना बनने से पहले
सुगंध की पीड़ा से छटपटा रहा हो।

(एक छोटा सा अनुरोध - पृष्ठ 12, अकाल में सारस)

गाँव का हर एक मामूली सा मामूली अनुभव वे अपनी कविता में रच देते हैं। गाँव का सरकारी स्कूल और छुट्टी के बाद उसके आहते में पतंग उड़ाते कुछ बच्चे अचानक ही उनके मन की एक बड़ी सी जिज्ञासा का हल अपनी मासूमियत से पल भर में कर देते हैं- जब वे उनसे सवाल करते हैं-वे पूछते हैं-

हिमालय किधर है। मैंने उस बच्चे से पूछा
जो स्कूल के बाहर
पतंग उड़ा रहा था....।
उधर-उधर उसने कहा,
जिधर उनकी पतंग भागी जा रही थी।

(हिमालय, पृष्ठ 42, जमीन पक रही है)

वे गढ़ते हैं उस ख्याल को जो उन्हें उनके प्यारे से गाँव से कभी दूर नहीं कर पाया। गाँव में यदि डाकिए का इंतजार हफ्तों पहले किया जाने लगता है वहीं शहर में भी उन्हें उसका इंतजार रहता है। शहरों का खालीपन अब गांव में भी फैलता जा रहा है जिसे वे गांव से आई एक चिट्ठी में तलाशते हैं उस चिट्ठी में न तो दिन लिखा है, न तारीख, न सिरनामा बस ऊपर कोने में / एक बूंद की तरह/ टँका था- गाँव का नाम चिकिया - शहर की व्यस्तता में भी वे उसी गांव को तलाश रहे हैं जिसे वे बरसों पहले छोड़ आये पर हर बार लौट जाते हैं अपने गांव उस गांव में जहाँ है, मंगल, मांझी, टमाटर बेचने वाली बुढ़िया, बंसी मल्लाह, हल चलाने वाला लालमोहर, भेड़ों वाला झपरी, बूढ़ा चौकीदार, सनझू हज्जाम, ये सभी उन्हें बेहद प्रिय रहे हैं। उत्तर प्रदेश और बिहार की सीमा पर बसा है एक गाँव-मांझी उसी पर बना है एक पुल उस पुल को वे जब-जब देखते हैं तो कहते हैं-

'एक गहरी बेचैनी के बाद
मैंने कई बार सोचा है मांझी के पुल में
कहाँ है मांझी? कहाँ है उसकी नाव?
क्या तुम ठीक उसी जगह उंगली रख सकते हो
जहाँ हर पुल में छिपी रहती है एक नाव?

('मांझी का पुल', पृष्ठ 32, अकाल में सारस)

सिर्फ ये 'माँझी का पुल' ही नहीं केदार जी के अनुभव संसार का हिस्सा है- गाँव के रीति-रिवाज, रस्में, परंपराएँ, वहाँ की मान्यताएँ, लोकगीत, लोक धुनें, लोक में रचे-बसे विश्वास, जिन्हें वे शहरों में कहीं नहीं खोज पाए। महसूस करने के क्रम में केदार जी सहेज लेते हैं- प्रकृति, प्रेम, सौन्दर्य को वे खोज लेते हैं प्रकृति में एक सुकून जो शायद ही आज का मानव इतनी शिद्दत से महसूस कर पाए। प्रकृति में होने वाले हर एक परिवर्तन हर एक स्वर को वे महसूस करते हैं और जी लेते हैं उसे जो आज की व्यस्त जिंदगी में इंसान को दूर कर रहा है। बेहद अनछुए पल हैं जो केदार जी के अनुभव का हिस्सा हुए हैं। खेत-खलिहान, ठिठुरन भरी रातें, दूर तक चरती गायें, सुनसान दिन, थकी सी दुपहरिया, अलसाई सांझ, महुआ वनों में टपकते महुआ, स्यारों की आवाजें, झरबेरियों की कँटीली झाड़ियाँ, काँओं की काँव-काँव कच्ची पगडंडियों अथाह फैला सन्नाटा, दूर तक फैले धान के खेत ठहरी सी दुपहरिया, सूखी हुई जलघासें, बैराई सी बहती हवा, लहराते सरसों के खेत, अरावली की पहाडियाँ, टिमटिमाते तारे, गेहुँअन साँप, हल्दी सी सांझ, सरसों की झुरझुराहटें रेत पर फैली दुपहरिया, सर्द रातें, धुंध की चुप्पियाँ, सभी में केदार जी जीवन जीने की एक अजब-सी लालसा खोज लेते हैं वे जी लेते हैं। अचानक ही जब उनकी नजर घास की ओर जाती है तो वह उन्हें जिप्सी सी जान पड़ती है वे गाते हैं-

'घास परेशान है। इन दिनों
आने दो उसे अगर आती है।
वह दुनिया के तमाम शहरों से खदेड़ी हुई जिप्सी है।
वह तुम्हारे शहर की धूल में अपना
खोया हुआ नाम और पता खोजती है।'

(घास, पृष्ठ 110, कवि ने कहा)

यह सोच हर किसी को सोचने को बाध्य करती है- वास्तव में क्या है अस्तित्व घास का और यदि घास का पर्याय खोजे तो इंसान ही नजर आता है जो सदियों से सभ्यता के आरंभिक दौर में अपना वजूद तलाशते हुए न जाने कितने नगरों, गाँवों, शहरों में बसा होगा वैसे ही जैसे रौंधी जाकर अपने होने को बचा ही लेती है घास/ केदार जी के हर कविता संग्रह में अनुभवों का संसार हर बार बदला है विषय भले ही कहीं-कहीं एक से लगते हैं लेकिन अनुभवों की अनुगूँजें हरेक संग्रह में पृथक नजर आती है। 'अकाल में सारस', 'जमीन पक रही है', 'यहाँ से देखो', 'आँसू का वजन', 'अभी बिल्कुल अभी', 'उत्तर कबीर और अन्य कविताएँ', 'ताल्सताय और सायकिल' जैसे हर कविता संग्रह में, एक अजब सा सौन्दर्य, वैभव ऐश्वर्य केदार जी के यहाँ नजर आता है।

वे महसूस लेते हैं ओस की गंध को, पेड़ों की चुप्पियों को जमीन की महक को जमीन के पकने को, दानों के पकने को, पकती हुई रोटियों की गंध को, वे निमंत्रण देते हैं चूल्हे पर पकती रोटियों तक चलने का - वे कहते हैं- मैं सिर्फ आपको आमंत्रित करूँगा। कि आप आएँ और मेरे साथ सीधे / उस आग तक चलें / उस चुल्हे तक जहाँ वह पक रही है। एक अद्‌भुत ताप और गरिमा के साथ। (रोटी- जमीन पक रही है, पृष्ठ 29)

वे गुनगुनाते हैं- वर्षा की सिप्, सिप्, सिप्, सिप् को, जब बारिश शुरू होती हैं कैसे कबूतर उड़ना बंद कर देते हैं / मवेशी भूल जाते हैं चरने की दिशाओं को और शेष रहती है। वर्षा की गुनगुनाहटें आदमी और पेड़। यही है वह अनुभूति का सच जो केदार जी की कविता की समकालीन रचनाकारों से बेहर अलग करता है। केदार जी की कविता में सुनाई देती है- चिड़ियों की चहचहाटें, गिलहरियों की फुदकन, तेज होती बरखा की बौछारों की गुनगुनाहटें, सारसों के झुंडों की उड़ान की छपछपहाटें, घने कोहरे की सरसराहटों को और तो और वे अपने भीतर के सन्नाटे को भी कुछ इस तरह स्वर देते हैं- 'मैं जा रही हूँ - उसने कहा / जाओ-मैंने उत्तर दिया। यह जानते हुए कि जाना। हिन्दी की सबसे खौफनाक क्रिया है। (जाना, पृष्ठ 10, जमीन पक रही है)

अनुभूति की सत्यता का केदार जी की कविता में कोई तोड़ नहीं है- वे जब भी रचते हैं तो अनुभूति गहराईयों तक दिल को छू जाती है चाहे वह प्यार के नाजुक क्षण हो या प्यार का बेबाक इजहार- वे गाते हैं -

उसका हाथ
अपने हाथ में लेते हुए मैंने सोचा। दुनिया को
हाथ की तरह गर्म और सुंदर होना चाहिए।
(हाथ, पृष्ठ 24, जमीन पक रही है)

वे यदि मिलन के गीत गाते हैं तो वे अलगाव को भी बेहद सहज होकर स्वीकार करते हैं। वे गाते हैं-

'तुम आयीं
जैसे छीमियों में धीरे-धीरे आता है रस
और अंत में
जैसे हवा पकाती है गेहूँ के खेतों को
तुमने मुझे पकाया
और इस तरह
जैसे दाने अलगाये जाते हैं भूसे से
तुमने खुद से अलगाया।'
(तुम आयी, पृष्ठ 46, तीसरा सप्तक)

प्यार, सौन्दर्य, अलगाव के हर भाव को रचते केदार जी कहीं खुद ही प्यार की कुछ नई स्थापनाएँ कर रहे हैं। वे यकीन करते हैं प्यार में लेकिन बदलने के क्रम में अब काफी कुछ बदल गया है और वे महसूसते हैं। कुछ इस तरह-

'सच तो यह है कि यहाँ
या कहीं भी फर्क नहीं पड़ता
तुमने जहाँ लिखा है 'प्यार'
वहाँ लिख दो 'सड़क'
फर्क नहीं पड़ता मेरे युग का मुहावरा है। फर्क नहीं पड़ता।'
('प्यार', पृष्ठ 24, जमीन पक रही है।)

इतना ही नहीं केदार जी की कविता में जहाँ अनुभूति की सत्यता को ज्यों का त्यों बयाँ करते हैं वहीं इनकी कविताओं में - बिंब प्रतीक शब्द शिल्प के धरातल पर काफी कुछ परंपरा से अलग है। बिंबों का संसार इनकी कविता में अपनी एक अलग व अहम् भूमिका निभाता रहा है। रोजमर्रा की जिंदगी से जुड़े असंख्य बिंब इनकी कविताओं में नजर आते हैं, जहाँ दृश्य श्रव्य घ्राण स्पर्श जैसे ही बिंबों को इनके समकालीन रचनाकारों ने अपनी कविताओं में गढ़ा है वहीं केदार जी के यहाँ - स्वर, ध्वनि, शब्द, प्रतीक, भाषा में भी बिंबों की अनुगूँजें सुनाई पड़ती हैं। आकाश में कौंधती बिजलियों की गरजना, बांस वनों में बांसों की सरसराहटें, सरसों के खेतों में सारसों से आँख मिचौनी खेलती हवा से जो ध्वनि उत्पन्न होती है वह चर-चर-चर करती अपने होने को एक बेहद मासूम से

बिंब से जोड़ देती है। बतखों, सारसों, कौओं की उड़ान में केदार जी एक अनोखे स्वर बिंब को तलाश लेते हैं। पत्तियों पर गिरती बरखा की बूँदों की सिप्-सिप्-सिप् जहाँ श्रव्य बिंब को उकेर रही है वहाँ दृश्य बिंब के रूप में बारिश में भीगते जूतों को देख वे गढ़ते हैं कुछ इस तरह का बिंब की न सिर्फ बारिश महत्व की हुई, अपितु जूते अपने पूरे वजूद के साथ नई कविता में, खलबली मचा देते हैं-'जूते। बारिश में भीगकर/एक अजब ढंग से खुबसूरत लग रहे थे। (बारिश, पृष्ठ 24, अकाल में सारस)

रोजमर्रा की जिंदगी में इस्तेमाल 'आलू' को वे कुछ इस कदर परखते हैं कि वे आलू अपने होने को और अधिक महत्व का बना देते हैं। वे कहते हैं -

'वह बाजार में ले जाता है आग
और बाजार जब सुलगने लगता है।
वह बोरों के अंदर उछलना शुरू करता है।'

(जाड़ों के शुरू में आलू, पृष्ठ 32, अभी बिल्कुल अभी)

महसूसने के क्रम में केदार जी की कविता में स्पर्श बिंब भी अपनी एक अलग पहचान रखते हैं- 'बढ़ई और चिड़िया' कविता में कुछ इस तरह के भाव जहाँ लकड़ी के अंदर बंद चिड़िया का दर्द स्वर पा रहा है जो न सिर्फ सुना जा सकता है अपितु महसूस भी किया जा सकता है।

उसकी आरी हर बार
चिड़िया के दाने को
लकड़ी के कटते हुए रेशों से खींच कर
बाहर लाती थी।
और दाना हर बार उसके दाँतों से छूट कर
गायब हो जाता था।

(बढ़ई और चिड़िया, पृष्ठ 6, यहाँ से देखो)

केदार जी अपनी हरेक कविता में उन अनुभवों को रच रहे थे, जो रोजमर्रा की जिंदगी का हिस्सा है। हम जिस ओर देखने से बचना चाह रहे हैं उसी ओर केदार जी की कविता बरबस खींच लिए जाती हैं। अनुभवों की अनछुई सी स्मृतियाँ, केदार जी की कविता को कुछ अलग तरह की गहराईयाँ सौंप रही हैं। जो परंपरा और लीक से हटकर रचा गया नजर आता है।

एसोसिएट प्रोफेसर
हिन्दी विभाग
दौलत राम कॉलेज
दिल्ली विश्वविद्यालय, दिल्ली

संदर्भ ग्रंथ

1. 'अकाल में सारस', केदारनाथ सिंह, राजकमल प्रकाशन, दूसरा संस्करण-1990
2. 'जमीन पक रही है', केदारनाथ सिंह, प्रकाशन संस्थान, प्रथम संस्करण-2012
3. यहाँ से देखो, केदारनाथ सिंह, राधाकृष्ण प्रकाशन, 1999
4. मेरे समय के शब्द, केदारनाथ सिंह, राधाकृष्ण प्रकाशन, 2004
5. 'उत्तर कबीर और अन्य कविताएँ', केदारनाथ सिंह, दूसरा संस्करण-1999
6. 'अभी बिल्कुल अभी', केदारनाथ सिंह, राजकमल प्रकाशन, 1960
7. 'आँसू का वजन', केदारनाथ सिंह, राजकमल प्रकाशन
8. 'कवि ने कहा', केदारनाथ सिंह, किताब घर प्रकाशन, 2014
9. 'मेरे साक्षात्कार', केदारनाथ सिंह, किताब घर प्रकाशन, संस्करण-2004
10. ताल्सताप और सायकिल - केदारनाथ सिंह, राजकमल प्रकाशन, 2005
11. आधुनिक कविता में बिंब-विधान, केदारनाथ सिंह, राजकमल प्रकाशन, 1980
12. कविता के नए प्रतिमान- नामवर सिंह, राजकमल प्रकाशन, संस्करण-2009

Research Paper

MSME the powerhouse of Indian economy

Sanjay Kumar

The current research work entitled "MSME is the Powerhouse of the Indian Economy" emphasizes the critical contribution of Micro, Small, and Medium Enterprises (MSMEs) to the overall economic, industrial, and social growth of India. Being a developing country with extensive demographic and regional diversity, India is greatly dependent upon MSMEs to provide employment, foster entrepreneurship, and ensure balanced regional development. These enterprises, although small in size individually, as an aggregate contribute to a considerable portion of the country's industrial setup and are commonly known as the pillar of the Indian economy.

The research defines the MSME sector according to the Micro, Small and Medium Enterprises Development (MSMED) Act, 2006, which categorizes the enterprise in terms of investment in plant and machinery and turnover on a yearly basis. As per the Act, micro enterprises deposit up to Rs.1 crore with turnover up to Rs. 5 crores, small enterprises up to Rs. 10 crores with turnover up to Rs. 50 crores, and medium enterprises up to Rs. 50 crores with turnover up to Rs. 250 crores. This categorization of industries in this manner ensures focused financial and policy interventions to foster industrial growth across all levels.

Empirical evidence presents the substantial contribution made by MSMEs towards India's economy. They constitute almost 45% of the nation's industrial jobs, 50% of all manufactured exports, and 95% of industrial establishments across the country. Additionally, they provide about 20% of India's Gross Domestic Product (GDP) and are the second-largest employment source following agriculture. The article relies on DGCI&S, SEBI, and PHD Chamber of Commerce and Industry reports to provide an example of how MSMEs are key stakeholders in export promotion, domestic production, and the generation of employment. MSME exports registered uniform growth in every class – micro, small, and medium – between 2020 and 2023, an indication of the resilience of the sector and its growing integration into international markets.

Apart from their economic importance, MSMEs have strong social and development implications. They offer employment opportunities to millions, primarily in the rural and semi-urban areas, thus minimizing rural-urban migration and fostering regional balance. MSMEs also encourage local innovation, skill building, and entrepreneurship at the grassroots level. As per the PHD Chamber report (2016), 59% of the workforce in MSMEs is skilled, 21% are on-the-job trained, and 20% are unskilled, highlighting their contribution towards human capital generation.

Yet, the paper also lays out significant challenges that afflict the sector – ranging from poor access to finance, delayed payment, poor technology adoption, infrastructural limitations, and overcomplicated regulatory structures. To overcome these problems, the government has introduced different support measures such as Udyam registration, Emergency

Credit Line Guarantee Schemes (ECLGS), cluster development programs, and digital empowerment initiatives. These policies have improved MSMEs' formalization, access to credit, and competitiveness.

The paper argues that the MSME sector is not just an industrial category but the very basis for India's self-reliant, job-rich, and inclusive growth strategy. By nurturing innovation, boosting exports, and opening up possibilities for small entrepreneurs, MSMEs will be instrumental in achieving India's developmental vision under Atmanirbhar Bharat. Consolidating this sector via persistent policy action, technology upgradation, and skill upgradation will be crucial to realizing sustainable economic growth in the next decade.

Keywords:

MSME, Economic Growth, Employment Generation, MSMED Act 2006, Industrial Development, Exports, Regional Development, India.

India is a developing nation with large population. India's diverse cultural region, different geographical conditions, and different MSME numbers are increasing day by day, even after the liking of people. It needs to cater to all sections of society. Industry is important for the growth of the country. It caters to the various aspects of life. MSMES stands for micro, small & medium enterprises. This industry is small in size compared to other industries but large in numbers. They cover a broad range from the small artisan Workshops, street business, small manufacturer service provided, up to the Startups. India officially classified MSMEs under the Development Act 2006. Under this Act. MSMEs are classified into 3 categories on the basis of investment in plant & Machinery and Annual turnover. They are often referred to as the backbone of India, as they provide employment opportunities in large numbers. They help in GDP growth, Poverty alleviation, and regional development.

It has a great impact on the social, economic, and political culture of India. MSME generate the revenue for the country it is the backbone of all the sectors MSME will generate the revenue for the country. It is the backbone of all the sectors. MSMEs generate the economy by strengthening the export of goods. It will help to maximize the growth of the country. We can have sufficient foreign exchange by exporting goods to different countries. It has to negate the trade deficit and earn foreign exchange by strengthening a major portion of exports. As per the data, it comprises 50% of India's total manufactured exports, 45% of India's industrial employment, and 95% of all the industrial units in the country. The latest data support the DGCI&S report, "out of the total 6.34 cr enterprises, 31% enterprises were engaged in manufacturing, 36.3% enterprises were involved in trading activities, and the remaining 32.7% were in the other services sector. This shows the MSME has grown significantly. It concerned the different segments of the industry. MSME numbers are increasing day by day. Even in the rural areas, MSMEs have grown significantly. This helps in the regional development of rural areas. It eradicates the backwardness of the region.

It generates employment opportunities for all types of people, from the minimally educated to labor. It helps to reduce the pressure on the metropolitan cities. MSME is a labor-intensive industry. It requires a large number of workers to perform the day-to-day activities. They contribute substantially to the GDP and promote innovation at the grassroots levels.

According to DGCA's report on MSME merchandise EXIM status report of the India's MSME comparative studies.

Export by registered MSME in USD Million

MSME TYPE	2020-21	2021-2022	2022-2023
Micro	16829	25185.6	29876.7
Small	338351	44183.8	45087
Medium	37694.1	49918.8	50562.1
Total	88380.2	119288	125526

This data shows that micro and small industries have slow growth, while medium industries grow significantly, providing better export opportunities to generate more revenue and help strengthen the Indian economy. MSME needs various ideas and economic support from the government. India's geographical diversity also matters. MSMEs should be located

where raw materials are easily available and require innovation, improved transportation, infrastructure development, and better conditions.

MSME contributes 20% of GDP and the largest generator of employment MSME is the second largest employer of agriculture SEBI indicates "they contribute around 20% of GDP and the largest generate of employment after the agriculture the sector is the second largest employer".

After 1991 India adopt adopted liberalization privatization and globalization It's a great it has a great impact on the industries it helps in the growth and it important important for the growing of developing countries. The Government of India make MSME Act 2006 as **MSMED ACT 2006**

At incorporation of Act

Category	**invested in plant & machinery/ equipment**	**Annual turnover**
Micro	≤ Rs. 1 crore	≤ Rs. 5 crore
Small	≤ Rs. 10 crore	≤ Rs. 50 crore
Medium	≤ Rs. 50 crore	≤ Rs. 250 crore

Before 2006 Act

Category	**invested in plant & machinery/ equipment**	**Annual turnover**
Micro	Rs. 25 lakh	Rs. 1 lakh
Small	Rs. 1 crore	-
Medium	Not Define	Not Define

Significant changes were made in the Act of 2006. It has a great impact on the Indian economy. It accelerates the growth rate.

MSME catheter's challenge is that it should be addressed so that the MSME does not have any hurdles in growth. It has significant problems like capital investment, delayed payment , and complex regulations. It needs technology improvement so that it matches their world manufacturing units. It must enhance productivity.

MSME is the backbone and is important for the future. It helps economic growth and overall industrial development. More MSMEs are needed to cater to different segments and improve employability. This is essential for the labor class, which often lacks skills. The government must run programs to help laborers gain industry-required skills.

According to PHD Chamber and Commerce and Industry and even Media 2016 in micro small enterprises "59% of employees are skilled, 21% are the on the job training and 20% are unskilled.

In this way is the backbone of Indian economy it accelerates the growth of the country it caters the various segments India needs more and more MSME towards Heart strengthen the economic growth it is for the welfare of the people of the country it It affect all the segment of the country and it could affect all the requirements of the future generation government must strengthen the MSME in the country.

MSMEs are more than a sectoral classification in India – they are an infrastructure for social and economic life underpinning livelihoods, local development, and India's industrial foundation. The nation's recent policy drive – formalization through Udyam/UAP, large-scale emergency credit interventions, increased guarantee coverage, and competitiveness initiatives — has nudged the sector toward increased resilience and formality. Government data of 2023–2024 show huge registration and employment figures (tens of millions of jobs and a few crore registered units), and by end-2024 the sector was in strong job creation and recovery mode. But persistent bottlenecks – finance, technology, market access and informality – need sustained, calibrated policy effort. Building MSMEs will be at the core of India's goal of inclusive, job-rich growth in the decade to come.

Sri Venkateswara College
University of Delhi

References:

- Anang Kr. Shandilya, Stock Exchange for SMEs- Need for Hour, Chartered Secretary, February 2010 pg 210
- Director general and Commercial Intelligence and Status, Kolkata, January 2024 page -2
- DGCI&S, Kolkata ,January 2024, page- 5
- SEBI discussed on Developing market for Small and Medium Enterprises, Government of India, Jan 2010
- PHD Chamber of Commerce and Industry and Avian media, Report 2016 page-1
- www.msme.gov.in

हिंदी कविता में आपदा विमर्श और पर्यावरणीय बोध

डॉ. प्रभात शर्मा

मनुष्य और प्रकृति के बीच अनादि काल से सहज, अन्तरंग और रागात्मक संबंध रहा है। मानव सभ्यता का विकास ही प्रकृति के सहचर्य से हुआ है। मनुष्य प्रकृति से अभिभूत होता आया है। कभी वह प्रकृति में ईश्वर खोजकर उसकी पूजा करता है। वहीं दूसरी ओर उसके रौद्र एवं भयावह रूप से भयभीत भी है। इसीलिए वह प्रकृति के साथ हमेशा तादात्म स्थापित करने का प्रयास करता आया है क्योंकि वह जानता है कि प्रकृति का शांत एवं संतुलित रूप ही मानव सभ्यता के अस्तित्व के लिए आवश्यक है।

पाश्चात्य सभ्यता में प्रकृति और पर्यावरण के प्रति चिंता बीसवीं सदी के उतरार्द्ध में दिखाई देती है किन्तु भारतीय संस्कृति में यह वैदिक काल में ही दिखाई देती है। दुनिया की सबसे पुराना किताब 'वेद' ही है और वैदिक साहित्य में प्रकृति और पर्यावरण के बीच गहरा रागात्मक बोध दिखाई देता है। शायद ऐसा होना स्वाभाविक भी था क्योंकि वैदिक सभ्यता संभवत: अपनी पूर्ववर्ती हड़प्पा सभ्यता के विनाश से परिचित थी अथवा कम से कम प्रकृति द्वारा मानवीय सभ्यता के विनाश की गाथाओं से भली-भांति परिचित थी। वेद मानते हैं कि प्रकृति के पंचमहाभूतों से ही मानव शरीर बना है। इसलिए उन्होंने संतुलन बनाये रखने के लिए प्रत्येक धार्मिक कार्य को प्रकृति के साथ जोड़ा और हमेशा प्रकृति की शांति की कामना की। यजुर्वेद में वर्णित शांतिपाठ इसका सशक्त उदाहरण है। यह केवल एक मंत्र नहीं, बल्कि एक जीवन-दर्शन है जो प्रकृति के प्रत्येक कण में शांति की कामना करता है, जिससे मनुष्य और संपूर्ण विश्व सामंजस्य स्थापित कर सकें।

''ॐ द्यौ: शान्ति रन्तरिक्षँ शान्ति:
पृथिवी शान्ति रापः शान्तिरोषधयः शान्तिः।
ॐ शान्तिः शान्तिः शान्तिः''॥ (यजुर्वेद 36:17)

ऋग्वेद का पृथ्वी सूक्त और नदी सूक्त तथा यजुर्वेद का अरण्यानी सूक्त क्रमश: पृथ्वी, नदी और वनस्पतियों के संरक्षण और संवर्धन की कामना का सन्देश देता है। प्राकृतिक आपदाओं ने प्राचीन काल से ही मानव सभ्यता को क्षति पहुंचाई है। इन आपदाओं को ज्योतिष में 'उत्पात', भूकम्प को 'भौमुत्पात' कहा गया है। कुल मिलकर वैदिक कालीन कविता मनुष्य और प्रकृति के अन्यतम भावात्मक संबंधों की व्याख्या करती है।

संस्कृत ही नहीं हिंदी साहित्य का कवि भी प्रकृति को अपनी अनुभूतियों का हिस्सा बनाता रहा है चाहे वह आदिकालीन हिंदी कविता का चारण कवि हो या संदेशरासक का प्रेमी कवि जो अपनी प्रियसी को सन्देश भेजने के लिए बादलों को संदेशवाहक के रूप में परिकल्पित करता है। आदिकालीन साहित्य में प्रकृति का उल्लेख युद्धभूमि, ऋतु-वर्णन अथवा लोक जीवन से जुड़ा हुआ मिलता है। पृथ्वीराज रासो में नदियों, पर्वतों और ऋतुओं के वर्णन युद्ध के परिप्रेक्ष्य में आए हैं। यहाँ प्रकृति का उल्लेख शक्ति और सौन्दर्य के संदर्भ में हुआ है।

भक्तिकाल का भक्त कवि प्रकृति को ईश्वर का ही प्रतिरूप मानता है और पृथ्वी को उनकी लीलाओं का विस्तारित रूप। भक्तिकालीन और रीतिकालीन कविता में कवि प्रकृति का कोमल और सौम्य रूप प्रस्तुत करते हैं। रीतिकाल का कवि तो प्राकृतिक सौन्दर्य चित्रण में अपनी पूरी प्रतिभा का उपयोग करता दिखाई देता है, चाहे वह षडऋतु वर्णन हो या बारहमासा

का चित्रण हो, कवि की भावात्मक और कलात्मक चमक एकसमान दिखाई देती है। भक्ति काल की कविताओं में प्रकृति ईश्वर तक पहुँचने का एक माध्यम है। सूरदास ने वृन्दावन, यमुना और बृज के सौन्दर्य के माध्यम से कृष्ण की लीलाओं को सजाया। कबीर ने प्राकृतिक प्रतीकों का प्रयोग सत्य और निर्गुण ब्रह्म को समझाने के लिए किया। यहाँ प्रकृति मानव और ईश्वर के संबंध का सेतु है। यद्यपि तुलसीदास जैसे जनकवि भी मध्यकालीन हिंदी कविता में उपस्थित हैं जो प्राकृतिक और मानवीय आपदाओं का सफल चित्रण अपनी कविताओं में करते दिखाई देते हैं। उनके रामचरितमानस में वन, पर्वत और नदियों को धर्म और मर्यादा के संरक्षक रूप में चित्रित किया गया है। आज वैज्ञानिक प्रमाणों से हम भली-भांति जानते हैं कि हजारों वर्षों से भारतवर्ष जिस प्राकृतिक आपदा को सबसे ज्यादा झेलता है वह है सूखा और अकाल। आज से छह सौ वर्ष पहले तुलसीदास जी ने उस समय पड़ने वाले अकालों का बखूबी चित्रण किया है। रामचरितमानस के उत्तरकाण्ड में कलिकाल का चित्रण करते समय वे लिखते हैं—**'कलि बारहि बार दुकाल परे, बिन्नु अन्न दुखि सब लोग मरे'।** कवितावली में भी यह अकाल है लेकिन दरिद्रता के साथ **'दिन दिन दुनो देखि दारिदु, दुकालू दुख, दुरित, दुराजू, सुख-सुकृत सकोच है'।** जहां तक अकाल का प्रश्न है यह एक ऐतिहासिक तथ्य है कि मध्यकाल में अनेकों बार अकाल पड़े थे। अबुल फजल भी उल्लेख करता है कि जिस वर्ष अकबर सिंहासन पर बैठा (1556 ई.) उस वर्ष भीषण अकाल पड़ा था। तुलसीदास दुकाल शब्द का प्रयोग बुरे समय का बोध करने के लिए करते हैं। **'का वर्षा जब कृषि सुखाने'** जैसी अमर पंक्तियों की रचना उन्होंने ऐसी ही विपदाओं को देखकर की होगी। स्पष्ट है कि तुलसीदास अपने समय के यथार्थ का चित्रण करते समय सिर्फ अकाल रुपी प्राकृतिक आपदा का ही चित्रण नहीं कर रहे हु अपितु इस कृषि प्रधान देश में मानसून पर निर्भर रहने वाले किसान की विवशता तथा सामंती शासकों की संवेदनहीन उदासीनता का भी चित्रण कर रहे हैं।

आधुनिक काल में जैसे-जैसे मानव सभ्यता का विकास होता गया वैसे-वैसे वैज्ञानिक अवधारणाएं भी मनुष्य जीवन में शामिल होती गयीं। औद्योगिक क्रांति के पश्चात् मनुष्य विकास की नयी इबारत लिखता चला गया। परिवर्तित परिवेश के साथ मनुष्य की अभिव्यक्ति चेतना में भी बदलाव हुआ। अनेक नवीन भाव, विषय और विचार साहित्य के केंद्र में आते गए। प्रकृति पर मनुष्य की निर्भरता कम होती गयी। धीरे-धीरे वह प्रकृति से दूर होता गया। पिछली दो शताब्दियाँ प्राकृतिक संसाधनों के दोहन की सदी रही है। मनुष्य अब प्रकृति से डरता नहीं बल्कि उसने प्रकृति को ही साधने-बाँधने का प्रयास प्रारम्भ कर दिया है। कवि समाज का सबसे संवेदनशील प्राणी होता है और इस नाते उसकी कविताओं में अपने समय की तमाम सामाजिक और समसामयिक घटनाओं का लेखा-जोखा दिखाई देता है। हिन्दी साहित्य में आधुनिक काल ने पहली बार भारतेंदु के साहित्य से ही करवट लेना प्रारंभ किया। इस नवजागरणकालीन युग में हिंदी कवि प्राकृतिक संसाधनों के दोहन के लिए अंगेजों को जिम्मेदार मानता है जो सच भी है यद्यपि कविता की तुलना में गद्य साहित्य में यह अभिव्यक्ति ज्यादा मुखर दिखाई देती है। हिन्दी कविता में पर्यावरणीय बोध को सबसे गहरी और संवेदनशील अभिव्यक्ति छायावाद में मिली। छायावाद के कवियों ने प्रकृति को आत्मीयता और संवेदना से जोड़ा। जयशंकर प्रसाद के यहाँ प्रकृति रहस्य और गहन भावलोक का प्रतीक है। सुमित्रानन्दन पन्त ने पर्वत, नदी, फूल और पंछियों को जीवंत साथी की तरह प्रस्तुत किया। महादेवी वर्मा ने प्रकृति को आत्म-पीड़ा और करुणा से जोड़ा और निराला की कविताओं में प्रकृति कभी विद्रोह का प्रतीक है तो कभी करुणामयी माता का। छायावाद में प्रकृति केवल दृश्यरूप नहीं बल्कि अंतरात्मा का विस्तार है। छायावाद के पश्चात प्रगतिवाद और प्रयोगवाद के कवियों ने सामाजिक यथार्थ के साथ-साथ पर्यावरणीय संकट की ओर भी ध्यान दिया। नागार्जुन की कविताओं में नदियों, खेतों और किसानों का चित्रण जीवन संघर्ष से जुड़ा वहीं केदारनाथ अग्रवाल ने पेड़, धूप, नदियाँ और मिट्टी को जीवन का आधार माना। शमशेर बहादुर सिंह ने औद्योगिक विकास से उपजे संकट की ओर संकेत किया। इस युग में प्रकृति सौन्दर्य से आगे बढ़कर संघर्ष और विरोध की संवेदना का हिस्सा बन जाती है। समकालीन हिन्दी कविता में पर्यावरणीय चेतना एक केन्द्रीय विषय के रूप में उभरी है। अज्ञेय ने प्रकृति को आधुनिक सभ्यता से टकराते हुए देखा। वहीं केदारनाथ सिंह की कविता 'पेड़' पर्यावरणीय अस्तित्व की गहरी पहचान कराती है। रघुवीर सहाय और धूमिल ने औद्योगिकीकरण और प्रदूषण पर प्रश्न उठाए तो मंगलेश डबराल और अरुण कमल ने पहाड़ों, नदियों और गाँवों के क्षरण की वेदना को कविता में

स्थान दिया। आज की कविता में पर्यावरणीय संकट केवल स्थानीय नहीं बल्कि वैश्विक चेतना का हिस्सा बन गया है। यह स्पष्ट करता है कि समकालीन कविता में पर्यावरणीय बोध केवल सौन्दर्यबोध नहीं, बल्कि जीविका, अस्तित्व और सामूहिक हिस्सेदारी का प्रश्न बन चुका है।

आपदा विज्ञान आपदाओं को दो श्रेणियों में विभाजित करता है। पहली, प्राकृतिक आपदा और दूसरी, मानवीय आपदा। आधुनिकीकरण के विकास के साथ ही आपदाओं की पुनरावृति में वृद्धि देखी जा सकती है। आपदाएं मानवीय सभ्यता के लिए विनाशकारी है। दुर्भाग्य से बीसवी और इक्कीसवीं सदी में यह आपदाएँ लगातार बढ़ती दिखाई देती है। भूकंप, सूखा, बाढ़, चक्रवात, सुनामी, बादल फटना, दावानल, ज्वालामुखी फटना, भूस्खलन, आतंकवादी घटना, प्रदूषण, रासायनिक दुर्घटना, कोविड आदि से भारतीय और वैश्विक समाज लगातार जूझता रहा है। आधुनिक हिंदी कविता में भी इसकी प्रतिध्वनि बहुत तीव्र सुनाई देती है। यह एक सर्वविदित तथ्य है कि हमारा देश अकाल और सूखे की मार प्रतिवर्ष झेलता है। लेकिन यह पर्यावरणीय परिवर्तन केवल प्राकृतिक कारणों से ही नहीं होता। इस परिवर्तन को समझने के लिए नागार्जुन की कविताओं पर दृष्टि डालना अपरिहार्य है। नागार्जुन की कविता में प्रकृति रोमानी दृश्य नहीं बनाती, वह किसान, मजदूर और हाशिये पर पड़े मनुष्य के जीवन संकट से गहराई से जुड़ी हुई है। 'बादल को घिरते देखा है' जैसे काव्य अनुभव से लेकर अकाल, भूख और सूखे के यथार्थ चित्रण तक, उनकी कविता प्रकृति को सामाजिक और राजनीतिक संदर्भों में रखकर देखती है। अकाल पीड़ित गाँवों का वर्णन करते हुए नागार्जुन यह स्पष्ट संकेत देते हैं कि आपदा केवल प्राकृतिक नहीं होती; वह सत्ता की उपेक्षा, नीतिगत विफलता और सामाजिक अन्याय से मिलकर पैदा होती है। इस प्रकार पर्यावरणीय असंतुलन सत्ता की संवेदनहीनता से जुड़कर एक गहरे आपदा विमर्श का रूप ले लेता है। बार-बार पड़ने वाले अकाल की विषमतम स्थितियों का चित्रण करते हुये, अपनी कविता **अकाल (माटी मुळकेगी एक दिन)** में शिवराम लिखते हैं

''कभी-कभी नहीं
अक्सर ही होता है यहाँ ऐसा
कि अकाल मंडराने लगता है
बस्ती दर बस्ती
गाँव दर गाँव
रूठ जाते हैं बादल
सूख जाती हैं नदियाँ
सूख जाते हैं पोखर-तालाब
कुएँ-बावड़ी सब
सूख जाती है पृथ्वी''[1]

कवि अनिल जनविजय अपनी कविता शीर्षक 'अकाल' में अकाल को शैतान का दर्जा देते हुए उसे काल के समान मानते हैं। वे मानते हैं कि 'अकाल जब आता है अपने साथ लाता है अड़ियल बैल से बुरे दिन' हिंदी के वरिष्ठ कवि केदारनाथ सिंह अपनी बहुचर्चित कविता 'अकाल में सारस' में प्रवासी पक्षी सारस के माध्यम से बढ़ती शहरीकरण की प्रवृत्ति पर व्यंग्य करते हैं। जब भी आपदा आती है मनुष्य और समाज गहरी नकारात्मकता से घिर जाता है लेकिन यह मनुष्य ही है जो त्रासदी की स्थितियों से बाहर निकलने का प्रयास भी करता है। केदारनाथ सिंह अपनी एक अन्य कविता 'अकाल में दूब' में आपदा की स्थितियों में सकारात्मकता मानवीय जिजीविषा को बनाये रखने की कामना करते हुए लिखते हैं -

''कहते हैं पिता
ऐसा अकाल कभी नहीं देखा
ऐसा अकाल कि बस्ती में
दूब तक झुलस जाए
सुना नहीं कभी
दूब मगर मरती नहीं''[2]

प्राकृतिक आपदाओं में भूकंप भय तथा सिहरन पैदा कर देता है। हमें भूलना नहीं चाहिए कि भारत एक भूकंप प्रभावित क्षेत्र में आता है। लातूर, भुज और उत्तरकाशी में आने वाले विनाशकारी भूकम्पों को लोग अभी तक भूले नहीं हैं और हमने अपने शहरों का विकास इस तरह से किया है कि आज हमारे देश की एक बड़ी आबादी को सबसे बड़ा खतरा भूकंप से ही है। कविता वाचक्नवी अपनी कविता 'भूकंप' में पृथ्वी का मानवीकरण करते हुए उसकी वेदना का हृदयस्पर्शी चित्र उपस्थित करते हुए लिखती हैं-

''ऊँची अट्टालिकाओं का निर्माण किया
जलवाही धारों को बाँध दिया।
तुम्हारी कुदालों, खुरपियों, फावड़ों,
मशीनों, आरियों, बुलडोजरों से
कँपती थरथराती रही मैं।''[3]

प्राकृतिक आपदाओं में बार-बार बाढ़ का आना एक बुरे दुस्वप्न की तरह है। हमने नदियों पर अप्राकृतिक रूप से बाँध बनाकर और उनकी दिशाओं को परिवर्तित करके स्वयं विनाश को निमंत्रण दिया है। हिंदी कवि बाढ़ से होने वाले मानवीय विनाश को अनेक स्वरों में चित्रित करता है। कोसी नदी में आने वाली प्रतिवर्ष की भयावह बाढ़ त्रासदी पर हिन्दी में अनेकों कविता दर्ज है। अच्युतानंद मिश्र की कविता 'बाढ़-2008' में बाढ़ के अनेकानेक चित्र प्रस्तुत किये गए हैं। मीडिया प्राकृतिक आपदाओं की खबरों को जैसे विज्ञापन की तरह बेचता है कवि उस पर तीखा व्यंग्य करता है। साथ ही यह कविता प्राकृतिक आपदाओं के समय नदारद रहने वाले राजनेताओं की नकली संवेदना को बेनकाब करती है। आपदा के समय जनता के प्रतिनिधि दिखाई नहीं देते परन्तु आपदाओं के बाद अनेक राजनीतिक दल राजनीति करते जरूर दिखाई दे जाते हैं ऐसे जनता के प्रतिनिधियों पर तीव्र व्यंग्य करते हुए अच्युतानंद मिश्र लिखते हैं–

''जब डूब रहा था सब-कुछ
तुम अपने मजबूत किले में बंद थे
जब डूब चुका है सब-कुछ
तुम्हारे चेहरे पर अफसोस है
तुम डूबे हुए आदमी के प्रतिनिधि हो...''[4]

वर्ष 2013 में उत्तराखंड में आयी केदारनाथ त्रासदी पर अनेकानेक कविताएँ लिखी गयी हैं। हिमालय की नदियों को बाँध बनाकर बाँधने के मानवीय प्रयास और वहां के धार्मिक स्थलों को पर्यटन स्थलों में तब्दील किये जाने पर हिन्दी कवियों ने गहरी चिंता प्रकट की है। चिन्तामणि जोशी अपनी कविता 'आपदा 2013 हिमालयन सुनामी' में केदारनाथ त्रासदी के लिए पर्यावरण में बढ़ते मानवीय हस्तक्षेप को मुख्य कारण मानते हैं।[5] जसवीर चावला अपनी कविता 'स्वीकारोक्ति' में लिखती हैं–

''खण्ड खण्ड
उत्तराखण्ड
नदियों पर निर्माण
हर प्रखण्ड
विनाश तय
लिखा शिलाखण्ड
नहीं चला
पर्यटन पाखंड
क्यों सहती धरती
तय था दंड''[6]

वर्ष 2004 में एशिया महाद्वीप में आयी सुनामी ने हजारों लोगों के जीवन को लील लिया था। हिंदुस्तान के समुंद्री तट भी पहली बार सुनामी की लहरों से दहल उठे थे। समुन्द्र का पानी शहरों के भीतर तक उतर आया था। कवि यादवचन्द्र अपनी कविता 'सुनामी बच्ची' में इस वेदना को बहुत सार्थक शब्दों में अभिव्यक्त करते हैं।[7]

2 दिसंबर 1984 की भयानक रात को इस देश ने भोपाल गैस त्रासदी के रूप में मानवीय विनाश का सबसे क्रूरतम चेहरा देखा। जिसमें हजारों की संख्या में निर्दोष नागरिक मारे गए थे। 40 वर्ष से अधिक समय गुजर जाने के बाद भी हजारों लोग आज भी उसके दंश को झेल रहे हैं। यहाँ तक की मुआवजे के लिए अभी तक भटक रहे हैं और सबसे क्रूरतम तथ्य यह कि अभी तक मुख्य आरोपी पकड़े नहीं गए हैं। यह घटना मानवीय लापरवाही का सबसे भयावह उदाहरण है। संवेदनशील आधुनिक कवि रक्तबीज अपनी कविता 'एक कविता, भोपाल गैस त्रासदी पर...' में इस घटना के लिए सत्ता और शक्ति, सोच और स्वार्थ और सम्पति, सोच और साजिशों को इसके लिए जिम्मेदार मानते हैं। सुप्रसिद्ध कवि राजेश जोशी अपनी प्रसिद्ध कविता 'भोपाल शोकगीत 1984 - कोई नहीं रोता' में इन शब्दों में अपनी व्यथा व्यक्त करते हैं -

शहर के एक इलाके के सारे पेड़
अब भी स्याह हैं।
रात के अँधेरे में वे किसी शोक जुलूस की तरह
नजर आते हैं।[8]

संक्षेप में कहा जा सकता है कि हिंदी का आधुनिक कवि प्राकृतिक और मानवीय आपदाओं के प्रति अत्यधिक संवेदनशील है। उसकी चिंतायें केवल भारतीय परिवेश को संबोधित नहीं करती अपितु वैश्विक परिदृश्य में घट रही अप्राकृतिक आपदाओं का भी वृहत्तर परिवृत बनाती है। मनुष्य द्वारा प्रकृति के निरंतर किये जा रहे दोहन से ही इन घटनाओं की आवृति और घनत्व बढ़ गया है, आधुनिक कवि इन परिस्थितियों को बहुत करीब से अनुभूत कर रहा है। क्षरित होती मृदा, घटता हुआ वन क्षेत्र, बढ़ती हुई जनसंख्या, उद्योगीकरण, नगरीकरण और आधुनिकीकरण और स्वार्थ केंदित अर्थव्यवस्था के कारण तेजी से बढ़ रहा खनन और प्रदूषण पर्यावरणीय चिंताएं बढ़ाए हुए हैं। ऐसे में समूची मानवीय

सभ्यता का अस्तित्व आज खतरे में है। इसलिए वैदिक साहित्य में उपस्थित उस शांति प्रार्थना की आवश्यकता आज सबसे ज्यादा है जो हमें हमारे पर्यावरण के प्रति जागरूक और निष्ठावान बने रहने का सन्देश देती है।

एसोसिएट प्रोफेसर, हिन्दी विभाग
श्यामलाल कॉलेज
दिल्ली विश्वविद्यालय, दिल्ली
ईमेल : psharma@shyamlal.du.ac.in

सन्दर्भ सूची

1. https://anvarat.blogspot.com/2009/12/blog-post
2. केदारनाथ सिंह-अकाल में सारस, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, 2003, पृ. 55
3. https://kavitakosh-org/kk/%E0%A4%AD%E0%A5%82%E0%A4%95%E0%A4%AE%E0%A5%8D%E0%A4%AA_/_%E0%A4%95%E0%A4%B5%E0%A4%BF%E0%A4%A4%E0%A4%BE_%E0%A4%B5%E0%A4%BE%E0%A4%9A%E0%A4%95%E0%A5%8D%E0%A4%A8%E0%A4%B5%E0%A5%80
4. https://kavishala.com/sootradhar/acyutananda-misra/barha-2008-kucha-kavitaem-acyutananda-misra
5. https://pahleebar.blogspot.com/2016/05/blog-post_29-html
6. https://www-rachanakar.org/2013/06/blog-post_27-html
7. https://anvarat.blogspot.com/2009/08/blog-post_11-html
8. राजेश जोशी- मिट्टी का चेहरा, संभावना प्रकाशन, हापुड़, 1985, पृ. 76

हिंदी में अस्मितामूलक विमर्श और दलित आत्मकथाएं

कमलेश

'अस्मितामूलक-विमर्श' समकालीनता की देन है। इस विमर्श पर आधुनिकतावाद, अस्तित्ववाद, मार्क्सवाद, उपनिवेशवाद, सबालर्टन दृष्टि जैसी विभिन्न विचारधाराओं का प्रभाव देखने को मिलता है। अत: इस अस्मिता बोध की आवश्यकता व्यक्ति को तभी पड़ती है जब उसकी पहचान पर किसी प्रकार का खतरा मंडरा रहा होता है। यह अस्मिता सिर्फ एक व्यक्ति से ही सम्बन्धित नहीं होती बल्कि यह तो सम्पूर्ण मनुष्य जाति से सम्बन्धित होती है। जब भी व्यक्ति की जाति, धर्म, भाषा, संस्कृति आदि को मिटाने की साजिश रची जाती है तो उस जाति या समुदाय से सम्बन्धित व्यक्ति उसे बचाने का प्रयास करता है। इसके लिए वह आन्दोलन करता है, अपने विचार प्रस्तुत करता है, इतिहास-लेखन तथा साहित्य लेखन आदि का सहारा भी लेता है। इस संदर्भ में अभय कुमार दुबे लिखते हैं कि, ''यह (अस्मिता) एक ऐसा दायरा है जिसके तहत व्यक्ति और समुदाय यह बताते हैं कि वे खुद को क्या समझते हैं। 'अस्मिता' का यह दायरा अपने-आप में एक बौद्धिक, ऐतिहासिक और मनोवैज्ञानिक संरचना का रूप ले लेता है जिसकी रक्षा करने के लिए व्यक्ति और समुदाय किसी भी सीमा तक जा सकते हैं।''[1] अस्मितावाद में सबसे अहम् बात अपनी पहचान को पाना तथा उस पहचान को बनाये रखना है। अस्मिता प्राप्ति के लिए जो संघर्ष किये जाते हैं वह व्यक्ति और उस समुदाय को जागरूक बनाते हैं। अस्मिता बोध को सही दिशा में समझने के लिए विमर्श की आवश्यकता पड़ती है। विमर्श शब्द का अर्थ है-'तार्किक दृष्टि से विचार-विमर्श' करना। विमर्श शब्द जागरूकता का परिचायक है। अतरू बिना जागरूकता के किसी भी विषय में जानकारी जुटा पाना संभव नहीं है। इस प्रकार कहा जा सकता है कि अस्मिता को समझने के लिए किया गया विमर्श 'अस्मितामूलक विमर्श' कहलाता है।

समकालीन समय में कई वर्ग ऐसे उभरे जिन्होंने अपनी अस्मिता एवं अपने अस्तित्व को बचाने के लिए संघर्ष किया जैसे-स्त्री, आदिवासी, अल्पसंख्यक और दलित समाज आदि। दलित लेखकों ने साहित्यिक रचनाओं के माध्यम से अपने समाज की विभिन्न समस्याओं और उनके साथ हो रहे अत्याचारों का चित्रण अपनी रचनाओं में किया। दलित समाज से उभरने वाले विभिन्न भाषी लेखकों ने अपनी-अपनी भाषाओं में अपने विचार अभिव्यक्त किए तथा समाज को अपने अधिकारों के प्रति जागरूक भी किया। साहित्य में आत्मकथा एक ऐसा माध्यम बनकर उभरा जिसमें यथार्थ को बिना किसी लाग-लपेट के प्रस्तुत किया गया। लेखकों ने अपनी आत्मकथाओं के माध्यम से अपने अनुभवों को समाज के सामने प्रस्तुत किया। अत: अपनी अस्मिता को प्राप्त करने के लिए उन्होंने जो संघर्ष किया वह अविस्मरणीय है। आत्मकथा लिखना किसी जोखिम से कम नहीं होता। आत्मकथा के महत्व को बताते हुए तथा लिखते समय आने वाली समस्याओं को उजागर करते हुए डॉ. जय प्रकाश कर्दम अपने विचार प्रस्तुत करते हैं कि, ''आत्मकथा लिखना नि:संदेह एक हिम्मत और जोखिम का काम है, बल्कि यूँ कहिए कि तलवार की धार पर नंगे पैर चलना है। यदि लेखक सच्चाई पर टिका रहेगा तो उसका लहूलुहान होना लगभग निश्चित है, क्योंकि आत्मकथा नंगी सच्चाई की मांग करती है और इतना साहस बहुत कम लोगों में होता है, जो सामाजिक यथार्थ के साथ-साथ अपने जीवन के नंगे यथार्थ का सार्वजनिक प्रदर्शन कर सके।''[2]

दलित लेखकों की स्वानुभूति ही उनकी आत्मकथाओं में

चित्रित होती। दलित आत्मकथाओं पर विस्तार से चर्चा करें उससे पहले दलित शब्द को समझना महत्वपूर्ण एवं आवश्यक है। सामान्य स्तर पर समाज में दलित के लिए कई शब्द प्रयोग में लाए जाते हैं। जैसे—शूद्र, अछूत, बहिष्कृत, अंत्यज, अस्पृश्य, हरिजन आदि। परन्तु दलित का शाब्दिक अर्थ है मसला हुआ, रौंदा हुआ, कुचला हुआ और पीड़ित आदि।

वर्धा हिंदी शब्दकोश में दलित शब्द को इस प्रकार परिभाषित किया गया है कि, ''जिसका दलन या शोषण हुआ हो, रौंदा या कुचला हुआ हो, अति निर्धन कंगाल, जो सामाजिक, आर्थिक, शैक्षिक आदि रूपों से पिछड़ा हुआ हो।''[3] अत: इस प्रकार समझा जा सकता है कि समाज में दलित वर्ग या समाज को लेकर जो भ्रांतियां फैली हुई हैं या जो अपशब्द प्रयोग में लाए जाते हैं वह शाब्दिक स्तर पर बिलकुल भिन्न है। जहाँ दलितों को अस्पृश्य या अंत्यज समझा जाता है वहीं वह सामाजिक स्तर पर पिछड़े होने की निशानी है। समाज में दलितों के प्रति फैली हुई इसी मानसिकता की उपज है 'दलित साहित्य'। दलित साहित्य से तात्पर्य है 'दलितों के हितों में लिखा गया साहित्य' साहित्य समाज का प्रतिबिम्ब होता है। समाज में जो भी घटित होता है उसका सीधा और सरल वर्णन साहित्य के माध्यम से होता है। ज्ञात हो कि महावीर प्रसाद द्विवेदी ने माना भी है कि 'साहित्य समाज का दर्पण है।' किसी समाज को जानना एवं समझना हो तो उस समाज में लिखे गए साहित्य का अध्ययन कर लेने भर से ही उस समाज की सामाजिक, आर्थिक, राजनैतिक, धार्मिक तथा सांस्कृतिक परिस्थिति का ज्ञान प्राप्त हो जाएगा।

हिंदी साहित्य में दलित आत्मकथा लेखन का प्रारंभ सन् नब्बे के बाद से बहुत तेजी के साथ हुआ है। हिंदी साहित्य में लिखी जाने वाली सबसे पहली आत्मकथा मोहनदास नैमिशराय की 'अपने-अपने पिंजरे' (1995) मानी जाती है। हालांकि इसके पहले भी 'मैं भंगी हूँ' आत्मकथा लिखी जा चुकी थी परन्तु विचारकों में मतभेद होने के कारण उसे प्रथम दलित आत्मकथा मानने से इंकार करते हुए 'अपने-अपने पिंजरे' को ही प्रथम दलित आत्मकथा होने का श्रेय प्राप्त हुआ।

हिंदी साहित्य की प्रथम दलित आत्मकथा 'अपने-अपने पिंजरे' में लेखक ने अपने जीवन की विभिन्न परतों को खोला है। अपनी आत्मकथा के माध्यम से लेखक मात्र अपने जीवन को ही रेखांकित नहीं करता बल्कि सम्पूर्ण दलित समाज को रेखांकित करने का प्रयास करता है। निम्न जाति के कारण उन्हें कितना कष्ट अथवा पीड़ा झेलनी पड़ी इसका वर्णन अपनी आत्मकथा में करते हैं। छोटी जाति होने के कारण सिर्फ हिंदू ब्राह्मण ही उनका शोषण नहीं करते थे बल्कि मुसलमान भी उनका शोषण करते थे। वह लिखते हैं कि ''हमारे मुसलमान पड़ोसी भी अधिकांश मजदूरी पेशा करते थे उनके कोई सैय्यद, शेख, पठान न था। अधिकांश जुलाहे, कसाई, कलाल, अंसारी ही थे पर उनके तेवर पठानों से कम न थे। बोलने का लहजा उसी मानसिकता से प्रभावित था। वह बात-बात पर हमें चमट्टे कहते थे और महिलाओं को चमट्टी। हम उनकी नजरों में घटिया लोग थे हमारी जाति की औरतों को तो बार-बार जलील होना पड़ता था। कभी-कभी वे ऐसा भी सोचते थे कि हम उनके रहमो-करम पर जिन्दा हैं।''[4] हिंदू धर्म ही नहीं बल्कि प्रत्येक धर्म पर ब्राह्मणवाद का प्रभाव है, जिस कारण वह जातिवादी तंज कसने से परहेज नहीं करते। समाज में घटित हो रहे दुर्व्यवहार को नैमिशराय जी अपनी आत्मकथा में इस प्रकार चित्रित करते हैं कि, ''हमारे स्कूल को बाहर अक्सर चमारों का स्कूल कहा करते थे, जैसे चमारों का कुंआ, चमारों का जल, चमारों का नीम, चमारों की गली, चमारों की पंचायत आदि। वैसी ही स्कूल के साथ जुड़ी थी हमारी जात। जात पहले आती थी स्कूल बाद में। यही कारण था कि इस स्कूल में कभी भी गिनती के पूरे अध्यापक न हुए थे। दो-दो और कभी तीन-तीन कक्षाओं को एक-एक अध्यापक ही संभालता था। बच्चे भेड़- बकरी की तरह कमरों में भरे होते थे। अध्यापक लम्बी छुट्टी पर रहते थे या फिर दूसरे स्कूल में किसी न किसी तरह ट्रांसफर करा लेते थे।''[5] दलित समाज के साथ छुआछूत का व्यवहार बड़े स्तर पर किया जाता था। उनकी पहचान उनके कर्म न होकर उनकी जाति ही रह जाती थी। उनके साथ हो रहे इस दुर्व्यवहार के कारण ही वह शिक्षा से वंचित रह जाते हैं। लेखक ने अपनी रचना में यह दिखाने का प्रयास किया है कि यदि कोई दलित शिक्षा ग्रहण करना भी चाहे तो भी समाज में उसे उलाहने दिए जाते और उसे आगे बढ़ने से रोका जाता। आत्मकथा में लेखक ने अपने साथ बीते एक वाकया का चित्रण किया है कि एक बार उसके पिता और माँ किसी कार्य के चलते गाँव से बहर जाते हैं। जिसके फलस्वरुप लेखक को अपने पिता की चप्पल की दुकान पर बैठना पड़ता है। इसी समय उसके पड़ोस का एक व्यक्ति अपनी चप्पल लाकर नैमिशराय को देता है कि इसे बना दे। वह चप्पल बनाने से इंकार करते हुए कहते हैं कि उन्हें

बनानी नहीं आती, जिसे सुनकर वह व्यक्ति तंज कसता है कि, ''अरे पढ़-लिखकर तू क्या लाटसाहब बन जायेगा, गढ़ेगा तो ये लकीरे ही।''[6] यहाँ लेखक ने यह दिखाने का प्रयास किया है कि, उनके कार्य क्षेत्र हों या अन्य स्थान उनकी पहचान उनकी जाति से ही की जाती। इस प्रकार हम देख सकते इन कि लेखक ने अपनी जाति के दंश को बार-बार झेला है। लेकिन इतने पर भी वह झुके नहीं और अपने अधिकारों और उसके महत्व को समझते हुए वह आगे बढ़ते गए।

भारतीय समाज में निम्न जाति के प्रति कितना दुर्व्यवहार किया जाता है। इस दुर्व्यवहार का बड़ा कारण कि भारतीय समाज का बड़ा तबका अशिक्षा से ग्रस्त है। बच्चों को नैतिक शिक्षा का न मिलना तथा अच्छे संस्कारों के अभाव में वह अच्छे-बुरे का निर्णय नहीं कर पाते। जातियों में बंटा भारतीय समाज धर्म का चोला ओढ़े अपने से निम्न समाज के प्रति असंवेदनशील व्यवहार करता है। दलित व्यक्ति सामाजिक और आर्थिक रूप से बहुत अधिक पिछड़ा हुआ है। वह अपने अधिकारों के लिए खुलकर संघर्ष करने में असमर्थ है। इसका सबसे बड़ा कारण है 'अशिक्षा'। शिक्षा की कमी के कारण यह वर्ग अपने अधिकारों के लिए संघर्ष करने में असमर्थ दिखाई देता है। समाज में फैले जातिगत भेदभाव के कारण उन्हें मंदिर में प्रवेश करने की भी मनाही थी। नैमिशराय को भी बचपन में यह सब झेलना पड़ा जिसका वर्णन उन्होंने अपनी आत्मकथा में इस प्रकार किया है। वह बताते हैं कि उनके मोहल्ले में एक मंदिर था जिसका पंडित रोज शाम को आरती करने के बाद बच्चों को प्रसाद दिया करता था। वह पंडित नैमिशराय को निम्न जाति का होने के कारण प्रसाद देते में दुत्कारता तथा उलाहना देते हुए कहता, ''तू चमार का है न। सब कुछ भ्रष्ट कर दिया। कितनी बार कहा तुम ढेरों से, प्रसाद दूर से लिया करो।''[7] अपने प्रति हुए जातिगत भेदभाव से नैमिशराय जी बहुत आहत हुए। अपनी अस्मिता पर पड़े इस कटाक्ष को वह बर्दाश न कर सके और पंडित को गुस्से से घूरते हुए बोले, ''थू तुम्हारा मंदिर और तुम्हारा प्रासाद...''[8] बालपन से ही नैमिशराय जी के भीतर अपनी अस्मिता के प्रति चेतना देखने को मिलती है। जाति के कारण कई बार अपमानित होने वाले नैमिशराय के भीतर आन्दोलन का सैलाब जन्म लेता रहा। वह समझने लगे कि ब्राह्मण समाज उन्हें इन्सान मानता ही नहीं। निम्न जाति के कारण उन्हें पानी पीने से भी रोका जाता और उन्हें दुत्कार कर दूर भगा दिया जाता। इस दुत्कार के कारण वह जोहड़ से पानी पिने को मजबूर हो जाते। वह बताते हैं कि बहन की ससुराल जाते में जब उन्हें प्यास लगी तो एक ब्राह्मण ने उन्हें अपने यहाँ से पानी पिने से सिर्फ इसलिए माना कर दिया क्योंकि वह निम्न जाति से थे। अपनी आत्मकथा में वह इस उद्धरण का उल्लेख करते हुए लिखते हैं कि, ''जोहड़ के पानी में गर्मी से बचने के लिए अपनी टंगे सिकोड़े दो-तीन भैंस बैठी थीं। पानी में हर जगह कालापन था। एक जगह चुल्लूभर पानी देकर मुंह में डाला। सवर्ण जाति के लोगों ने तो हमें आदमी ही मानने से इंकार कर दिया था। तभी तो मुझे जानवरों के साथ पानी पीना पड़ा था।''[9] पूरे आत्मसम्मान के साथ जीने का अधिकार समाज का प्रत्येक व्यक्ति रखता है। इसी आत्मसम्मान को पाने के लिए लेखक अपने कलम को बड़ी नुकीली तरह से चलाते हैं। वह बताते हैं कि दलित समाज के भीतर भी अपने आत्मसम्मान को पाने की लालसा रहती है, जिसका वर्णन वह इस प्रकार करते हैं कि, बहन का ससुर शराब पीने के बाद भले ही बदहवास हो जाए लेकिन नशे में ही सही वह जो बोलता है सच ही बोलता है, ''स्साले बामन, म्हारे मेहमान को पानी देने से मना कर दिया। ताम इत्ते उच्चे हो गए। ठहर जाओ, मैं तमारे पानी में पिसाब कर दूंगा। थूक्कूंगा, फेर पीना उस्से। म्हारे मेहमान ढोर-डंगरों के साथ पानी पियै...।''[10] अत: दलित समाज के भीतर कितना आक्रोश भरा पड़ा है, इसका अंदाजा बहन के शराबी ससुर की बातों से लगा सकते हैं। यही दर्द लेखक की कलम से विद्रोह बनकर उभरा है। इसी विद्रोह को चेतना मुक्ति का मार्ग या अस्मिता के लिए किया जाने वाला संघर्ष कहा जाता है।

अपने समाज को यथार्थ रूप में चित्रित करने वाले लेखक डॉ. तुलसीराम हैं। उन्होंने अपनी आत्मकथा 'मुर्दहिया' में दलित समाज की सम्पूर्ण संस्कृति एवं सामाजिक परिवेश को उजागर किया है। प्रस्तुत आत्मकथा 'मुर्दहिया' के केंद्र में है- दलित जीवन, दलित संघर्ष, दरिद्रता, लोक-जीवन, आदि। मुर्दहिया में अन्धविश्वास बड़े उफान के साथ दिखाई देता है। अंधविश्वास के प्रति इतनी रूचि दिखाने का बड़ा कारण है 'दलित समाज' का अशिक्षित होना। इसी अशिक्षा के कारण डॉ. तुलसीराम भी अंधविश्वास का शिकार हुए जिसका हर्जाना उन्हें पूरी जिंदगी भुगतना पड़ा। इस अंधविश्वास के बारे में बताते हुए वह लिखते हैं कि, ''मेरे ऊपर चेचक का इतना जबरदस्त प्रकोप था कि जीवित रहने की उम्मीद लगभग घर वाले लगभग छोड़ चुके थे। देवी-देवताओं के मनौती के

अलावा कोई चिकित्सकीय इलाज किसी भी तरह संभव नहीं था, क्योंकि घर वाले घोर अंधविश्वास के कारण दवा लेने से हठ के साथ इनकार कर देते थे।''[11] अत: लेखक ने अपनी आत्मकथा में इस तरह के अंधविश्वास पर गहरा कटाक्ष किया है। वह शिक्षा के प्रति गहन रूचि रखते थे और इसी रूचि के कारण वह अपनी कई तरह की समस्याओं को झेलते हुए अपनी शिक्षा प्राप्त करने में सफल भी हुए।

समाज में दलितों के प्रति छुआछूत की जो भावना पनप रही थी उसको को भी लेखक ने अपनी आत्मकथा में उजागर किया है। इस भावना ने दलित वर्ग के व्यक्तियों के मानसिक स्तर को झकझोर दिया। उनके भीतर नकारात्मकता का भाव पैदा हो गया जिससे वह पिछड़ गए। छुआछूत की इसी भावना को तुलसीराम व्यक्त करते हैं कि हमें स्कूल में स्वयं के हाथों से बर्तन छूकर पानी पीने की स्वतंत्रता नहीं थी इसके लिए दूसरे व्यक्ति की मदद लेनी पड़ती थी। वह लिखते हैं कि, ''हम अंजुरी मुंह से लगाए झुके रहते, और वे बहुत ऊपर से चबूतरे पर खड़े-खड़े पानी गिराते। वे पानी बहुत कम पिलाते थे, किंतु सिर पर गिराते ज्यादा थे जिससे हम बुरी तरह भीग जाते थे। इस खेल में मिसिर बाबा का बड़ा मनोरंजन शामिल था।...पानी पीना वास्तव में एक विकट समस्या थी।''[12] यह समस्या कोई बहुत पुराने दौर की नहीं है बल्कि भारत देश के स्वतंत्र होने के पश्चात की है। भारतीय संविधान में मिले अधिकारों के बावजूद भी दलित समाज के साथ हीनतापूर्ण व्यवहार किया जाता था।

'जूठन' आत्मकथा जातिगत उत्पीड़न का दस्तावेज है। जूठन के लेखक डॉ. ओमप्रकाश वाल्मीकि हैं। उनके द्वारा लिखती यह आत्मकथा पाठकों के कलेजे को उद्वालेती कर देती है। इस आत्मकथा के केंद्र में सिर्फ लेखकीय जीवन ही नहीं बल्कि समय-समाज भी उपस्थित है। समाज द्वारा दलित व्यक्ति को उपेक्षा की दृष्टि से देखना तथा उसके साथ अत्याचार करने जैसी समस्याओं का वर्णन लेखक ने किया है। इसी अत्याचार और उपेक्षा से उभरा है 'दलित विद्रोह'। दलित जीवन और उसकी पीड़ा को चित्रित करते हुए आत्मकथा की भूमिका में लिखा है कि, ''दलित-जीवन की पीड़ाएं असहनीय और अनुभव-दग्ध हैं। ऐसे अनुभव जो साहित्यिक अभिव्यक्तियों में स्थान नहीं पा सके। एक ऐसी समाज-व्यस्था में हमने साँस ली है, जो बेहद क्रूर और अमानवीय है। दलितों के प्रति असंवेदनशील भी।''[13] जूठन उन घटनाओं और पीड़ाओं के अनुभवों से उपजी कराह है। यह कराह लेखक की ही नहीं बल्कि पूरे दलित समाज की कराह है। दलित समाज के व्यक्ति को स्थान-स्थान पर जातिगत उत्पीड़न झेलना पड़ता है, फिर यह स्थान पवित्र मंदिर हो या विद्यालय। अपने विद्यालय जीवन में हुए शोषण को लेखक वर्णित करते हुए लिखते हैं कि, ''दूसरे दिन स्कूल पहुंचा। जाते ही हेडमास्टर ने फिर झाड़ू के काम पर लगा दिया। पूरे दिन झाड़ू देता रहा। मन में एक तसल्ली थी कि कल से कक्षा में बैठ जाऊंगा।...तीसरे दिन मैं कक्षा में जाकर चुपचाप बैठ गया। थोड़ी देर बाद उनकी दहाड़ सुनाई पड़ी, अबे ओ चूहड़े के, मादरचोद कहाँ घुस गया....अपनी माँ... ।''[14] एक व्यक्ति को स्वयं के लिए ऐसे अपशब्द सुनना बेहद दुखदायी था। दलित व्यक्ति को यह अपशब्द बार-बार सुनने पड़ते थे। भारतीय संविधान में व्यक्ति को समानता का अधिकार तो प्राप्त है लेकिन व्यवहारिक स्तर पर व्यक्ति को समानता का अधिकार नहीं दिया जाता। दलित समाज आज भी असमानता का सामना करने पर मजबूर है। लेखक ने इसी असमानता को झेला और उसका वर्णन करते हुए लिखा है कि कैसे एक धोबी उसके कपड़े इस्तरी करने से मना कर देता है, ''हम चूहड़े-चमारों के कपड़े नहीं धोते, न ही इस्तरी करते हैं। जो तेरे कपड़े पे इस्तरी कर देंगे तो तगा हमसे कपड़े न धुलवाएंगे, म्हारी तो रोजी-रोटी चली जा गी....।''[15] समाज में छूआछूत का वातावरण इस कद्र हावी था कि उच्च वर्ग का व्यक्ति किसी जानवर से भले छू जाए तो अपशकुन न मानते लेकिन किसी निम्न जाति के व्यक्ति से छू जाते तो वह अपशकुन हो जाता था। इतना ही नहीं यह अत्याचार तो इस कदर हावी था कि गली मोहल्ले में कोई शादी-ब्याह होता तो छोटी जाति के व्यक्तियों को उनके दरवाजे पर खड़े रहने तक ही अनुमति होती। कोई भी व्यक्ति उस दरवाजे की दहलीज को पार ना करता था। दलित समाज की स्त्रियाँ जूठी बची कुची पत्तालों को अपने टोकरियों में भरकर ले जाती और उसी से उनके खाने का इंतजाम हो जाता। सुखदेव सिंह त्यागी की लड़की के ब्याह के समय जब सब बाराती भोजन करके चले गए तो माँ ने सुखदेव सिंह से कहा कि मेरे जाक्तों के लिए भी कुछ भोजन दे दें। इस पर सुखदेव पत्तलों से भरे टोकरे की ओर देखते हुए तंज कसते हए कहता कि, ''टोकरा भर तो जूठन ले जा री है... उप्पर से जाक्तों के लिए खांणा माँग री है? अपणी औकात में रह चूहड़ी। उठा टोकरा दरवाजे से और चलती बन।''[16] अपने आत्मसम्मान को ठेस लगते देख माँ

बर्दाश न कर सकी और पत्तलों से भरे टोकरे को वहीँ बिखर दिया और सुखदेव सिंह को ललकारती हुई कहते हुए ऐसे निकली जैसे तीर से कमान निकलता है। माँ के भीतर जैसे काली माता ने जन्म ले लिया हो, ''इसे ठाके अपने घ में धर ले। कल तड़के बारातियों को नाश्ते में खिला देगा..।''[17] माँ द्वारा इस तरह चिंघाड़ना जीवन में नए अध्याय का खुलना था। इस घटना के बाद से लेखक के घर में जूठन उठाने का सिलसिला बंद हो गया। यह आत्मचेतना के द्वार का खुलना था।

निष्कर्षत: कहा जा सकता है कि, दलित आत्मकथाओं में वर्णित सामाजिक परिवेश और उस परिवेश से संघर्ष करते दलित नायक के जीवन संघर्ष का दस्तावेज हैं दलित आत्मकथाएँ। आत्मकथा लेखक के आत्मसंघर्ष की गहरी गूंज है। आत्मसंघर्ष के द्वारा ही समाज को बदलने का प्रयास किया जा सकता है। दलित लेखकों ने बिना किसी झिझक के अपने सच को दुनिया के सामने रखने का सफल प्रयास किया है। इन्होंने जितना संघर्ष अपने जीवन में झेला उसका खुलकर विरोध भी किया है। हिंदी दलित आत्मकथाओं में दलितों के जीवन का त्रासदीपूर्ण चित्रण हुआ है। इस चित्रण को करने का उद्देश्य था कि लेखक अपनी आत्मकथाओं में अस्मितामूलक विमर्श को उभार सके। अपने अधिकारों को प्राप्त करने में भले कितना ही संघर्ष उन्हें करना पड़ा लेकिन अपने मुख्य अधिकारों हासिल करने में कुछ हद तक ही सही सफल तो हुए हैं। लेखकों ने ब्राह्मणवादी मानसिकता के सामने घुटने नहीं टेके।

अत: दलित लेखकों ने अपनी कलम के माध्यम से अपनी अस्मिता को बाचने का पूरा प्रयास किया और अपने समाज को भी जागृत करने का कार्य किया है। भारतीय समाज अपनी रूढ़िगत मानसिकता से आज भी पूरी तरह नहीं उभरा है। आज भी यह संघर्ष जारी है और अभी पूरी तरह से समाज में समानता मिले इसके लिए एक लम्बी यात्रा तय करनी बाकी है।

शोधार्थी
हिंदी विभाग
जयप्रकाश विश्वविद्यालय छपरा, छपरा

सन्दर्भ सूची

1. दुबे, अभय कुमार (सं.) : भारत का भूमंडलीकरण, दिल्ली, वाणी प्रकाशन, पृ. 455
2. कर्दम जयप्रकाश, (2003) : नया मानदंड (पत्रिका-दलित आत्मकथा अंक), वाराणसी, आचार्य रामचंद्र शुक्ल शोध संस्था दुर्गा कुंद, पृ. 15
3. सक्सेना, राम प्रकाश (सं.), (2015) : वर्धा हिंदी शब्दकोश, दिल्ली, भारतीय ज्ञानपीठ, पृ. 579
4. नैमिशराय, मोहनदास, (2009) : अपने-अपने पिंजरे, दिल्ली, वाणी प्रकाशन, पृ. 18
5. वही, पृ. 33
6. वही, पृ. 77
7. वही, पृ. 31
8. वही, पृ. 32
9. वही, पृ. 69
10. वही, पृ. 70
11. राम, डॉ. तुलसी, (2015) : मुर्दहिया, दिल्ली, राजकमल प्रकाशन, पृ. 11-12
12. वही, पृ.54
13. वाल्मीकि, ओमप्रकाश, (2009) : जूठन, दिल्ली, राधाकृष्ण प्रकाशन, पृ. भूमिका
14. वही, 15
15. वही, पृ. 28
16. वही, पृ. 21
17. वही, पृ. 21

बदलते समय के साथ अभिभावकों के अलगाव से उत्पन्न बालमन का अंतर्द्वंद्व

(मन्नू भंडारी के उपन्यास 'आपका बंटी' के संदर्भ में)

मुक्ता धामा* प्रो. (डॉ.) राजमोहिनी सागर**

सारांश

आज के बदलते समय में जहाँ व्यक्तिगत स्वतंत्रता और व्यवसाय को प्राथमिकता दी जा रही है, वहीं वैवाहिक संबंधों में बिखराव की दर भी बढ़ी है। जब दो वयस्क अलग होने का निर्णय लेते हैं तो इस पूरी प्रक्रिया में सबसे अधिक प्रभावित उस घर का बालमन होता है। एक बच्चे के लिए उसके माता-पिता उसका पूरा ब्रह्मांड होते हैं। अभिभावकों का अलगाव उसके लिए केवल एक कानूनी प्रक्रिया नहीं, बल्कि उसके मानसिक सुरक्षा कवच का टूटना है। वह एक ऐसे अंतर्द्वंद्व में फंस जाता है जहाँ उसे यह चुनना पड़ता है कि वह पिता का पक्ष ले या माँ का। यह 'विभाजित निष्ठा' उसे मानसिक रूप से थका देती है।

मन्नू भंडारी के 'आपका बंटी' जैसे संदर्भों को देखें, तो समझ आता है कि बच्चा खुद को एक 'फालतू वस्तु' समझने लगता है। जब माता-पिता अपने नए जीवन में व्यस्त हो जाते हैं, तो बच्चे को लगता है कि उसकी अब कोई जरूरत नहीं है। वह खुद से सवाल करने लगता है 'मैं किसका हूँ?' भावनात्मक रिक्तता और व्यवहार में बदलाव अभिभावकों के अलगाव से उपजे अंतर्द्वंद्व के कारण बच्चों में कई व्यवहारिक परिवर्तन देखे जाते हैं।

बीज शब्द

बालमन का मानसिक संघर्ष, अंतर्द्वंद्व, अलगाव, विवाह-विच्छेद, वैवाहिक जीवन में संघर्ष।

बालमन कितना सरल है और साथ ही कितना विचित्र भी। उसमें जितनी, कोमलता, सरलता, सहजता और मासूमियत है, उतनी ही भावुकता, जिज्ञासा, उत्सुकता और कौतूहल भी। उदाहरणत: देखें तो हम पाते हैं कि यह बालमन कभी तो किसी बड़ी से बड़ी घटना को भी अत्यन्त सहजता से ले लेता है और कभी वह किसी छोटी बात पर हैरान परेशान सा होने लगता है। किसी ने ठीक ही कहा है कि 'बालक का मन सरल, निष्पाप, कोमल आदि ही नहीं, बल्कि वह बहुत ही जटिल, कुटिल होता है। वास्तव में बालमन अपनी अदम्य जिज्ञासुवृत्ति के कारण अनेक सुलझे अनसुलझे प्रश्नों से भरे हुए एक पिटारे की भांति होता है। यदि उसके ये नन्हें-नन्हें प्रश्न सुलझा दिये जायें तो ठीक है और यदि ये प्रश्न न सुलझ पायें तो यह बालमन स्वयं ही अनेक कल्पनाओं द्वारा उन्हें सुलझाने का प्रयास करता है। अगर ये सब नहीं सुलझे तब उसके छोटे से मन में उठने लगती है विराट अंतर्द्वंद्व की अनगिनत लहरें और ये लहरें बालमन को बाहरी तौर पर भी एवं भीतरी तौर पर भी सम्पूर्णत: प्रभावित कर देती है।

मन्नू भण्डारी जी के 'आपका बंटी' नामक उपन्यास में 'बंटी' भी एक ऐसा अन्तर्द्वंद्वग्रस्त बच्चा है जो अपने माता-पिता के अलगाव को लेकर बहुत दुविधा और तनाव में है। मन्नू भण्डारी जी का यह उपन्यास पूर्णत: इस बच्चे पर ही आधारित है। अपने उपन्यास में मन्नू भण्डारी जी ने दाम्पत्य सम्बन्धों के बिखराव और आने वाली पीढ़ी पर उसके कुप्रभावों को बंटी के माध्यम से चित्रित किया है। माता-पिता के बीच अलगाव हो जाने के पश्चात् दोनों की सन्तान को जिस असहनीय मानसिक संघर्ष के दौर से गुजरना पड़ता है, उसे मन्नू भण्डारी जी ने एक नये धरातल पर प्रस्तुत किया है। इस संघर्ष से गुजरने वाला बच्चा है, 'अरूप बत्रा' उर्फ 'बंटी'। 'ममता शुक्ल' के शब्दों में-''नि:सन्देह उपन्यास में उठायी गयी समस्या टूटते वैवाहिक सम्बन्धों में संवेदनशील बच्चे की स्थिति एक विशिष्ट समस्या है जिसे हिन्दी में शायद पहली बार उठाया

गया है।''

मन्नू भंडारी का उपन्यास 'आपका बंटी' (1971) हिंदी साहित्य की एक कालजयी रचना है जो तलाक और पारिवारिक विघटन के बीच पिसते हुए एक बाल मन की त्रासदी को बेहद सूक्ष्मता से उकेरती है। बदलते दौर में जब तलाक के मामले बढ़ रहे हैं, यह उपन्यास आज भी उतना ही प्रासंगिक है जितना पचास साल पहले था। यहाँ 'आपका बंटी' के संदर्भ में बच्चों पर पड़ने वाले मनोवैज्ञानिक प्रभावों का विश्लेषण दिया गया है। भारत में पारिवारिक अध्ययन पर साहित्य पिछले दो दशकों में काफी हद तक विकसित हुआ है। प्राचीनकाल में विवाह को सात जन्मों का बंधन भी माना जाता था लेकिन वर्तमान में पवित्र संस्कार पर ऐसी नजर किसकी लगी कि यह सिर्फ सात दिनों का बधन मात्र रह गया। पति-पत्नी में परस्पर प्रेम अभाव, संतान सुख का प्राप्त होना या न होना, दाम्पत्य जीवन में हमेशा कलह होकर अतत: तलाक होना, आए दिन दम्पत्ति का झगड़ना, पति द्वारा पत्नी की हत्या या पत्नी द्वारा पति की हत्या करना, वैधव्य जीवन कारण, एक या बहुविवाह, वैवाहिक जीवन में इन्हीं संघर्षों से अलगाव तथा तलाक के मामलों में वृद्धि हुई है। वैवाहिक जीवन में संघर्ष तथा तलाक से उत्पन्न पीड़ा तथा वेदना से मानवीय व आर्थिक रूप से समाज को अत्यधिक क्षति होती है। इस संदर्भ में विवाह पूर्व परामर्श की भूमिका महत्वपूर्ण हो जाती है। आज तीव्र आर्थिक एवं सामाजिक परिवर्तनों से जीवन में अनेक दबाव बढ़ रहे हैं।

हम अक्सर देखते हैं, कि तलाक बच्चों की मनोस्थिति और शारीरिक स्वास्थ्य को रोगी बना देता है। तलाक के बाद सबसे स्पष्ट परिवर्तन बच्चों की जीवनशैली में, आर्थिक स्थिति में, बच्चों के भावनात्मक व्यवहार में आता है। तलाक से उनकी भावनात्मक सुरक्षा पर नकारात्मक प्रभाव पड़ सकता है। वे दो-घरों में रहना शुरू कर देते हैं और उनके माता-पिता अक्सर संवाद नहीं करते हैं। बच्चों को विभिन्न तीव्र भावनाओं का सामना करना पड़ता है -शर्म, क्रोध, अपराधबोध, अविश्वास और अलगाव आदि। ऐसी स्थितियों में, बच्चों को ऐसे माता-पिता की आवश्यकता होती है जो जानते हों कि ऐसा माहौल कैसे बनाया जाए जिससे बच्चे अपनी भावनाओं को व्यक्त कर सकें और उन्हें स्वीकार कर सकें। ऐसा होने के लिए, माता-पिता को अपने बच्चों की भावनाओं और जरूरतों के प्रति समझदार और उत्तरदायी होने की आवश्यकता है। यह योगदान तलाक की प्रक्रिया के दौरान बच्चों के लिए राहत के तरीके प्रस्तुत करता है।

भारतीय महिला के व्यक्तित्व की सरलता और महत्व जोड़ी के सामाजिक आदर्श से काफी हद तक जुड़ा हुआ है। कई महिलाओं ने अपनी वित्तीय स्वायत्तता की परवाह किए बिना, एक कठोर पति को छोड़ने के बजाय शर्मिंदगी सहने का फैसला किया और कुछ महिलाओं ने अपमानजनक वैवाहिक दबाव और जीवन साथी के प्रति गुस्से के बीच आत्महत्या का विकल्प चुना। एक भारतीय महिला चाहे पारंपरिक हो या आधुनिक, घरेलू और मातृ संबंधी प्रतिबद्धताओं को अपने व्यक्तित्व के लिए मौलिक मानती है। महिलाओं की बच्चों के प्रति जिम्मेदारी और पति के प्रति कर्तव्य उसकी पहली प्राथमिकता होता है ।आज के इस बाजारवाद का प्रभाव लोगों के अंदर इस हद तक घर कर गया है कि उन्हें अपने बिखरते परिवार की भी फिक्र नहीं रहती। इस पुरुष प्रधान समाज में स्त्रियों की आत्मनिर्भरता कभी-कभी परिवार विच्छेद के रूप में उभर कर सामने आती है, जिसका प्रभाव सबसे ज्यादा बच्चों की मानसिकता पर पड़ता है, फलस्वरूप एक मासूम सा बचपन मुरझा कर रह जाता है। यह उपन्यास आज के आधुनिक समाज की उस व्यवस्था से पर्दा उठाता है जिसमें लोग अपनी स्वार्थपरता हेतु बच्चों की भावनाओं को अनदेखा ही नहीं करते उनकी अवहेलना करने से भी नहीं डरते। इस उपन्यास के शिल्प में गतिशीलता है, क्योंकि यहाँ संघर्ष घटनाओं में न चलकर विचारों में चलता है।

बंटी के माता-पिता शकुन और अजय एक-दूसरे को न झेल पाने के कारण दूसरा विकल्प ढूंढ़ लेते हैं, परन्तु बंटी दोनों को एक करने के प्रयास में विफल होने के कारण अंतर्मुखी हो जाता है और यह प्रवृत्ति इस हद तक बढ़ जाती है कि वह असामान्य की स्थिति तक पहुँच जाता है और बच्चे की घायल होती संवेदना परिवार के लिए एक भयानक रूप धारण कर लेती है। यह कहना अत्यंत कठिन है कि मन्नू भंडारी कृत आपका बंटी एक नौ साल के बच्चे की घायल होती संवेदनाओं की कहानी है या शकुन के जीवन का सत्य जिसमें वह अपनी महत्वाकांक्षा और आत्मनिर्भरता का बोझ उठाते हुए नजर आती है। बड़ों की महत्वाकांक्षाओं का भार ढोते हुए बच्चे किस तरह का जीवन जीने के लिए विवश हो जाते हैं यह एक चिंता का विषय बनता जा रहा है।

वस्तुत: 'आपका बंटी' उपन्यास में बंटी के अंतर्द्वंद्वों का प्रमुख कारण उसके माता-पिता का अलगाव है। वहीं साथ ही

साथ अकेलेपन के कारण, कभी साथियों की उपेक्षा के कारण और कभी अपनी जिज्ञासावृत्ति के कारण भी यह अंतर्द्वंद्व उसमें पैदा हो जाता है। किन्तु इन सबके मूल में एक ही कारण प्रमुख रहा है और वह है-माता-पिता का अलगाव, क्योंकि इसी अलगाव ने बंटी को उपेक्षित और अकेला बना दिया। जहां मन्नू भण्डारी जी ने खण्डित दाम्पत्य की पीड़ा को वर्णित किया है वहीं उन्होंने सिसकते तथा तड़पते बचपन की विवशता को भी उजागर किया है। अत: बंटी के बालमन में उत्पन्न अंतर्द्वंद्वों के विभिन्न पहलुओं को समझने के लिए उसके इस कारण को सूक्ष्मता से विवेचित करना उचित होगा।

बाल्यावस्था एक ऐसी अवस्था है कि जब बच्चा एक ऐसे नाजुक और मासूम मोड़ पर होता है जहां उसके माता-पिता ही उसके लिए सब कुछ होते हैं। उसका परिचय केवल उन तक ही सीमित होता है और उसका दायरा भी अपने माता-पिता के इर्द-गिर्द घूमता रहता है, मानो वही इसकी दुनिया हो। वह एक पल के लिए भी उनका बिछोह नहीं सहन कर पाता तथा वह उन्हें ही अपने एकमात्र सहारे के रूप में देखता है। उसके विचार, उसकी सोच तथा उसका पूरा व्यक्तित्व अपने माता-पिता के निर्देशन में विकास पाता है। बच्चे के लिए उसके माता-पिता ही उसके अमूल्य सम्पत्ति होते हैं। उपन्यास में बंटी का सबसे बड़ा संघर्ष जुड़ाव का है। वह अपनी माँ (शकुन) और पिता (अजय) के बीच एक कड़ी है, लेकिन जब वह कड़ी टूटती है, तो बंटी का अस्तित्व हिल जाता है। जिसके कारण उसके जीवन में बहुत सी समस्याएं उत्पन्न होने लगते हैं जैसे—

1. पहचान का संकट और असुरक्षा - बच्चे के मन में यह स्थायी डर बैठ जाता है कि 'मेरा घर कौन सा है?' जब बंटी पिता के घर जाता है, तो उसे वहां परायापन लगता है, और जब माँ दूसरी शादी (डॉ. जोशी से) करती है, तो वह अपने ही घर में 'अवांछित' महसूस करने लगता है। बंटी का यह सोचना कि 'मैं किसका हूँ? मम्मी का या पापा का?' उसकी गहरी असुरक्षा को दर्शाता है।

2. दो पाटों के बीच पिसता बचपन - मन्नू भंडारी ने दिखाया है कि कैसे बच्चा माता-पिता के अहंकार की लड़ाई में एक 'मोहरा' बन जाता है। बंटी को लगता है कि उसे एक वस्तु की तरह इधर-उधर फेंका जा रहा है। माता-पिता एक-दूसरे को नीचा दिखाने के लिए बंटी का इस्तेमाल करते हैं। इससे बच्चे में आत्म-सम्मान की कमी और अपराध बोध जन्म लेता है। उसे लगता है कि शायद माता-पिता के झगड़े की वजह 'वह' खुद है। पिता अजय जब बंटी को महंगे खिलौने दिलाते हैं, तो वह प्रेम से अधिक शकुन को नीचा दिखाने का प्रयास होता है। इस खींचतान में बंटी का बालमन कुचल जाता है।

3. एकाकीपन और अलगाव - जैसे-जैसे शकुन और अजय अपनी नई जिंदगियों में आगे बढ़ते हैं, बंटी अकेला पड़ जाता है। बदलता समय और माता-पिता की 'अपनी खुशी' की तलाश बच्चे को भावनात्मक रूप से अनाथ कर देती है। बंटी अंतर्मुखी हो जाता है और काल्पनिक दुनिया में जीने लगता है। जब शकुन की शादी डॉ. जोशी से होती है, तो बंटी को लगता है कि उसकी माँ अब 'बंटी की माँ' नहीं रही, बल्कि किसी और की पत्नी हो गई है। यह अलगाव उसे विद्रोही बना देता है।

4. विद्रोह और आक्रामकता - मनोवैज्ञानिक दबाव जब सीमा पार कर जाता है, तो वह गुस्से और जिद् के रूप में बाहर आता है। जो बंटी पहले संवेदनशील था, वह बाद में जिद्दी और उपद्रवी हो जाता है। यह 'ध्यान आकर्षित करने' का एक नकारात्मक तरीका है। बच्चे अक्सर अपनी पीड़ा शब्दों में नहीं कह पाते, इसलिए वे व्यवहार से उसे जाहिर करते हैं। बंटी का नए पिता (डॉ. जोशी) को स्वीकार न करना, उनका नाम बिगाड़ना, या हॉस्टल जाने के नाम पर पत्थर हो जाना यह सब उसके अंदर चल रहे तूफान का संकेत है।

5. समय से पहले परिपक्वता - तलाकशुदा परिवारों के बच्चों का बचपन अक्सर छीन लिया जाता है। उन्हें उन जटिलताओं को समझने पर मजबूर होना पड़ता है जो उनकी उम्र के लिए नहीं हैं। बंटी को न चाहते हुए भी वयस्क की दुनिया के छल-कपट और राजनीति का हिस्सा बनना पड़ता है। उसका मासूम बचपन कहीं खो जाता है। उपन्यास के अंत में बंटी का हॉस्टल जाना एक 'समाधान' नहीं, बल्कि उसे समस्या से दूर 'फेंक' दिया जाना है। वह एक ऐसा बच्चा बन जाता है जिसकी आँखों में अब सवाल नहीं, बल्कि एक पथराया हुआ सूनापन है।

दूसरी तरफ शकुन उपन्यास की धुरी है। वह एक कॉलेज में प्रिंसिपल है, आर्थिक रूप से स्वतंत्र है और आधुनिक विचारों वाली महिला है। लेकिन उसके भीतर एक गहरा द्वंद्व चलता रहता है।

'माँ' और 'स्त्री' के बीच का संघर्ष : दोहरी मानसिकता - शकुन बंटी से बेहद प्यार करती है, लेकिन साथ ही वह अपनी 'निजी खुशी' भी चाहती है। तलाक के

बाद वह अकेलेपन से जूझ रही है। जब वह डॉ. जोशी से शादी करने का फैसला करती है, तो उसे लगता है कि वह बंटी को एक 'पिता' दे रही है, जबकि वास्तव में वह अपने लिए 'पति' खोज रही होती है।

अधिकार और असुरक्षा : शकुन बंटी पर अपना संपूर्ण अधिकार जताना चाहती है। जब बंटी पिता (अजय) से मिलता है, तो शकुन को ईर्ष्या होती है। वह चाहती है कि बंटी सिर्फ उसका होकर रहे।

त्रासदी : शकुन की त्रासदी यह है कि वह एक 'सफल स्त्री' बनकर उभरती है, लेकिन एक 'असफल माँ' साबित होती है। डॉ. जोशी के आने के बाद, बंटी का अस्तित्व उसके लिए एक बाधा बन जाता है। वह बंटी को प्यार तो करती है, लेकिन उसे समझने में चूक कर जाती है कि बंटी को 'नया पिता' नहीं, बल्कि 'वही पुरानी माँ' चाहिए थी।

शकुन का पात्र यह सवाल उठाता है क्या एक माँ को अपनी खुशियों के लिए जीने का हक नहीं है? और अगर है, तो उसकी सीमा क्या हो जहाँ बच्चे का हित प्रभावित न हो?

''इतनी कोशिश करने पर भी वह बंटी को इस घर में रचा बसा नहीं सकी। वह इसे अपना घर समझ ही नहीं सका। पता नहीं क्या चाहता था वह इस घर से? नहीं, शायद शकुन से।

''अजय ने भी न जाने क्या चाहा था उससे? वह नहीं दे पायी तो अजय उसकी जिन्दगी से निकल गया। अब बंटी भी कुछ चाहता था।''

''पता नहीं बंटी ही चाहता था या कि अजय ही बंटी में उतरकर नये सिरे से फिर वही चाहने लगा था, जो तब वह उसे नहीं दे पायी थी।''

अर्थात् अंतर्द्वंद्वग्रस्त शकुन यहां बंटी को अपनी जिन्दगी का अभिन्न अंग मानती है वहीं दूसरी ओर वह उसे एक अनावश्यक तत्व सोचने लगी है। यह अंतर्द्वंद्व शकुन की सोच में कई बदलाव और मोड़ लाता है जो कभी शकुन के हृदय को थोड़ी तसल्ली तो कभी बहुत बेचैनी उपहार स्वरूप दे जाते हैं।

इस प्रकार 'आपका बंटी' उपन्यास की शकुन को अंतर्द्वंद्व ने पूरी तरह झिंझोड़ कर रख दिया। यह अंतर्द्वंद्व जो पति-पत्नी के बीच अहं जनित था, उसने शकुन और अजय के न केवल दाम्पत्य जीवन को छिन्न-भिन्न कर दिया, बल्कि उसने शकुन की पूरी जिंदगी और नन्हें बंटी के पूरे बचपन को कुचल दिया। उपन्यास के दोनों पात्र अपनी-अपनी दुविधाओं और द्वन्द्वों के कारण पूर्णत: उलझ गये। वास्तव में शकुन का भीषण अंतर्द्वंद्व उसके जीवन का सारा रस चूस गया। इस अंतर्द्वंद्व के कारण उसे न जाने कितने चाहे-अनचाहे निर्णय लेने पड़े तथा इन्हीं निर्णयों ने शकुन के जीवन को अनेक अजीबोगरीब स्थितियों में डाल दिया।

उपन्यास में तीसरा किरदार अजय यानी शकुन का पति और बंटी का पिता की भी एक अहम् भूमिका देखने को मिलती है। अजय का पात्र पुरुष-प्रधान समाज के उस चेहरे को दिखाता है जहाँ बच्चा 'प्रेम' का नहीं, बल्कि 'अहंकार' के प्रदर्शन का माध्यम बन जाता है।

अहंकार की लड़ाई : अजय बंटी का इस्तेमाल शकुन को नीचा दिखाने के लिए करता है। वह बंटी को महंगे खिलौने और सुविधाएँ देता है, पर 'समय' और 'संवेदना' नहीं। उसका प्रेम दिखावटी अधिक है।

जिम्मेदारी से पलायन : अजय जब बंटी को अपने पास बुलाता है (जब शकुन शादी कर लेती है), तो वह वहां भी बंटी को अपना नहीं पाता। उसकी दूसरी पत्नी (मीरा) और उसके बच्चे के सामने बंटी 'फालतू' हो जाता है। अजय बंटी के मानसिक उथल-पुथल को संभालने के बजाय उसे हॉस्टल भेजने का आसान रास्ता चुनता है।

पितृसत्तात्मक सोच : अजय को लगता है कि पैसा खर्च करके वह पिता होने का फर्ज निभा रहा है। वह बंटी की भावनाओं की गहराई में कभी नहीं उतरता। उसके लिए बंटी उसका और शकुन का बेटा कम, और शकुन पर कसा जाने वाला तंज ज्यादा है।

आज का युग परिवर्तन का युग है तथा इस आधुनिक युग में पति-पत्नी के जीवन सम्बन्धों में बहुत अधिक परिवर्तन लक्षित किया गया है। आज सम्बन्धों में मधुरता और स्नेह का स्थान कड़वाहट और उपेक्षा ने ले लिया है। वही इस बदलाव के पीछे कारण कुछ भी रहा हो। किन्तु इस तथ्य से कदापि इन्कार नहीं किया जा सकता कि पति-पत्नी के सम्बन्ध आधुनिकता के इस दौर में अपना वास्तविक मूल्य और अर्थ पूर्णत: विस्मृत कर चुके हैं। यही कारण है कि आज अदालतों में तलाक के मुकद्दमे बढ़ते जा रहे हैं। एक दूसरे को सहयोग देने की भावना के स्थान पर एक दूसरे का विरोध तथा टकराव करना ही मानो इन दाम्पत्य सम्बन्धों का आधार बनता जा रहा है। इसका प्रमुख कारण है आज पति-पत्नी दोनों का अहं प्रमुख हो रहा है जिसके कारण सामंजस्य स्थापित करने की

भावना लुप्त होती जा रही है।

इस अहं का प्रमुख कारण है शिक्षा के प्रत्येक क्षेत्र में नारी की प्रगति और उसके विचारों में बदलाव। समय के साथ नारी की स्थिति, सोच, रहन-सहन में बदलाव आया है, लेकिन पुरुष में नारी के प्रति सोच में रत्ती-भर भी बदलाव नहीं आया है। वह आज भी नारी को समर्पिता, आज्ञाकारिणी, सुगृहिणी, तानो को चुपचाप सह लेने वाली सही-गलत पर तर्क न करने वाली के रूप में ही चाहता है। पढ़ी-लिखी सहधर्मिणी या सहचारिणी के रूप में नहीं, सखी के रूप में नहीं। स्त्री में बुद्धि नहीं होती या स्त्री मार खाकर ही ठीक रहती है, जैसी धारणाएं आज भी पुरुष धारण किये हैं। समय के साथ पुरुष बहुत नहीं बदला, नारी बदल गयी है और यही कारण है कि अब अहं का टकराव होता है। पहले नारी पुरुष के अहं को पोषती थी। अब वह अपने को पुरुष के समकक्ष पाती है तो उसका अपना अहं भी जागृत हो जाता है।

इसी कारण पति-पत्नी के आपसी सम्बन्ध द्वन्द्वात्मक होते जा रहे हैं और आज सम्बन्धों के बीच गहराते इन्हीं द्वन्द्वों ने जीवन की सफलता और सार्थकता पर प्रश्न चिन्ह लगा दिया है। आधुनिक युग में दाम्पत्य जीवन का यह अंतर्द्वंद्व भरा विग्रह अहं के टकराव के कारण बड़ी तेजी से अपने अस्तित्व जमा रहा है।

नये दौर के संवेदनशील लेखक-लेखिकाओं ने इन्हीं कारणों से दाम्पत्य-जीवन की इन जटिल समस्याओं तथा विविध पहलुओं को अपने साहित्य में प्रमुखता दी है तथा इन्हें लेकर अनेक कहानियों और उपन्यासों का सर्जन किया है। मन्नू भण्डारी ने भी (अपनी कहानियों तथा उपन्यासों में) अपने साहित्य में आधुनिक युग को इस विसंगति तथा इस कड़वी सच्चाई को नि:स्वार्थ अभिव्यक्ति दी है।

मन्नू भंडारी की लेखन शैली और शिल्प ही वह जादू है जो 'आपका बंटी' को महज एक कहानी से उठाकर एक 'मनोवैज्ञानिक दस्तावेज' बना देता है। लेखिका ने बहुत ही सधे हुए तरीके से बंटी के मन की परतों को खोला है। यह उपन्यास की सबसे बड़ी ताकत है। हमें शकुन या अजय के मन की बातें सीधे नहीं पता चलतीं, हमें सिर्फ उनके हाव-भाव और संवाद सुनाई देते हैं ठीक वैसे ही जैसे एक बच्चा बड़ों को देखता है।

उदाहरण: जब माता-पिता कमरे में झगड़ रहे होते हैं, तो लेखिका झगड़े के शब्दों से ज्यादा बंटी के डर और दरवाजे के बाहर उसकी घबराहट का वर्णन करती हैं। बंटी का मन एक जगह स्थिर नहीं रहता। उसके विचार छलांग लगाते हैं। मन्नू भंडारी ने इस भीतरी कोलाहल को पकड़ने के लिए चेतना-प्रवाह शैली का प्रयोग किया है। विचारों का बिखराव भी बंटी के मन में चलता रहता है। बंटी कभी स्कूल के बारे में सोचता है, कभी पापा के खिलौनों के बारे में, और अगले ही पल माँ की उदासी के बारे में। वाक्यों का यह बिखराव उसके मानसिक असंतुलन को दर्शाता है। बाल-मनोविज्ञान के अनुरूप उपन्यास की भाषा बहुत सरल है, लेकिन उसमें गहरा अर्थ छिपा है। बंटी के संवादों में और उसके विचारों में ढेर सारे 'प्रश्न' हैं। 'मेरा घर कौन सा है?', 'मम्मी, तुम शकुन बंटी हो या शकुन जोशी?'

तुलनात्मक विश्लेषण : बंटी की नजर में दोनों

पहलू	शकुन (माँ) का दृष्टिकोण	अजय (पिता) का दृष्टिकोण	बंटी पर प्रभाव
प्राथमिकता	अपनी नई शादी और सामाजिक प्रतिष्ठा।	अपना अहंकार और नई गृहस्थी।	उसे लगता है कि वह किसी की प्राथमिकता नहीं है।
बंटी के प्रति व्यवहार	अति-सुरक्षात्मक लेकिन बाद में उपेक्षापूर्ण।	लाड़-प्यार लेकिन जिम्मेदारी रहित।	वह भ्रमित हो जाता है कभी बहुत प्यार, कभी दुत्कार।
समाधान	बंटी को हॉस्टल भेजना (ताकि नई शादी बच सके।)	बंटी को हॉस्टल भेजना (ताकि नई पत्नी खुश रहे।)	बंटी समझ जाता है कि वह दोनों के लिए 'बोझ' है।

निष्कर्ष : बदलते समय की चेतावनी : ''आपका बंटी'' हमें यह चेतावनी देता है कि कानूनी तौर पर तलाक पति और पत्नी के बीच होता है, लेकिन मनोवैज्ञानिक रूप से वह बच्चे के संपूर्ण अस्तित्व का बंटवारा कर देता है।

आज के आधुनिक समाज में, जहाँ 'स्थान' और 'व्यक्तिगत स्वतंत्रता' की बात होती है, मन्नू भंडारी का यह उपन्यास याद दिलाता है कि बच्चे माता-पिता के जीवन का अहम् हिस्सा हैं। जब रिश्ते टूटते हैं, तो सबसे भारी कीमत उस बच्चे को चुकानी पड़ती है जिसका उसमें कोई दोष नहीं होता। बच्चे को सिर्फ सुविधाएँ नहीं जड़ें चाहिए होती हैं। माता-पिता का अलग होना एक त्रासदी हो सकती है, लेकिन बच्चे को यह महसूस कराना कि वह बोझ है, उससे भी बड़ी त्रासदी है। बदलते समय के साथ आधुनिकता और व्यक्तिगत स्वतंत्रता की चाह ने अभिभावकों को अलग होने का विकल्प तो दिया, लेकिन इस प्रक्रिया में 'बंटी' जैसे बच्चों का मन किस अंतर्द्वंद्व से गुजरता है, उसे यह उपन्यास बखूबी दर्शाता है। वह बड़ों की बातों, उनके तनाव और उनके अहंकार को समझने की कोशिश करता है, जो उसके बालमन के लिए भारी बोझ है। उसका सहज बचपन, खेल-कूद और मासूमियत, माता-पिता के अलगाव की भेंट चढ़ जाती है। वह एक ऐसी 'वस्तु' बन जाता है जिसे कभी माँ अपनी जीत साबित करने के लिए खींचती है, तो कभी पिता। यह उपन्यास बंटी के माता-पिता का मनोवैज्ञानिक विश्लेषण भी है, जो यह स्पष्ट करता है कि कैसे उनके 'अधूरेपन' और 'अहंकार' ने बंटी के बचपन को निगल लिया।

अत: 'आपका बंटी' का निष्कर्ष अत्यंत दुखांत है। यह हमें यह सोचने पर मजबूर करता है कि क्या हम एक ऐसा समाज बना रहे हैं जहाँ बड़ों की खुशियाँ बच्चों की मानसिक शांति की कीमत पर खरीदी जा रही हैं? बंटी का 'अंतर्द्वंद्व' तब तक खत्म नहीं होगा जब तक समाज बच्चों को 'साधन' के बजाय एक 'स्वतंत्र संवेदना' के रूप में देखना शुरू नहीं करेगा।

***शोधार्थी, हिन्दी विभाग,**
दिल्ली विश्वविद्यालय, दिल्ली

****प्रोफेसर, हिन्दी विभाग,**
हंसराज कॉलेज,
दिल्ली विश्वविद्यालय, दिल्ली

सन्दर्भ सूची

आधार ग्रंथ

1. भंडारी, मन्नू. (2017). आपका बंटी, नई दिल्ली : राधा कृष्ण प्रकाशन प्रा. लि.
2. यादव, राजेन्द्र. (2015). आदमी की निगाह में औरत, नई दिल्ली
3. राजकमल प्रकाशन, पृ. सं.-229 राजकिशोर (2005). आज के प्रश्न बच्चे और हम, राजकिशोर, दिल्ली
4. मेहता डॉ.अनु, मन्नू भंडारी के कथा साहित्य में अंतर्द्वंद्व, पृष्ठ 129
5. वही-130
6. वही-133
7. वही-167
8. शब्दसृष्टि प्रकाशन. पृ. सं. -9 सिन्हा, प्रसाद राजराजेश्वरी. (2000)
9. विकासात्मक एवं समाज मनोविज्ञान. पटना
10. भारती भवन, पृ. सं.- 12

सहायक ग्रंथ

- ★ बिजेन्द्र कुमार बच्चों पर तलाक का प्रभाव : एक सामाजिक, आर्थिक और कानूनी अध्ययन
- ★ नासलर कानून समीक्षा 126 (2011)
- ★ नताली मैक्सिमेट्स, बच्चों पर तलाक के दीर्घकालीन मनोवैज्ञानिक प्रभाव, Medinate.com (30 जुलाई, 2021)
- ★ कक्कड़ और कक्कड (2016) तलाक पर शोध: निरंतर रुझान और नए विकास
- ★ जर्नल ऑफ मैरिज एण्ड फैमिली, 72, पीपी. 650-6661
- ★ बर्मन, डब्ल्यू और तुर्क डी (2016) : तलाक के लिए अनुकूलन : समस्याएँ और मुकाबला करने की रणनीतियाँ
- ★ शादी और परिवार का जर्नल, 43, (1) पृ. 179-1891
- ★ कॉल्मिजन और पोर्टमैन (2015) : आश्रित बच्चों वाली विधवाएं और तलाकशुदा
- ★ भौतिक, व्यक्तित्व परिवारिक और सामाजिक कल्याण, पारिवारिक संबंध, 36, (3), पृ. 316-3201

Research Paper

Digital Public Infrastructure in India : A Historical Account

Gadde Surya

Abstract

This article traces the historical evolution of Digital Public Infrastructure (DPI) in India from its early precursors in e-governance initiatives to its contemporary manifestation as a comprehensive layered architecture integrating identity, payment, and data exchange systems. Beginning with the National e-Governance Plan of 2006 and the Second Administrative Reforms Commission's vision of citizen-centric governance, the narrative examines how the establishment of Aadhaar in 2009 created the foundational identity layer, despite significant concerns about privacy, exclusion, and the absence of statutory backing. The subsequent development of the Unified Payments Interface and data exchange mechanisms like DigiLocker and DEPA layered additional capabilities onto this foundation, creating what became known as the India Stack. The article critically analyses the JAM Trinity's implementation in welfare delivery, documenting both claimed efficiency gains and documented exclusions resulting from authentication failures and mandatory requirements. Finally, it examines India's recent efforts to promote DPI internationally during its G20 Presidency, raising questions about whether this promotion adequately accounts for the problems characterizing India's own experience. The historical account reveals DPI's trajectory as contested and complex, marked by significant function creep and ongoing tensions between efficiency, inclusion, surveillance, and democratic governance that remain unresolved.

Keywords

Digital Public Infrastructure, Aadhaar, biometric identification, e-governance, surveillance

Introduction

Digital Public Infrastructure, or DPI as it is commonly referred to in policy documents and academic literature, has become something of a buzzword in discussions about governance and development in India over the past decade. Although, the concept itself and the systems it describes have deeper historical roots that are worth examining carefully. At its most basic level, DPI refers to a set of shared digital systems, platforms, and networks that enable the delivery of services at population scale, creating what proponents describe as the foundational architecture for digital governance in the twenty-first century. In the Indian context specifically, DPI has come to be closely associated with what is termed the India Stack, a layered architecture of digital identity, payment systems, and data exchange mechanisms that have been built incrementally over the past two decade (Aiyar 2024).

The significance of DPI in India cannot be overstated when one considers the sheer scale of its implementation. The Aadhaar system, which forms the identity layer of India's DPI, has enrolled over 1.3 billion residents, making it quite literally the world's largest biometric identification program. The Unified Payments Interface, or UPI, which constitutes the payment layer, processed over 185 billion transactions in the financial year 2024-2025 alone,[1] transforming how millions of Indians conduct financial transactions in their daily lives. These systems have become so embedded in everyday governance and commerce that it is difficult to imagine how the Indian state functioned without them just two decades ago, though

this ubiquity also raises important questions about dependency, exclusion, and the concentration of power in digital infrastructure that this essay will explore.

Understanding DPI's historical development is crucial, not merely as an exercise in chronology but because the history reveals important patterns about how governance technologies emerge, how they are justified to public, and how their purposes and scope often expand beyond what was originally envisioned or promised. This paper traces the evolution of Digital Public Infrastructure in India from its earliest precursors in e-governance initiatives of the early 2000s through the establishment of Aadhaar as the cornerstone of digital identity, to the subsequent layering of payment and data exchange systems that created the comprehensive architecture that exists today. As noted above, this is not simply a story of technological progress, but rather a complex narrative involving bureaucratic ambitions, political economy, global influences, and ongoing contestations about privacy, exclusion, and the proper role of the state in mediating citizens' access to services and their movements through both physical and digital spaces.

Early E-Governance Initiatives: Laying the Groundwork

The story of Digital Public Infrastructure in India, at least in its contemporary form, does not begin with Aadhaar in 2009 as is sometimes suggested in official narratives, but rather has roots in earlier e-governance initiatives that established both the technical capabilities and the bureaucratic imagination for what digitized governance might look like. The National e-Governance Plan, or NeGP as it was known, was approved by the Government of India in 2006, building on recommendations from several expert committees and earlier pilot projects that had experimented with computerizing government functions.[2] This plan envisioned the computerization of various government services and the creation of what was termed 'common infrastructure' that could be shared across different government departments and levels of administration. It was an early articulation of what would later be called Digital Public Infrastructure, though the terminology had not yet been standardized.

It is worth noting that these early e-governance initiatives were heavily influenced by the Second Administrative Reforms Commission, which submitted its reports between 2005 and 2009 and emphasized the need for 'citizen-centric governance' that could be achieved through information technology.[3] The Commission's reports argued that India's governance challenges, particularly corruption, inefficiency, and the inability to effectively deliver services to citizens, could be substantially addressed through the adoption of digital technologies that would create transparency, reduce human discretion in administrative processes, and enable better monitoring and accountability. This framing, which positioned technology as a kind of solution to governance failures that were fundamentally political and institutional in nature, would persist and shape how DPI was justified in subsequent years, creating what some scholars have described as a form of 'technological solutionism' where complex social problems are reframed as technical challenges requiring technical fixes.

However, these early initiatives faced significant challenges in implementation that reveal important lessons about the difficulties of creating population-scale digital systems in a country as diverse and complex as India. The NeGP's Mission Mode Projects, which aimed to computerize specific government functions like land records, transport, and commercial taxes, encountered problems ranging from inadequate infrastructure and lack of interoperability between systems to resistance from bureaucrats who saw digitization as threatening their discretionary powers and the informal economies that surrounded manual processes. More fundamentally, and this gets to a core challenge that would persist even as more sophisticated systems like Aadhaar were developed, there was no unified system for establishing digital identity that could work across different government departments and programs, meaning that citizens had to maintain multiple identity documents and prove their eligibility separately for each service they sought to access.

In retrospect, this identity problem created the opening for Aadhaar to emerge as what was presented as a comprehensive solution. If the fundamental challenge to effective e-governance was the inability to definitively identify individuals and

eliminate what were termed 'ghosts' and 'duplicates' from government databases, then a biometric identification system that could provide each resident with a unique 12-digit number linked to their fingerprints, iris scans, and photograph would solve this problem at its root.[4] This was the promise, at least, that was articulated when the Unique Identification Authority of India was established in 2009. Although, we will examine below, the reality of how Aadhaar has functioned has been considerably more complex and contested than this straightforward narrative of technological problem-solving might suggest.

The Aadhaar System: Foundation of Digital Identity

The establishment of the Unique Identification Authority of India, or UIDAI, in January 2009 marked what might be termed a watershed moment in the development of India's DPI, though the system that would emerge was quite different from what had been initially envisioned and its evolution reflects the complex interplay of bureaucratic ambitions, political pressures, and technological possibilities. Nandan Nilekani, co-founder of Infosys and a prominent figure in India's technology industry, was appointed as the first Chairman of UIDAI and brought with him a vision of creating what he termed 'a unique identity for every resident' that could serve as the foundation for transforming how the Indian state delivered services to its population.[5]

The initial conception of Aadhaar, and this is important to emphasize because it differs from how the system eventually came to function, was that it would be a purely identity system that would provide individuals with a number that could be used to prove their identity when accessing services, but would not itself be linked to any particular service or entitlement. In other words, Aadhaar was supposed to answer the question 'who are you?' but not questions like 'are you eligible for this subsidy?' or 'are you entitled to this service?', which would remain the domain of specific government programs using their own eligibility criteria (Aiyar 2024). The UIDAI would simply provide a platform for identity authentication, allowing service providers to verify that the person presenting an Aadhaar number was indeed the person to whom that number had been issued, based on matching biometric data collected at the point of authentication against the biometric data stored in the UIDAI's Central Identities Data Repository, or CIDR as it is known.

However, even as enrolment in Aadhaar proceeded rapidly, with hundreds of millions of residents providing their biometric and demographic data at enrolment centres set up across the country, significant concerns were being raised by civil society organizations, privacy advocates, and even some government agencies about the implications of creating such a comprehensive biometric database. The lack of any statutory backing for Aadhaar was particularly troubling, as noted above, since UIDAI had been created through an executive order rather than legislation, meaning there was no clear legal framework governing how the data collected could be used, who could access it, what protections existed against misuse, or what recourse individuals had if their data was compromised. The Supreme Court, responding to petitions challenging Aadhaar's constitutional validity, passed several interim orders directing that Aadhaar should remain voluntary and that no individual should be denied services for lack of an Aadhaar number, though as scholars like Reetika Khera have documented extensively, these orders were widely violated as various government departments and even private entities began making Aadhaar mandatory for accessing services (Khera 2019).

The Aadhaar (Targeted Delivery of Financial and Other Subsidies, Benefits and Services) Act was eventually passed in 2016, providing statutory backing for the system, though the manner of its passage was itself controversial.[6] The Act was introduced and passed as a Money Bill, which is a parliamentary procedure that allows legislation to be passed by the Lok Sabha alone without requiring approval from the Rajya Sabha, where the government lacked a majority at the time. This use of the Money Bill route to bypass normal legislative procedures raised serious questions about democratic process and whether such a significant piece of legislation with profound implications for privacy and civil liberties should have been subjected to more thorough parliamentary

scrutiny and debate, but the government defended the procedure as legitimate and the Act came into force.

The 2016 Act attempted to place some limitations on Aadhaar's use, specifying that it could only be used for 'targeted delivery of subsidies, benefits and services' paid for from the Consolidated Fund of India, and establishing some privacy protections including prohibitions on sharing authentication data and requirements for informed consent. However, and this is quite significant, the Act also contained broad exceptions that allowed the government to use Aadhaar data 'in the interest of national security' and permitted private entities to use Aadhaar for authentication purposes subject to regulations that would be framed later, creating openings for the kind of function creep that critics had warned about, where a system designed for one purpose gradually expands to serve many other purposes that were not part of the original vision or justification.[7]

By the time the Aadhaar Act was passed, the system had already enrolled over a billion residents and had become, whether through legal mandate or de facto requirement, necessary for accessing an ever-widening range of services from opening bank accounts to registering SIM cards to filing income tax returns to receiving subsidized food rations under the Public Distribution System (PDS). This created what scholars have described as a form of 'civil death' for those unable to obtain Aadhaar or whose biometric authentication failed, as they found themselves excluded from services they were entitled to receive, sometimes with devastating consequences for their survival and dignity (Ramanathan 2010).

Building the India Stack: Layering Payment and Data Systems

With Aadhaar established as the foundation, the next phase in the development of India's Digital Public Infrastructure involved layering additional systems on top of this identity infrastructure to create what became known as the India Stack, a term that captured the architectural metaphor of different technological layers building upon each other to create comprehensive digital capabilities. The UPI, which was launched in 2016, represented the payment layer of this stack and aimed to revolutionize how money moved through the Indian economy by creating an interoperable digital payments system that could work across different banks and payment service providers.

UPI's significance lies not merely in its technical capabilities, though those are impressive, but in how it transformed the political economy of payments in India by enabling what are termed 'peer-to-peer' transactions that could occur directly between individuals' bank accounts without requiring intermediaries like credit card networks or earlier mobile wallet systems that kept money trapped within proprietary ecosystems. The system uses the existing infrastructure of bank accounts and mobile phones, allowing any individual with a bank account and a smartphone to make or receive payments by simply entering a virtual payment address or scanning a QR code, with the actual movement of money occurring through the traditional banking system but mediated through the UPI interface that handles the messaging and authentication.

The adoption of UPI was truly remarkable in terms of speed and scale. From processing just over 100 million transactions in its first full year of operation in 2016-17, UPI grew to process over 100 billion transactions by 2023, a thousand-fold increase in volume that is probably unprecedented for any payment system globally.[8] This growth was driven by several factors including demonetization in November 2016 which created urgency around digital payment alternatives, aggressive promotion by the government which framed UPI as a form of financial inclusion and formalization of the economy, and network effects where the value of the system increased as more merchants and individuals began accepting UPI payments.

However, UPI's success has also raised concerns about the concentration of power in the digital payments ecosystem. While UPI as a protocol is ostensibly open and interoperable, in practice the market has become dominated by a small number of third-party applications, particularly Google Pay and PhonePe, which together account for over 80% of UPI transaction volumes.[9] This concentration means that a handful of private corporations, most with foreign ownership, have access to enormous amounts of data about Indians' financial transactions,

consumption patterns, and social networks, creating privacy concerns and questions about whether the ostensible public infrastructure of UPI has effectively been captured by private interests who benefit from the data generated through the system.

The data exchange layer of the India Stack, formalized through systems like DigiLocker and the Data Empowerment and Protection Architecture or DEPA, represents an attempt to create what proponents describe as a 'consent-based data sharing framework' that would give individuals control over their data while enabling its flow between different service providers in ways that could unlock economic value and improve service delivery. DigiLocker, launched in 2015, provides a cloud-based platform where citizens can store digital copies of their documents like educational certificates, property records, and other credentials, which can then be shared with service providers as needed rather than requiring individuals to carry physical documents everywhere (Aiyar 2024).

DEPA, which is a more recent and ambitious initiative, aims to create a framework where individuals can grant time-bound, revocable consent for different entities to access their data held by various custodians like banks, insurance companies, or government agencies. The architecture uses what are termed 'consent managers' who act as intermediaries facilitating data flows in accordance with the individual's consent, theoretically putting individuals in control of their data and enabling them to leverage it for their benefit, for instance by sharing financial transaction data with lenders to establish creditworthiness without having to provide physical documents.[10]

However, critics have raised significant concerns about whether these consent frameworks actually empower individuals or merely create a facade of consent that legitimizes data extraction by corporations and the state. As scholars examining DEPA have noted, the notion of 'informed consent' becomes quite problematic when individuals must either consent to data sharing or be excluded from accessing essential services, creating what amounts to coerced consent rather than the genuine voluntary agreement that the term implies. Moreover, the complexity of data flows in digital systems means that individuals often cannot meaningfully understand what they are consenting to or anticipate how their data might be used, analysed, or combined with other datasets to generate insights or predictions about them that they never intended to reveal.

The Consolidation Phase: JAM Trinity and Government Schemes

The period from 2014 onwards saw what might be termed the consolidation of DPI into comprehensive governance through the implementation of numerous government schemes that leveraged the layered architecture of identity, payments, and data exchange to transform service delivery. The JAM Trinity, an acronym for Jan Dhan (bank accounts), Aadhaar (digital identity), and Mobile (phones),[11] became the centrepiece of this consolidation, with the government arguing that these three elements together created the infrastructure necessary for 'Direct Benefit Transfer' (DBT) that could eliminate intermediaries, reduce leakages and corruption, and ensure that subsidies reached intended beneficiaries directly into their bank accounts.

The Pradhan Mantri Jan Dhan Yojana, launched in August 2014, aimed to provide universal access to banking facilities by opening bank accounts for all households, particularly targeting the unbanked poor who had historically been excluded from the formal financial system. The campaign was remarkably successful in numerical terms, opening hundreds of millions of new bank accounts within a few years, though questions remained about whether these accounts were actively used or remained dormant, and whether simply having an account translated into genuine financial inclusion when many account holders lived far from bank branches and faced various barriers to actually using banking services.

The integration of Aadhaar with these Jan Dhan accounts, and the increasing use of mobile phones for authentication and payment, created what the government promoted as an infrastructure for transforming welfare delivery through DBT. Under DBT, instead of distributing subsidized goods through ration shops or other intermediaries, the government would calculate the subsidy amount and transfer it

directly to beneficiaries' bank accounts, allowing them to purchase goods at market prices, theoretically giving them more choice and eliminating the corruption and inefficiency associated with the PDS.

However, the implementation of DBT revealed significant problems that illustrate the challenges of translating the DPI vision into reality on the ground. Authentication failures, where individuals' fingerprints could not be read due to worn prints from manual labour, poor quality fingerprint readers, lack of internet connectivity, or other technical issues, meant that people who were entitled to benefits found themselves unable to access them (Khera 2017). Studies documented authentication failure rates ranging from 5% in some states to as high as 49% in Jharkhand, meaning that approximately half of all authentication attempts were failing, denying people access to food rations and other essential services (Drèze, et al. 2017). For individuals whose fingerprints consistently failed to authenticate, and this is particularly tragic, the technological system effectively rendered them non-existent from the state's perspective, unable to prove they were who they claimed to be and therefore unable to claim the benefits to which they were legally entitled, a condition scholars have termed 'civil death' (Ramanathan 2010).

The consequences of these authentication failures and the broader exclusions created by making Aadhaar mandatory for welfare schemes were documented in numerous studies and reports by civil society organizations. People died of starvation after being denied rations due to authentication failures or because they lacked Aadhaar numbers, elderly persons and persons with disabilities faced enormous difficulties traveling to enrolment centres or completing authentication, and marginalized communities already facing multiple forms of exclusion found themselves further disadvantaged by technological systems that didn't account for their lived realities (Khera 2019). These exclusions raise fundamental questions about whether the efficiency gains and leakage reductions claimed for DPI-enabled welfare delivery justify the human cost of excluding vulnerable individuals from accessing basic necessities, or whether the technological infrastructure has effectively made governance less inclusive rather than more inclusive as was promised in official narratives (Aiyar 2024).

DPI Goes Global: India's G20 Presidency and International Promotion

The period from 2020 onwards has seen India actively promoting its Digital Public Infrastructure model internationally, positioning DPI as a development paradigm that could be adopted by other countries, particularly in the Global South, to accelerate their digital transformation and improve service delivery. This promotional effort reached its peak during India's G20 Presidency in 2023, when DPI was made a priority agenda item and multiple sessions and working groups focused on sharing India's experience and encouraging other countries to adopt similar approaches.[12]

The government created what is termed the India Stack Developer Portal and has actively worked with international organizations like the World Bank to promote the adoption of Modular Open Source Identity Platform, or MOSIP, which is an open-source version of Aadhaar-like identity systems that countries can adapt to their contexts. As of 2024, MOSIP has reportedly been implemented or is being piloted in eleven countries including Morocco, Philippines, Ethiopia, and Guinea, suggesting that India's DPI model is indeed finding resonance internationally, though the long-term outcomes of these implementations remain to be seen.[13]

The international promotion of DPI has been framed by the Indian government and international development organizations as a form of 'digital public goods' that can help countries leapfrog development challenges and achieve the United Nations Sustainable Development Goals more efficiently. The narrative emphasizes that DPI is not about any particular technology but rather about architectural principles of creating open, interoperable, and inclusive digital infrastructure that can serve as a foundation for innovation and service delivery. This framing positions India not merely as exporting specific technologies but as offering a development paradigm that other countries can adapt to their contexts, creating what scholars have termed a form of 'techno-nationalism' where technological capabilities become a source of geopolitical influence and soft power.

However, critics have raised concerns about

whether this international promotion of DPI adequately accounts for the problems and exclusions that have characterized India's own experience with these systems, or whether it presents an overly optimistic narrative that downplays the risks and challenges. Civil society organizations have argued that countries adopting DPI frameworks should be made fully aware of issues like authentication failures, function creep, privacy violations, and the potential for these systems to enable state surveillance and control, rather than being sold a vision of technological transformation that glosses over these very real problems (IT for Change 2025). There are also concerns about the political economy of DPI adoption, where international financial institutions and development agencies encourage countries to invest in these systems as conditions for aid or technical assistance, potentially creating dependencies on particular vendors or technology platforms and foreclosing alternative development paths that might be more appropriate to local contexts.

Conclusion: DPI's Trajectory and Unresolved Questions

The historical trajectory of Digital Public Infrastructure in India, traced from early e-governance initiatives through the establishment of Aadhaar and the subsequent layering of payment and data systems, reveals a complex and contested process that cannot be reduced to simple narratives of either technological progress and inclusion or digital authoritarianism and exclusion. The reality contains elements of both, with the same infrastructure that has enabled genuine improvements in some aspects of service delivery also creating new forms of exclusion, surveillance, and state power that raise profound questions about privacy, autonomy, and democratic governance.

What is clear from this historical account is that DPI did not emerge fully formed from a single policy decision but rather evolved incrementally through a series of initiatives that built upon each other, often in ways that exceeded or diverged from what was originally intended or promised to the public. The scope and purposes of these systems have consistently expanded through what scholars term function creep, where infrastructure created for welfare delivery becomes used for policing, where identity systems become payment systems become data exchange platforms, and where voluntary systems become mandatory requirements for accessing essential services.

The future trajectory DPI in India remains uncertain and will depend on ongoing political contestations about how these systems should be governed, what limits should be placed on their use, and whose interests they ultimately serve. The questions raised by DPI's development, about the proper role of technology in governance, about the balance between efficiency and inclusion, about privacy and surveillance, about state power and individual autonomy, these are not merely technical questions that can be resolved through better system design but are fundamentally political questions that require democratic deliberation and ongoing vigilance to ensure that infrastructure serves people rather than people serving the infrastructure.

Assistant Professor
Dept. of Political Science
Shaheed Bhagat Singh College
University of Delhi

References:

1. See https://www.npci.org.in/product/upi/product-statistics
2. Ministry of Electronics & Information Technology. 2006. *Digital India: National e-Governance Plan and Program Literature*. https://www.digitalindia.gov.in/
3. Second Administrative Reforms Commission. 2005. Promoting e-Governance: The Smart Way Forward. 11th Report, New Delhi: Government of India
4. See https://uidai.gov.in/en/about-uidai/unique-identification-authority-of-india.html
5. See https://www.mckinsey.com/industries/public-sector/our-insights/for-every-citizen-an-identity
6. Government of India. 2016. The Aadhaar (Targeted Delivery of Financial and Other Subsidies, Benefits and Services) Act, 2016. No. 18 of 2016, New Delhi: Ministry of Law and Justice.
7. Ibid; *Justice K. S. Puttaswamy (Retd.) and Anr. vs Union of India and Ors*. 2018. WRIT PETITION (CIVIL) NO. 494 OF 2012 (Supreme

Court of India, 26 September). https://indiankanoon.org/doc/127517806/.

8. See https://www.npci.org.in/product/upi/product-statistics
9. See https://www.thehindu.com/sci-tech/technology/india-delays-upi-payments-market-share-cap-in-relief-for-walmart-backed-phonepe-google-pay/article69048957.ece
10. See https://www.niti.gov.in/sites/default/files/2023-03/Data-Empowerment-and-Protection-Architecture-A-Secure-Consent-Based.pdf
11. See https://www.pib.gov.in/PressReleasePage.aspx? PRID=2086611&reg=3&lang=2
12. See https://www.mea.gov.in/bilateral-documents.htm200?dtl/38551/Declaration+on+Digital+Public+Infrastructure+AI+ and+ Data+for+200b Governanc e++Joint+ Communiqu 233+by+the+G20+Troika+India+ Brazil+and+South+Africa+endorsed+by+several+G20+countries+guest+countries+and+ international+ organizations
13. See https://connect.mosip.io/resources_pdf/1.%20MOSIP%20Programme%20Report%20-%20Nagarajan%20Santhanam.pdf

Bibliography

- Aiyar, Shankkar. 2024. *Aadhaar: A Biometric History of India's 12-Digit Revolution*. Gurugram, Haryana: HarperCollins Publishers.
- Alonso, Cristian, Tanuj Bhojwani, Emine Hanedar, Dinar Prihardini, Gerardo Uña, and Kateryna Zhabska. 2023. "Stacking up the Benefits: Lessons from India's Digital Journey." *IMF Working Papers 2023* 078. https://doi.org/10.5089/9798400240416.001.
- Anand, Nishant. 2020. "New Principles for Governing Aadhaar: Improving Access & Inclusion, Privacy, Security & Identity Management." *Journal of Science Policy & Governance,* 18 (1): 1-15.
- Banerjee, Abhijit, Esther Duflo, Clement Imbert, Santhosh Mathew, and Rohini Pande. 2014. "E-governance, Accountability, and Leakage in Public Programs: Experimental Evidence from a Financial Management Reform in India (NBER Working Paper No. 22803)." *National Bureau of Economic Research.*
- Drèze, Jean, Nazar Khalid, Reetika Khera, and Anmol Somanchi. 2017. "Aadhaar and Food Security in Jharkhand: Pain without Gain?" *Economic and Political Weekly* 50-59.
- Government of India. 2016. *The Aadhaar (Targeted Delivery of Financial and Other Subsidies, Benefits and Services) Act, 2016.* No. 18 of 2016, New Delhi: Ministry of Law and Justice.
- IT for Change. 2025. *Recovering the 'Public' in India's Digital Public Infrastructure Strategy.* Policy Brief, Bangalore: IT for Change.
- *Justice K. S. Puttaswamy (Retd.) and Anr. vs Union of India and Ors.* 2018. WRIT PETITION (CIVIL) NO. 494 OF 2012 (Supreme Court of India, 26 September). https://indiankanoon.org/doc/127517806/.
- Khera, Reetika. 2019. "Aadhaar Failures: A Tragedy of Errors." *Economic and Political Weekly* 54 (14): 1-10. https://www.epw.in/engage/article/aadhaar-failures-food-services-welfare.
- Khera, Reetika. 2017. "Impact of Aadhaar in Welfare Programmes." *Economic and Political Weekly* 52 (50): 61-70. doi:10.2139/ssrn.3045235.
- Ministry of Electronics & Information Technology. 2006. *Digital India: National e-Governance Plan and Program Literature.* https://www.digitalindia.gov.in/.
- Ramanathan, Usha. 2010. "A State of Surveillance." *International Environmental Law Research Centre Working Paper.* http://www.ielrc.org/content/w1001.pdf.
- Rao, Ursula. 2019. "Biometric IDs and the remaking of the Indian (welfare) state." *Economic Sociology_the European Electronic Newsletter* 21 (1): 13-21. https://www.econstor.eu/bitstream/10419/223108/1/Econsoc-NL-21-1-03.pdf.
- Second Administrative Reforms Commission. 2005. *Promoting e-Governance: The Smart Way Forward.* 11th Report, New Delhi: Government of India.
- Zanatta, Rafael, and Juana Kweitel. 2021. "THE POLITICAL MEANING OF PRIVACY AND IDENTITY." Edited by Helena Secaf and Rafael Zanatta. *Sur - International Journal on Human Rights* 159-174. Accessed October 2024. https://sur.conectas.org/en/the-political-meaning-of-privacy-and-identity-an-interview-with-usha-ramanathan/.

Research Paper

Zubair Khan

The Upper Ganga-Yamuna Doab from Forested Frontier to Agrarian Heartland (13th–17th Centuries)

Abstract

This paper looks at how the Upper Ganga-Yamuna Doab changed from a thickly forested area on the edges of state control into a settled farming region between the 13th and 17th centuries.[1] I argue this was not something that just happened by itself. It was a planned, long-term project by the state. The process had three main parts: cutting down the forests (jangal-bari) that gave shelter to rebels, spreading agriculture to create revenue, and setting up new villages, towns and trade routes to make administration easier.[2] Using evidence from Persian chronicles, traveller accounts, and modern historical geography–especially Irfan Habib's Atlas of the Mughal Empire–this study shows how political power in medieval India worked by changing the land itself.[3] The story of the Doab in this period gives us a clear example of how states grew by turning forests into farms and frontier zones into heartlands.

Introduction

Let me begin by describing the Upper Ganga-Yamuna Doab at the start of the 13th century. This region, the fertile land between the Gaṅgā and Yamunā rivers, was in a very different condition than what we see in Mughal maps. To the best of my knowledge, the historical records from the early Delhi Sultanate do not talk about a major war here between the Sultan's armies and the forces of an established, rival king. There is almost a complete absence of mention of any strong local polity or any significant urban centre here before the Sultans themselves began their interventions.[4]

What the sources do talk about, repeatedly and with a sense of urgency, is that this region, covered with dense forest and located uncomfortably close to Delhi, provided perfect shelter. It was a refuge for rebels, for elements hostile to the Sultanate's authority, and for groups that challenged state control.[5] This tells us something fundamental about the early relationship between the state and this space. The primary conflict here was not state-versus-state, but state-versus-forest. The forest was not just trees and wildlife; it was a political space–a zone outside the control and revenue net of the state, what scholars like Sunil Kumar would term a mawas.[6]

The Sultans of Delhi, therefore, began what would become a centuries-long project to transform this landscape. As we know from the historian Ziyā' al-Dīn Baranī, Sulṭān Ghiyās1 al-Dīn Balban (r. 1266–1287) specifically ordered the systematic clearing of forests north and east of the Yamunā to destroy these hideouts. He actively encouraged farmers to settle there and is said to have taken severe measures against the nomadic pastoralist communities of the area.[7] This was the foundational act. The project was so successful that later court historians, like Shams-i Sirāj Āfif, lament the loss of good hunting grounds–a complaint that ironically signals a pacified and tamed landscape.[8] The traveller Ibn Baṭṭūṭah's note about seeing rhinoceros in the nearby Tira'ī (Terai) region gives us a hint of the rich wildlife that existed in the broader area, which was gradually pushed back as the frontier of human settlement advanced.[9]

My research focuses on understanding this

comprehensive process from the 13th to the 17th centuries. What was the actual pattern of settlement expansion? Can we really say the entire region was settled in this period? A careful look at the sources and, crucially, at Irfan Habib's An Atlas of the Mughal Empire, suggests a more graded picture. Certain parts, especially along the riverbanks and major routes, were settled early, while the interior tracts filled in later.[10] What factors decided this pattern? Was it only about being close to a big river like the Gaṅgā or Yamunā, or did other things matter just as much–like local topography, smaller tributaries, considerations of defence, and deliberate state policy? By piecing together evidence from chronicles, travel accounts, and the work of modern environmental and economic historians, this paper argues that the making of the agrarian Doab was a conscious, long-term act of territorialisation by successive states.[11] Political control was established and made permanent not just by winning battles, but by permanently altering the region's ecology and human geography.

A good amount of important work has been done on the history and geography of the Ganga plains, but when we look closely, my specific area and period of focus still have some gaps. Dilip K. Chakrabarti's important book, Archaeological Geography of the Ganga Plain: The Lower and the Middle Ganga, provides a very useful methodology. It shows us how to mix archaeological survey data with geographical and historical evidence to reconstruct settlement patterns.[12] But as the title says, his study focuses on the lower and middle Gaṅgā. He leaves out the upper part, which is precisely my region of study. Similarly, B.D. Chattopadhyay's insights in his work Aspects of Rural Settlements and Rural Society in Early Medieval India help us think deeply about how rural settlements were organised, their links with towns, and their social structure.[13] But his work mainly deals with the early medieval period and doesn't centrally cover the phase of intense, state-led forest clearance and settlement push that began with the Delhi Sultanate.

This study tries to build on and talk to two main kinds of scholarship. First, the work on state formation and frontier politics in medieval India. Here, the work of Sunil Kumar is very important. In his book The Emergence of the Delhi Sultanate, he develops and uses the concept of the mawas.[14] These were forested or marginal areas that existed as zones of refuge and resistance, spaces outside the direct control of the state. This idea is extremely helpful for understanding the early history of the Doab. It moves us beyond seeing forests just as physical features; we start to see them as active political spaces.

Second, I use the ideas coming from the field of Indian environmental history. Scholars like Mahesh Rangarajan, Chetan Singh, and others have shown convincingly how pre-colonial states were powerful agents of ecological change.[15] Their actions–creating hunting reserves (shikārgāh), digging canals for irrigation, and clearing forests for security and settlement–actively shaped the landscape. As Dhirendra Dangwal's work on Himalayan forests shows, the idea of "political forests" emerged from this period of state intervention to control resources.[16] The process in the Upper Doab fits this pattern well. My argument is that the region's political integration happened through its environmental transformation. The state's political project was, at the same time, a large-scale ecological project.

Ecology and the Political Space of the Mawas:

To really appreciate the scale of the change that happened, we need to first try to reconstruct the ecological and political baseline of the region around 1200 CE. Based on geographical studies and historical clues, the natural vegetation of the Upper Doab, before the big medieval clearances, would have included tropical dry deciduous forest. This was especially true for the bangar tracts–the older, higher alluvial ground away from the active floodplains of the rivers.[17]

Irfan Habib, in his geographical notes, points out that while there were some early historical settlements along the western bank of the Yamunā, the middle of the doab was a different story. He observes that "a traveller crossing the middle doab faced danger from tigers," and that in the 13th century, the area "almost certainly had pockets of jungle and forests connected with the sub-montane forests by ravines and jungle running along the Yamuna and Ganga."[18]

This was not empty or wasted land. It was a functioning ecological zone with its own balance—

specific plants, animals like tigers and deer, and human communities who knew how to live within it, such as various forest-dwelling groups and pastoralists. Politically, however, it was what Sunil Kumar terms a mawas. From the viewpoint of a centralising state whose power depended on collecting land revenue, territory that was forested and not under firm administrative control was ghayr ma mūr–uninhabited, or more accurately, un-administered.[19] It was a space for those who wanted to avoid or resist the state: rebels, independent chieftains, and mobile pastoral groups. The fact that the early Sultanate chronicles constantly describe the Doab forests as a "refuge" for threats to Delhi, and never as the core territory of a rival kingdom, is very revealing.[20] It shows that the state's main adversary in this region was not a competing sovereign, but the very condition of forested wilderness that made resistance possible. Therefore, the first and most urgent task of the state was to dismantle this political ecology.

The transformation of the Doab did not happen in a random or piecemeal way. It unfolded through a set of interconnected strategies that followed a clear state logic. We can break this down into three main parts that worked together.

1. Forest Clearance (Jangal-bari) as Political and Military Strategy

The initial drive was straightaway about security. The chroniclers of the Delhi Sultanate, from Minhāj-i Sirāj Jūzjānī to Ziyā' al-Dīn Baranī, are very clear in describing the forests around Delhi as a persistent security headache. Baranī writes that Sulṭān Balban, recognising the danger, ordered the systematic cutting of forests in the Doab and Mewat regions specifically to destroy the bases and hideouts of rebels and troublemakers.[21]

This was jangal-bari (forest-clearing) as a direct military and political act. It was an assault on the mawas, aiming to physically erase the ungovernable, sheltering space and replace it with an open, visible, and controllable one. The ecological impact of such orders was immediate and severe. As Meena Bhargava notes in her work on environmental frontiers, such state-ordered clearance for security and subsequent settlement was a primary driver of deforestation in the medieval period, permanently changing habitats and the distribution of species.[22] The scale of this change is hinted at in the later sources. The complaints of Sulṭān Fīrūz Shāh Tughluq (r. 1351–1388) and even echoes from Balban's own time about the disappearance of good hunting grounds are very telling.[23] As studies on Mughal hunting show, the shikār was not just a sport; it was a ritual of dominance over the natural world and a symbolic display of control over territory.[24] The loss of accessible hunting grounds signified not necessarily a lack of game, but rather the prior conversion of that wild territory into a more valuable asset: taxable farmland. The state's economic priority had overridden its elite recreational one.

2. Agrarian Expansion and the Creation of Revenue-Generating Land

Cleared forest land was of limited direct use to the state unless it could be made to generate a steady stream of revenue. Therefore, the project of forest clearance was intrinsically linked to, and almost immediately followed by, state-sponsored agrarian expansion. Both the Sultanate and later the Mughal state actively promoted the extension of cultivation (zira at). This served two critical purposes at once: it populated the landscape with stable, revenue-paying peasants (ra iyat), and it physically consolidated the state's hold by replacing a wild, unpredictable wilderness with orderly, productive, and monitorable space.

The pattern of this settlement did not happen randomly. Following Irfan Habib's geographical logic, the initial belt of settlement and state control probably clung to the line of the western Yamunā bank, which was the vital corridor connecting Delhi with the eastern provinces.[25] Over the following centuries, expansion pushed incrementally inland. This movement followed the courses of smaller tributaries like the Kālī Nadī, the Hindon, and their branches, which provided essential water for irrigation and daily life. Settlers would have naturally sought out the more fertile and better-drained bangar soils, avoiding the flood-prone khadar (new alluvium) of the active river channels.[26]

The state provided the essential administrative skeleton for this new agrarian geography. Cleared and settled tracts were organised into parganas–the basic revenue districts. Market towns (ganjs) and

administrative qaṣbas were established or officially promoted, often at strategically important points like river crossings, confluences, or route junctions. The late medieval and early modern settlement of Afghan Rohilla groups in the 17th and 18th centuries, which eventually led to the formation of independent principalities, represents a later, somewhat unintended phase of this long process. As Jos J.L. Gommans discusses in his work on the Indo-Afghan empire, the Rohilla expansion was itself a form of frontier settlement, filling in the political and demographic spaces within the already partly integrated Doab.[27] It shows how the state-initiated process of peopling and controlling the land could, over a long period, generate new and powerful political actors who operated within the framework created by earlier states.

3. The Genesis of Trade Routes and Urban Nodes

An expanding agrarian society producing surplus grain and other goods naturally stimulates commerce, and commerce requires and fosters infrastructure. The Gaṅgā and Yamunā rivers became vital transport arteries for moving bulk goods like grain, timber, salt, and sugar. The location of towns that grew to prominence in this period–Badaun, Amroha, Sambhal, and later Mughal-era foundations like Shāhjahānābād (modern Shahjahanpur)–was primarily strategic and economic rather than archaic. They emerged not from ancient urban continuity but as nodes connecting productive new agrarian hinterlands to the riverine and overland trade routes.[28]

The Mughal state, with its exceptional focus on administration and documentation, perfected and mapped this network. Irfan Habib's Atlas of the Mughal Empire provides the definitive visual proof of this integration. Map sheets 7B and 8A show a dense web of parganas and towns crisscrossing the Upper Doab by the late 16th century, all connected by a hierarchy of clearly marked routes.[29] The whole region now fell firmly within the ṣarkār of Delhi and later the ṣūbah of Delhi. The meticulous quantitative data recorded in the Ā'īn-i Akbarī for these very parganas is the ultimate textual testament to the region's completed transformation. It lists thousands of villages, detailed crop yields, and specific revenue rates.[30] This bureaucratic record-keeping proves the region was no longer a forested frontier or a problematic mawas; it was a calculated, measured, and productive component of the Mughal Empire's economic heartland. The forest had been fully transformed into a fiscal resource.

The settlement and integration of the Upper Doab were not caused by a single factor. They were driven by a powerful, synergistic combination where political will, economic logic, and environmental opportunity became inseparable and fed into each other.

The Primacy of State Policy: The overriding driver was the state's intertwined need for security and fiscal sustenance. The military campaign against the mawas was the essential, catalytic first step that made all subsequent development possible. This was a top-down, deliberate project of territorialisation, not a bottom-up, organic migration.

Economic Imperatives: A state apparatus, especially one maintaining large armies and a complex aristocracy, required sustainable and growing revenue. Transforming a security liability (the rebel-harbouring forest) into a fiscal asset (taxable farmland) was the economic engine that justified, funded, and perpetuated the entire political project. In this sense, agrarian expansion was state-building.

Environmental Constraints and Opportunities: Within this overarching state framework, local geography dictated the specifics of the settlement pattern. Access to water (major rivers, tributaries, later canals), soil quality, and defensible topography determined the exact location of villages, qasbas, and ganjs. The state's policy worked within, and then dramatically altered, these environmental parameters to serve its goals.

This process created a self-reinforcing cycle. Forest clearance enabled stable farming. Farming produced surplus, which required trade routes, markets, and currency. Trade encouraged the growth of towns, which in turn required stronger administrative and military presence, further cementing state control. Each step deepened the region's physical and economic integration, systematically erasing its former identity as a peripheral wilderness and weaving it tightly into the political and economic fabric of North India.

Conclusion

In conclusion, the history of the Upper Gaṅgā-Yamunā Doab from the 13th to the 17th centuries presents a seminal case study of state-driven territorialisation in medieval and early modern South Asia. It was a deliberate, protracted project where military conquest was necessarily followed by a profound and intentional environmental and socio-economic transformation. The dense forests–the mawas that challenged the political authority of Delhi–were systematically cleared in a decisive political act. The land was then methodically repurposed: first for security, then for agriculture, with new settlements planted as instruments of control, and trade routes laid down to integrate the region into wider imperial networks.

This long-term process, documented in the concerns of contemporary chroniclers and later mapped in the meticulous geography of historians like Irfan Habib, reveals a central, often under-appreciated, mechanism of empire-building in the Indian subcontinent. Empires were consolidated not only on battlefields but in fields, forests, and marketplaces. The Doab's five-century journey from a forested refuge and zone of resistance to the agrarian and administrative core of first the Delhi Sultanate and then the Mughal Empire underscores a fundamental historical truth of the period. Asserting lasting sovereignty over people was ultimately contingent on asserting effective sovereignty over their land, which very often meant irrevocably changing its very nature from wilderness to settled landscape. This was the longue-durée work of the state–the slow, determined, and calculated conversion of a turbulent frontier into a governed heartland.

Phd Research Scholar (History)
School of Social Sciences,
IGNOU, New Delhi.110068

References:

1. This periodisation and the core argument of state-led transformation is supported by the synthesis of evidence in: Irfan Habib, An Atlas of the Mughal Empire (Delhi: Aligarh Muslim University, 1982); Sunil Kumar, The Emergence of the Delhi Sultanate (Ranikhet: Permanent Black, 2007).
2. This tripartite framework is my analytical construct, derived from connecting the processes described in primary sources like Barani and Afif with the models of state formation in Kumar, Emergence, and agrarian expansion in Irfan Habib, The Agrarian System of Mughal India (Delhi: Oxford University Press, 1999).
3. The methodological reliance on Habib's Atlas is central. See Habib, Atlas, Sheets 7B, 8A for visual evidence of the settled landscape.
4. This observation is synthesised from a reading of early Sultanate chronicles like Minhāj-i Sirāj Jūzjānī, Ṭabaqāt-i Nāṣirī, ed. 'Abd al-Ḥayy Ḥabībī (Kabul: Anjuman-i Trīkh-i Afghānistān, 1963-64). The absence of major pre-13th century urban sites in the Upper Doab is noted in archaeological surveys summarised by Dilip K. Chakrabarti, The Archaeology of the Ganga Plain (Delhi: Aryan Books, 2006).
5. See for instance, Ziyā' al-Dīn Baranī, Tārīkh-i Fīrūzshāhī, ed. Shaykh 'Abd al-Rashīd (Aligarh: Department of History, Aligarh Muslim University, 1957), p. 58, where the Doab forests are described as a den for rebels (mufsidān) and the Mewatīs.
6. Sunil Kumar, The Emergence of the Delhi Sultanate, 1192–1286 (Ranikhet: Permanent Black, 2007), pp. 184-217.
7. Baranī, Tārīkh-i Fīrūzshāhī, p. 58.
8. Shams-i Sirāj Āfif, Tārīkh-i Fīrūzshāhī, ed. Mawlawī Vilāyat Ḥusayn (Calcutta: Asiatic Society of Bengal, 1891), p. 267.
9. Ibn Baṭṭūṭah, The Rehla of Ibn Battuta, trans. Mahdi Husain (Baroda: Oriental Institute, 1976), p. 112.
10. Habib, Atlas, Sheets 7B & 8A and accompanying notes.
11. This interdisciplinary approach is inspired by the works of Chakrabarti (archaeological geography), Chattopadhyaya (rural settlements), and Rangarajan (environmental history) cited elsewhere in these notes.
12. Dilip K. Chakrabarti, Archaeological Geography

of the Ganga Plain: The Lower and the Middle Ganga (New Delhi: Permanent Black, 2001).

13. B.D. Chattopadhyaya, Aspects of Rural Settlements and Rural Society in Early Medieval India (Kolkata: K.P. Bagchi & Company, 1990).
14. Kumar, The Emergence of the Delhi Sultanate, pp. 184-217.
15. Mahesh Rangarajan and K. Sivaramakrishnan, eds., India's Environmental History: From Ancient Times to the Colonial Period, 2 vols. (New Delhi: Permanent Black, 2012); Chetan Singh, Natural Premises: Ecology and Peasant Life in the Western Himalaya, 1800–1950 (Delhi: Oxford University Press, 1998).
16. Dhirendra Dangwal, "The Political Forests of Uttarakhand, India: A Historical View," Environment and History, 24(3), 2018, pp. 357-378.
17. This synthesis is based on ecological inferences in M. S. Randhawa, A History of Agriculture in India, Vol. II (New Delhi: Indian Council of Agricultural Research, 1982), and the geographical descriptions in Habib's Atlas notes.
18. Irfan Habib, "The Geographical Background," in The Cambridge Economic History of India, Vol. 1: c.1200–c.1750, ed. Tapan Raychaudhuri and Irfan Habib (Cambridge: Cambridge University Press, 1982), p. 10.
19. Kumar, *The Emergence of the Delhi Sultanate*, p. 189.
20. Baranī, *Tārīkh-i Fīrūzshāhī*, p. 58.
21. Abid, pp. 57-58.
22. Meena Bhargava, "Forests, Pastoralists and Agrarian Society in Mughal India," in *Frontiers of Environment: Issues in Medieval and Early Modern India*, ed. Meena Bhargava (New Delhi: Aakar Books, 2015), pp. 65-91.
23. Āfif, *Tārīkh-i Fīrūzshāhī*, p. 267; Baranī also implies this growing tension between preserving hunting grounds and clearing land for settlement.
24. Émilie F. Guitard, "The Mughal Emperor's Hunt: A Political Ritual of Domination," *South Asia Multidisciplinary Academic Journal* [Online], 26 | 2022.
25. Habib, "Geographical Background," p. 10.
26. This pattern is deduced from the distribution of *parganas* in Habib's *Atlas* and standard geomorphological understanding of settlement in alluvial plains. See also, B. B. Lal, *The Ganga Plain: A Study in Geomorphology* (Varanasi: National Geographical Society of India, 1976).
27. Jos J.L. Gommans, "The Rise of the Indo-Afghan Empire, c.1710–1780" (Leiden: E.J. Brill, 1995), pp. 41-60.
28. For the economic and administrative role of such towns, see Satish Chandra, *Medieval India: From Sultanat to the Mughals, Part Two* (New Delhi: Har-Anand Publications, 2005), pp. 145-160.
29. Habib, *Atlas*, Sheets 7B, 8A.
30. Abū al-Fazl 'Allāmī, *The Āīn-i Akbarī*, Vol. II, trans. H. S. Jarrett, ed. Jadunath Sarkar (Calcutta: Asiatic Society of Bengal, 1949), pp. 285-310 for the detailed *pargana* listings of the *carkr* of Delhi.

भारतीय संस्कृति और साहित्य के संदर्भ में स्त्री लेखन

डॉ. राजकुमार राजन

विश्व में भारतीय संस्कृति की धरोहर अद्वितीय है। विश्व सभ्यता के इतिहास में भारतीय संस्कृति अनेक अर्थों में सर्वोपरि है। भारतीय परम्परा का स्रोत यहाँ की सभ्यता और संस्कृति में सुरक्षित है। भारतीय धर्म साधना और आध्यात्मिक बोध की संवेदना इस संस्कृति का अभिन्न अंग रही है। भारतीय संस्कृति में पुरुषार्थ का विशेष स्थान रहा है। यह पुरुषार्थ धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष में सन्निहित है। यहाँ के जीवन-दर्शन की प्रकृति बहुआयामी और व्यापक रही है। एक ओर धर्म की संहिता में सगुण का महत्त्व है तो दूसरी ओर निर्गुण का भी उतना ही महत्त्व स्वीकार किया गया है।

विश्व में भारतीय सभ्यता की धरोहर सबसे प्राचीन मानी जाती है। प्राचीनता के कारण ही भारतीय संस्कृति समृद्ध भी है। विश्व की अन्य संस्कृतियाँ जहाँ काल के प्रवाह में नष्ट हो गई, वहीं भारतीय सभ्यता एवं संस्कृति की जड़ें इतनी गहरी हैं कि उसका अस्तित्व परम्पराओं में आज भी विद्यमान है। वेद दुनिया के प्राचीनतम ग्रंथों में से एक हैं। वेदों की संहिताओं में भारतीय सभ्यता एवं संस्कृति की मूल जीवन है। वेद सिर्फ किताब/साहित्य नहीं है बल्कि उनमें अंकित हर शब्द और वाक्य भारतीय सभ्यता व संस्कृति का बोध कराती है।

भारतीय संस्कृति अपने को निरंतरता में परिभाषित करती है। जबकि दुनिया की अन्य संस्कृति चाहे वह मिस्र, मेसोपोटामिया, रोम और सीरिया की संस्कृति हों, अपनी परम्पराओं को विस्मृत कर चुकी है। भारतीय सभ्यता बोध में इतिहास और अतीत विभाजित नहीं है, यहाँ परंपरा भी निरंतरता की सूचक है। जबकि दुनिया की बड़ी-बड़ी सभ्यताएँ इतिहास के कालखंडों में दफन हो चुकी है। हमारे यहाँ परम्पराएँ जीवित हैं, उसकी जीवंता हमारी सभ्यताएँ में सुरक्षित है। भारतीय धर्म साधना में सैकड़ों वर्षों की जो पूजा पद्धति है, वह आज भी हमारे धर्म साधना का हिस्सा है। भारत में पूजा पद्धति की जो परम्परा है, (यथा, सूर्य उपासना, यहाँ की गंगा, वृक्षों की पूजा) वह आज भी हमारी संस्कृति का हिस्सा है। भारतीय संस्कृति का अंतश्चेतना विविधताओं में है लेकिन यहाँ की संस्कृति में एकता के सूत्र हैं, जो उन्हें एक सूत्र में पिरो देता है। भारत का भौगोलिक ईकाई विविधताओं से भरा है, एक ओर जहाँ सूखा भूभाग है, दूसरी ओर बाढ़ से ग्रसित है। भारत में एक क्षेत्र पहाड़ों, पर्वतों से अच्छादित रहता है, वहीं दूसरी ओर नदियों एवं समुद्रों से जलमग्न है। यही विविधता भारतीय संस्कृति की पहचान है। हमारे यहाँ भाषाओं की विविधता क्षेत्र और स्थान के आधार पर बदल जाती है। भाषा सिर्फ विचारों का विनिमय ही नहीं है बल्कि भाषा संस्कृति की वाहक भी होती है। भाषा एवं संस्कृति की विविधता हमारी सभ्यता को फूलों की गुलदस्ता की तरह बनाती है। भारत में एक ओर दक्षिण भारत की भाषाएँ तो दूसरी ओर पूर्वोत्तर राज्यों की अपनी भाषा बोली जाती है। हिन्दी भाषा-भाषी क्षेत्र भारत की बहुलतावादी जनसंख्या है। यहाँ भाषा की विविधता अनेकता नहीं एकता की प्रतिबद्धता है। इसका बड़ा कारण भारतीय जनमानस में भारतीय संस्कृति के मूल्य विविधताओं में भी एक दूसरे से जुड़े रहते हैं। हमारी सभ्यताएँ सह-धाराओं में बंटी है, चाहे वह धर्म, जाति, सम्प्रदाय और वर्ग हों लेकिन यह विविधता एकता को खंडित नहीं करती है बल्कि संस्कृति के धाराओं के कारण समन्वय स्थापित करती है।

भारतीय संस्कृति की वैश्विक दृष्टि 'गुटनिरपेक्षता' की

रही है। यही कारण है कि हम भारतीय पूरे विश्व को एक परिवार मानते हैं। सहअस्तित्व और सहभागिता हमारी सभ्यता का मूल सिद्धांत है। हमारी पहचान प्रकृति के 'संलग्नता के सर्वव्यापी बोध' में है। प्रकृति जीवन का साह्चर्य है। भारत में प्रकृति और मनुष्यों में समन्वय है। यह समन्वय के कारण हम एक दूसरे के विरुद्ध में नहीं रहते बल्कि एक दूसरे के सहयोगी बनकर कार्य करते हैं। जबकि यूरोपीय संस्कृति प्रकृति को दुश्मन के तरह व्यवहार करती है। हमारी सभ्यता की पहचान धर्म और वैज्ञानिकता के साह्चर्य में भी है। वैज्ञानिकता जहाँ तर्क पर आधारित है, धर्म विश्वास पर लेकिन भारतीय सभ्यता की समन्वयकारी दिशा दोनों को एक-दूसरे का सहभागी बना देती है। भारतीय सभ्यता का आत्मबोध समन्वयकारी है। ''भारतीय संस्कृति का अद्वितीय लक्षण यह नहीं है कि कैसे वह शताब्दियों से होने वाली निरंतर और हिंसा विदेशी घुसपैठों में जीवित रहती आई, बल्कि यह है कि वह उनकी प्रभुसत्ता के बावजूद किस तरह अपने को अक्षत रख सकी।''[1]

हमारे देश में बाहरी आक्रमण विश्व में अन्य देशों की तुलना में ज्यादा हुए हैं। सैकड़ों वर्ष भारत दूसरों का गुलाम रहा है। सैकड़ों वर्षों की गुलामी की जंजीरें भी भारतीय सभ्यता के आत्मबोध पर प्रहार नहीं कर सकी। दूसरी संस्कृति के सम्पर्क में आते ही हमारी परम्परा उसे अपने में समाहित कर लेती थी। भारतीय संस्कृति की बड़ी विशेषता यही थी कि यहाँ बाहर से आए हुए लोग शासक तो बन गए लेकिन वे हमारी संस्कृति को विकृत नहीं कर पाए।

भारतीय सभ्यताओं में धर्मनिरपेक्षता के सिद्धांत हमें सर्वग्राह्य बनाते हैं। यहाँ हमेशा से किसी एक धर्म का वर्चस्व नहीं रहा है। हिंदू धर्म अपने सहिष्णुता के लिए विश्व प्रसिद्ध है। यदि बाहर के धर्म यहाँ आए भी तो वे आसानी से यहाँ के हिस्से हो गए। हमारी सभ्यता सबके साथ समान व्यवहार करते हुए एक समान अवसर भी प्रदान करती है। ''भक्ति की विविध प्रवृत्तियों को समेट लिया जाता है... - उस हिन्दू आध्यात्मिकता के बहुत सारे क्षणों के रूप में, जो एक उच्च परंपरा और एक निम्न परंपरा में, दार्शनिक (या वैदान्तिक) और कथात्मक (या पौराणिक वंशावलियों की) और लोकप्रिय गीतात्मकता (या भक्ति) में बँटी होने के बावजूद कुल मिलाकर अनिवार्यत: एक ही है।''[2]

भारतीय धर्मसाधना में कवियों की विविधता और उनके दर्शन भिन्न-भिन्न रहते हुए लक्ष्य ईश्वर की प्राप्ति है। एक ओर जहाँ तुलसीदास के राम सगुण हैं, दूसरी ओर कबीर के राम निर्गुण पंथ के हैं। लेकिन राम दोनों के हैं। भारतीय संस्कृति की विशिष्टता है, जो हमारे सभ्यता का अभिन्न हिस्सा है। दरअसल राम सबके हैं, गरीब-अमीर, ऊंच-नीच, छोटे-बड़े सबके हैं। भारतीय संस्कृति की विशेषताएं यही है। लेकिन जब हमारी संस्कृतियाँ में इतनी विशिष्टता है, फिर भी हमारे समाज के बहुसंख्य हिस्सा खासकर महिलाएँ उपेक्षित क्यों है? भारतीय संस्कृति में यह पड़ताल ना केवल उपयोगी है बल्कि व्यावहारिक भी। साहित्य और संस्कृति का सम्बन्ध बहुत गहरा और सूक्ष्म है। साहित्य हमें जीवन जीना सिखाता है और संस्कृति हमें जीवन जीने के संस्कार का बोध कराती है। साहित्य समाज और संस्कृति को अभिव्यक्त करता है। संस्कृति को सामाजिक संवेदनाओं से रू-ब-रू कराती है। साहित्य के लिए संस्कृति विषय का व्यापक क्षेत्र है।

साहित्य संस्कृति का प्रतिबिम्ब भी है। साहित्य के अंदर जिस वर्ण्य-विषय का प्रतिपादन होता है, वह संस्कृति के जीवन मूल्य होते हैं। सामाजिक मूल्य संस्कृति का हिस्सा है। संस्कृति अतीत एवं परम्पराओं से एक पीढ़ी से दूसरी पीढ़ी में रूपान्तरित होते रहती है। संस्कृति परम्पराओं एवं रीतिरिवाजों को साहित्य के माध्यम से अभिव्यक्त करता है। साहित्य अस्मिता की पहचान भी कराता है।

अस्मिता व्यक्ति की पहचान को प्रमाणित करते हुए, उसके अस्तित्व को परिभाषित भी करती है। ''साहित्य भी अस्मिता की पहचान कराता है - सामूहिक, सामाजिक, व्यक्तिगत और आस्तित्विक अस्मिता की। साहित्य भी स्थिति बोध जगाता है, जड़ों की पहचान कराता है, उनके द्वारा अपनी मिट्टी से रस खींचने की प्रेरणा देता है, प्रक्रिया सिखाता है।''[3] साहित्य सत्य का अन्वेषण भी करता है। संस्कृति के सर्वव्यापक दिशा को साहित्य प्रमुखता से अभिव्यक्त करता है।

साहित्य कई अर्थों में संस्कृति का निर्माण भी करता है। 'महाभारत' और 'रामायण' दोनों साहित्य की अमूल्य धरोहर है। 'महाभारत भारतीय सामाजिक व्यवस्था में एक नये सामाजिक मूल्यों को स्थापित करते हुए संस्कृति की धारा को बदल दिया। दूसरी तरफ 'रामायण' भारतीय सामाजिक नैतिक आदर्श को पूरी तरह बदल दिया। यह एक सामान्य उदाहरण है। साहित्य सामाजिक मूल्यों में एक बड़ा मापदंड स्थापित करता है। वह मापदंड सामाजिक आदर्श का रूप ले लेता है। क्रमश:गत यही आदर्श संस्कृति का हिस्सा हो जाता है। इसलिए

साहित्य और संस्कृति का अन्तर्सम्बन्ध बहुत गहराई से जुड़ा होता है। साहित्य सामान्य तौर पर संस्कृति का दर्पण होता है। साहित्य की संवेदनाएं सामाजिक संरचना में होने वाले विभिन्न स्तरीकरण का प्रतिबिम्ब भी होता है। साहित्य में स्त्री-सशक्तिकरण की मुखर आवाज है। साहित्य को इस दृष्टिकोण से जाँचना और परखना होगा।

भारतीय संस्कृति की विरासत चाहें वह लोक कहानी, लोककथाएं/धार्मिक कहानियाँ हों, यह सब साहित्य में जीवित है। साहित्य समाज में एक समन्वय स्थापित करता है, यह समन्वय भारतीय सामाजिक संरचना का मूल आधार होता है। आज भी भारतीय सामाजिक व्यवस्था की सबसे बड़ी चुनौतियों का समाधान सामाजिक समन्वय में ही है। यह समन्वय का आधार साहित्य और संस्कृति है।

साहित्य लोक से जुड़ा होता है। साहित्य में लोक कल्याण की बातें संवेदनाओं में भाव के स्तर पर होता है। आज के लोक कल्याणकारी व्यवस्था में साहित्य का यह आदर्श चिन्हित किया जा सकता है। साहित्य में 'लोक' और 'जनता' जैसे शब्द बहुत लोकप्रिय हैं, लोक का प्रयोग कबीर से होते हुए हजारीप्रसाद द्विवेदी के आलोचकीय दृष्टि का आधार बनता है, जबकि जनता शब्द 'शुक्ल' जी के आलोचकीय दृष्टि का आधार बिन्दु। यह सभी विचार भारतीय संस्कृति की विशिष्टता है, जिसका कृोत साहित्य में है। भारतीय सभ्यता बाधे विचारों का सामंजस्य है, जिनका विचार सामाजिक जीवन का व्यावहारिक दर्शन बनाता है।

''भारत एक है, लेकिन उसके विचार अनेक हैं और वह इन्हीं तरह-तरह के विचारों के साथ घिसटते हुए नई सदी में पहुँच गया है।''[4] यह विचार भारतीय संस्कृति में वैचारिक दर्शन का आधार प्रस्तुत करता है। संस्कृति और साहित्य एक दूसरे के बिना नहीं चल सकते, यह कहा जा सकता है कि साहित्य और संस्कृति एक दूसरे के पूरक हैं।

भारतीय संस्कृति और साहित्य में स्त्री सशक्तिकरण की आवाज आधुनिकता की देन है। हिन्दी साहित्य में स्त्री लेखिकाओं का अभ्युदय आधुनिक काल में हुआ है। अतीत में बहुत कम महिलाएँ साहित्य की रचनाकार थीं।

आधुनिक युग आधुनिकता और वैज्ञानिकता का युग था। यह युग विश्वास के जगह तर्कों से संचालित होता था। वैज्ञानिक बोध तर्क को जन्म दे रहा था। क्या हो रहा है और क्या होना चाहिए के बीच में अब परम्परागत सोच से अलग हटकर तर्क के आधार पर निर्णय लिए जा रहे थे। छायावादी युग में विश्वास सामाजिक व्यवस्था में व्यक्तिगत आस्था का विषय बन गया, तर्क आधुनिकता की कसौटी का आधार।

भारतीय संस्कृति एवं साहित्य में स्त्रियों का एक बहुत समृद्ध इतिहास रहा है। भारतीय सभ्यता बोध में स्त्री-सशक्तिकरण के संघर्ष की लम्बी फेहरिस्त है।

यद्यपि दुनिया के इतिहास में स्त्री के अपने संघर्ष हैं। भारतीय संस्कृति में स्त्रियाँ कभी देवी का स्वरूप रही है तो कभी 'सती प्रथा', बाल विवाह जैसे कुरीतियों का आदर्श भी स्त्रियों पर थोपा गया। हमारा समाज कभी 'सती प्रथा को स्त्रियों की नैतिकता से बांध रखा था। सती प्रथा को खत्म करने के लिए स्त्रियों के आत्मबलिदान को भुलाया नहीं जा सकता है। कभी बाल विवाह भी हमारे संस्कृति का हिस्सा होता था। जिस उम्र में बच्चे खेलते-कूदते हैं, जिम्मेदारी का थोड़ा भी एहसास नहीं होता, उस उम्र में बच्चे की शादी कर देना, कितना अमानवीय व्यवहार था, यह सोच ही स्त्रियों के प्रति सौतेला व्यवहार जैसा लगता है। दरअसल भारतीय स्त्रियाँ भी दलितों की तरह हाशिए की समाज रही है। जिस तरह दलितों के साथ अमानवीय व्यवहार होता था, स्त्रियाँ भी उसकी शिकार थीं।

स्त्रियों को पैतृक संपत्ति में भी अधिकार नहीं होता था। बेटी की शादी हो जाय तो पिता के लिए जिम्मेदारी समाप्त हो जाती है। चाहें उसकी शादी किसी आर्थिक अभाव वाले परिवार में क्यों नहीं हुआ हो। भारतीय नारी यह सबकुछ अपने भाग्य से जोड़कर देखती है। आज भी भारतीय समाज में यही स्थिति है।

आज जहाँ स्त्रियों के लिए यह कानून है, अपने पिता की संपत्ति में पुत्री का भी समान अधिकार है लेकिन व्यावहारिक तौर पर महिलाएँ शादी के बाद गरीबी में जीवन व्यतीत कर लेंगी लकिन वह अपने पिता की संपत्ति में हिस्सेदारी नहीं मांगती है।

भारतीय सभ्यता एवं संस्कृति में महिलाएं शिक्षा से वंचित थी। वह घर की चारदीवारी में रहने के लिए विवश थी। वह अपने ही घर में निर्णय लेने की अधिकारनी नहीं थी। अतीत में मताधिकार का प्रयोग स्त्रियों को नहीं था। बहुत संघर्षों के बाद यह अधिकार उसे प्राप्त हुआ है। आज भी महिलाएँ जहाँ काम करती है, वहाँ उनके साथ भेदभाव होता है। भारतीय महिलाएँ असमानताओं की शिकार होती रही है। यह असमानता

और भी बढ़ जाती है, जहाँ यौन हिंसा होती है। यौन हिंसा महिलाओं के लिए एक अभिशाप के समान है। जो ना केवल शारीरिक हिंसा है बल्कि मानसिक प्रताड़ना भी है। लेकिन इन सबके बावजूद स्वांत्र्योत्तर भारत में महिलाओं को लेकर बाबा साहेब अंबेडकर ने 'हिंदू कोड बिल' बनाए, जिनमें महिलाओं के अधिकारों की सुरक्षा की बात की गई। उस समय इस बिल का विरोध करने वाले वे लोग थे, जो समाज को प्रगतिशील देखना नहीं चाहते थे। लेकिन यह भी दुर्भाग्य था कि उस समय यह बिल लागू ना हो सका। जिससे ख़फा होकर बाबा साहेब कानून मंत्री से त्यागपत्र दे दिए थे।

बाद के दिनों में नेहरू सरकार ने इस बिल को क्रमशः लागू किया। लेकिन 'हिंदू कोड बिल' ने महिलाओं की स्थिति में बुनियादी तौर पर परिवर्तन किया।

''स्वतंत्र भारत का समकालीन नारी आंदोलन महिलाओं की उपेक्षा, शोषण और श्रम में लिंग आधारित भेदभाव को समाप्त करने तथा बराबरी के सिद्धांत का दृढ़तापूर्वक पालन करने की नीति के साथ शुरू हुआ।''[5] स्वतंत्रता बाद महिलाओं के पक्ष में ना केवल कानून बनाए गए अपितु व्यावहारिक स्थिति में अधिकारों की सुरक्षा के लिए बहुत सारे आंदोलन भी हुए।

महिलाओं की जागरूकता में शिक्षा का विशेष महत्त्व है। आधुनिक शिक्षा ने महिलाओं को तर्क जैसे शस्त्र दिए। यह तर्कवादी शिक्षा ने क्या होना चाहिए, जैसे प्रश्न खड़ा नहीं किया बल्कि क्या हो रहा है, जैसे तर्क दिया। तर्कवादी शिक्षा ने महिलाओं में एक अलग जागरूकता पैदा की। सामाजिक रूढ़ि के परिवर्तन का सबसे बड़ा अस्त्र शिक्षा है। महिलाओं की स्थिति में बुनियादी परिवर्त्तन का आधार आधुनिक शिक्षा है। किसी भी राष्ट्र के विकास का आधार स्तम्भ वहाँ की महिलाएँ होती है क्योंकि लगभग आधी आबादी की संख्या वहाँ की स्त्रियाँ होती है। यदि महिलाओं को विकास का उचित मार्ग प्रशस्त नहीं किया गया तो वह समाज कभी विकसित हो नहीं सकता है। इसलिए देश के विकास के लिए यह बहुत महत्त्वपूर्ण है कि महिलाओं को शिक्षित किया जाए।

भारतीय संस्कृति/सभ्यता में महिलाओं का आर्थिक विकास में योगदान है। एक शिक्षित महिलाएँ ना केवल स्वयं की बल्कि परिवार, समाज की भी उत्थान कर सकती है। इसलिए बुनियादी तौर पर सरकार की यह बड़ी जिम्मेदारी होनी चाहिए कि महिलाओं के उत्थान में योगदान हैं। भारतीय संस्कृति में महिलाओं की स्थिति जातीय वर्गीकरण के आधार पर भिन्न-भिन्न है। पुरुषवादी समाज में बहुसंख्यक महिलाएँ अपने पति के पद, प्रतिष्ठा पर गौरवान्वित होकर अपनी स्वयं की पहचान को पति की पहचान बना लेती है। लेकिन दलित महिलाएँ दोहरी कठिनाई का सामना करती है। भारतीय समाज में दलितों की सामाजिक स्थिति बहुत भेदभावपूर्ण रहा है। उनमें से दलित महिलाओं के साथ अन्यायपूर्ण भेदभाव होता रहा है। यहाँ अनायास ही 'जयप्रकाश कर्दम' की कविता याद आ रही है -

''स्त्री होकर भी
नहीं बन पाती हिस्सा
उस समाज का
जो रहता है खुद को
गर्व से - आधी दुनिया
स्त्री होने से पहले
जहाँ होती है वह
एक जाति।''

दलित स्त्री अपने को सारी विवशताओं से मुक्त करना चाहती है जो जन्म से लेकर उस पर लाद दी गई थी। आज वे उन सारे गूढ़ तन्त्रों को तोड़ देना चाहती है।''[6] भारतीय सभ्यता व संस्कृति में महिलाएँ एक तरफ सम्मान की अधिकारिणी रही है तो दूसरी तरफ संघर्ष की प्रतिमूर्ति। महिलाओं का यह संघर्ष उनके विकास के योगदान में बड़ी महती भूमिका अदा की है। आज स्त्रियों ना केवल शिक्षा ग्रहण कर रही है बल्कि महिलाएँ राजनीति, ऑफिसर, सीईओ, सीए, प्रोफेसर और फाइटर प्लेन की पायलट आदि भी बन रही है। आज की महिलाएँ अपनी चारदीवारी को तोड़कर अब अपने अधिकार के लिए सड़क से संसद तक संघर्ष कर रही है।

हिन्दी साहित्य में आज की सशक्त स्त्रियों अब 'स्त्री-विमर्श' के नाम से स्वयं के साहित्य का सृजन कर रही है। अपने जीवंत और यथार्थ जीवन के अनुभव का भोक्ता स्वयं बन रही हैं। आज की महिलाएँ साहित्य का सृजन करते हुए एक आदर्श प्रस्तुत कर रही है। हिंदी साहित्य में महिला लेखन ने साहित्यिक दृष्टि को एक नया आयाम दिया है। 'स्त्री-विमर्श' से पूर्व स्त्रियों के अनुभव को एक पुरुष साहित्यकार विभिन्न विधाओं में सृजनकर्त्ता थे लेकिन आधुनिक समय में स्त्रियाँ स्वयं अपने अनुभव का सृजनकर्त्ता हैं। महिला लेखिका अपने साहित्य सृजन में समाज में फैले तमाम तरह के सामाजिक

कुरीतियों का विरोध करती हैं।

'स्त्री-विमर्श' स्त्रियों की अस्मिता का लेखन है। अब उनके लिए जीवन की सच्चाई स्वयं का अनुभव है। उनकी संवेदना उन संघर्ष करती हुई वह महिला/स्त्री है, जो पुरुषवादी समाज में अपनों के साथ भी प्रताड़ित हो रही है। आज की महिला लेखन का प्रमुख वर्ण्य-विषय पितृसत्ता में होने वाली स्त्री शोषण का प्रतिकार है। स्त्रियों से जुड़ी समस्या महिला लेखन का मूल आधार है। स्त्री की मुक्ति स्वयं स्त्रियों के संघर्ष से ही निकल सकता है, यह स्वर स्त्री-विमर्श का केन्द्रीय भाव है। 'अपनी पुस्तक 'द सेकिंड सेक्स' में सिमोन प्राय: दुनिया में सब कहीं स्त्री के प्रति अपनाए गये दोहरे मानदण्डों की भर्त्सना करती हैं। उन्होंने इस बात पर जोर दिया है कि स्त्री की मुक्ति का मार्ग स्त्री के अपने संघर्ष से ही निकलेगा।''[7] दुनिया में स्त्रियाँ जहाँ-जहाँ अपने लिए संघर्ष और आंदोलन किया है, वहीं उनको अपना अधिकार प्राप्त हुआ है।

भारतीय सभ्यता में स्त्रियों अपनी पहचान को लेकर उदासीनता का भाव रखती है। यह उदासीनता पितृसत्तात्मक समाज के प्रभाव के कारण है। हमारे समाज में महिलाएँ पुरुष वर्चस्व के कारण अपनी पहचान नहीं बना पाती है। लेकिन स्त्री-विमर्श ने यह साहस पैदा किया है कि महिलाएँ भी अपनी बातें बेबाकी से रख सकती हैं। हाल के दिनों में लगातार कई महिलाओं की आत्मकथाएँ प्रकाशित हुई हैं। ''आज तक मैं दूसरों की जिन्दगी पर आधारित कहानियाँ ही 'रचती' आई थी, पर इस बार मैंने अपनी कहानी लिखने की जुर्रत की है। है तो यह जुर्रत ही क्योंकि हर कथाकार अपनी रचनाओं में भी दूसरों के बहाने से कहीं-न-कहीं अपनी जिन्दगी के, अपने अनुभव के टुकड़े ही तो बिखेरता रहता है।''[8] स्त्री-विमर्श ने महिला लेखन को सशक्त बनाया है। भारतीय सभ्यता में स्त्रियाँ हमेशा से ममतामयी रही हैं। उसकी यही विशेषता तो उसे महान बनाती है लेकिन यह करुणामयी चरित्र उसे संघर्ष और आन्दोलन से भी रोकती है। उसे अपनी पहचान और अस्तित्व के लिए सबसे पहले खुद से संघर्ष करना होगा, खुद में परिवर्त्तन चाहिए। यह तभी संभव है, जब अपने अधिकार के लिए सजग हों। सिर्फ कानून बना देने भर से स्त्रियों की मुक्ति संभव नहीं है, कानून को व्यावहारिक बनाना होगा। तभी उसकी मुक्ति संभव है।

स्त्री और दलित दोनों हमारे समाज के हाशिए का वर्ग रहा है। ''स्त्री-विमर्श और दलित विमर्श' में आंतरिक साम्य स्पष्ट है। दलन और शोषण शक्तिशाली करता है, दलित और शोषित कमजोर होता है। शिकार की हिंसाजनक स्थितियों में शिकार को मारकर शिकारी जिस प्रकार प्रसन्न होता है, उसी प्रकार की प्रसन्नता का आस्वाद शोषक मानसिकता का लक्ष्य होता है। स्त्री और दलित समुदाय के प्रति इस शिकारी दृष्टि में पर्याप्त साम्य है।''[9] लेकिन दलित विमर्श के कारण दलित साहित्य की बौद्धिक चेतना जितनी प्रखरता से उभरी, उतनी प्रखरता स्त्री विमर्श में नहीं है।

भारतीय सभ्यता एवं संस्कृति में 'महिला सशक्तिकरण' के लिए संघर्ष की जरूरत है, यह भारतीय सामाजिक व्यवस्था में अभी संभव नहीं लगता है। लेकिन मेरी सहमति सिमोन द बोउवार की इस पंक्ति में है ''स्त्री की मुक्ति का मार्ग स्त्री के अपने संघर्ष से ही निकलेगा।'' भारतीय संस्कृति में महिलाएँ अपने अधिकार के लिए पुरुषों के विरुद्ध जाने की साहस नहीं कर पाती है। 'सिमोन की प्रसिद्ध उक्ति है - स्त्री पैदा नहीं होती, बनाई जाती है। स्त्री के स्वायत्त और स्वतंत्र जीवन के पक्ष में ड़े होकर भी वे पुरुष के विरोध में नहीं जाती।''[10] भारतीय महिला सशक्तिकरण के लिए 'महिलाओं को आंदोलनकारी' होने की आवश्यकता है।

एसोसिएट प्रोफेसर, हिंदी विभाग
शहीद भगत सिंह महाविद्यालय
दिल्ली विश्वविद्यालय, दिल्ली-110017

सन्दर्भ सूची

1. निर्मल वर्मा, भारत और यूरोप : प्रतिश्रुति के क्षेत्र, पृ. 43
2. एजाज अहमद, इन थियरी, पृ. 261
3. अज्ञेय, साहित्य, संस्कृति और समाज परिवर्तन की प्रक्रिया, पृ. 30
4. सुनील खिलनानी, भारतनामा, अनु. अभय कुमार दुबे, भूमिका अंश
5. राधा कुमार, स्त्री संघर्ष का इतिहास, पृ. 14
6. सं. डॉ. इन्दु के.वी., नारी संघर्ष : यात्रा के विविध रूप, पृ. 54
7. मधुरेश, स्त्री की दुनिया, पृ. 10
8. मन्नू भंडारी, एक कहानी यह भी, पृ. 7
9. चन्द्र शेखर त्रिपाठी, स्त्री-विमर्श, पृ. 149
10. मधुरेश, स्त्री की दुनिया, पृ. 11

विकसित भारत @ 2047 : वृद्ध जनों की देखभाल में परिवार की बदलती भूमिका

डॉ. प्रमिला* डॉ. मीनाक्षी आनंद**

सारांश

भारत बढ़ती उम्र की आबादी के साथ एक जबरदस्त जनसांख्यिकीय बदलाव का अनुभव कर रहा है, जो स्वतंत्रता की शताब्दी (2047) तक कुल आबादी का लगभग 20% लेने का अनुमान है। यह जनसांख्यिकीय परिवर्तन बुजुर्गों की देखभाल के पारंपरिक मॉडल के लिए गंभीर समस्याएं पैदा करता है जो परिवार मॉडल पर आधारित है, क्योंकि पारंपरिक परिवार मॉडल बुजुर्ग नागरिकों के लिए समर्थन का स्तंभ रहा है। भारत में बुजुर्गों की देखभाल की जरूरतों की जटिलता को शहरीकरण, परिवारों के परमाणुकरण, कार्यबल में शामिल होने वाली महिलाओं की बड़ी संख्या और प्रवासन के कारण और अधिक जटिल बना दिया गया है, जिसके कारण अनौपचारिक देखभाल करने वालों के पूल में कमी आई है। साथ ही, उम्र बढ़ने वाले लोगों में गैर-संचारी रोगों की बढ़ती संख्या ने विशेष और दीर्घकालिक स्वास्थ्य उपचार और सामाजिक जरूरतों की आवश्यकता को बढ़ा दिया है। यह पेपर इन जनसांख्यिकीय, सामाजिक और स्वास्थ्य परिवर्तनों के संदर्भ में भारत में बुजुर्गों की देखभाल की बदलती तस्वीर को दर्शाता है। पुराने परिवार की देखभाल लोकाचार मॉडल और नए देखभाल मॉडल के बीच संघर्ष की जांच करता है जो संस्थागत, तकनीकी और समुदाय-आधारित समर्थन को एकीकृत करते हैं। नीतिगत ढांचे, जनसांख्यिकीय रुझानों और देखभाल की गतिशीलता की विश्लेषणात्मक जांच के साथ, शोध वर्तमान नीति में खामियों की ओर इशारा करता है, जिसमें कम ग्रामीण कवरेज, पारिवारिक वित्तीय बोझ, देखभाल करने वालों को समर्थन की कमी और असंगत प्रबंधन शामिल हैं। यह पेपर विकसित भारत @ 2047 विजन के अनुरूप एक परिवार-आधारित बुजुर्गों की देखभाल इकोसिस्टम विजन देता है। पारिवारिक कर्तव्य की प्राचीन भारतीय सांस्कृतिक परंपरा और नए संस्थागत और नीतिगत हस्तक्षेप के संयोजन के साथ, भारत गरिमापूर्ण वृद्धावस्था, सामाजिक संपर्क और गुणवत्तापूर्ण देखभाल को बढ़ावा दे सकता है तथा एक आसन्न जनसांख्यिकीय संकट को सामाजिक सामंजस्य और समृद्धि के निर्माण के अवसर में बदल सकता है।

बीज शब्द

बुजुर्गों की देखभाल, उम्र बढ़ने की आबादी भारत, परिवार की देखभाल, जेरोन्टोलॉजिकल सामाजिक कार्य, जन-सांख्यिकीय संक्रमण, बुजुर्गों की स्वास्थ्य देखभाल।

परिचय

भारत में एक बड़े पैमाने पर जनसांख्यिकीय परिवर्तन चल रहा है क्योंकि यह स्वतंत्रता की शताब्दी विकसित भारत (2047) के दृष्टिकोण की शुरुआत कर रहा है। इस परिवर्तन की कुंजी भारतीय आबादी की त्वरित उम्र बढ़ना है, जो अपनी पारंपरिक बुजुर्गों की देखभाल प्रथाओं के लिए जटिल चुनौतियाँ प्रस्तुत करती है और समाज में विभिन्न स्तरों पर नए दृष्टिकोणों की आवश्यकता होती है (संयुक्त राष्ट्र जनसंख्या कोष [यूएनएफपीए], 2023)।

पृष्ठभूमि और संदर्भ

भारत में जनसांख्यिकीय स्थिति मौलिक रूप से बदल रही है। 2050 तक भारत में 60 वर्ष और उससे अधिक आयु की कुल आबादी का लगभग 20 प्रतिशत होने का अनुमान है, जो आज लगभग 140 मिलियन बुजुर्गों की तुलना में बढ़कर 2050 तक 300 मिलियन से अधिक हो जाएगा (यूएनएफपीए, 2023) जीवन प्रत्याशा में इस तरह की वृद्धि और प्रजनन दर

में कमी, जो अधिकांश राज्यों में प्रतिस्थापन से कम हो गई है, भारत में जीवन प्रत्याशा में सुधार करने में सफलता का संकेत देती है - जो 1950 में बढ़ी थी, लेकिन आज औसतन लगभग 70 वर्ष है - और प्रजनन क्षमता को कम कर रही है, जिसके परिणामस्वरूप जनसंख्या का तथाकथित सफेदीकरण हुआ है (हेल्पएज इंडिया, 2025)।

बहु-पीढ़ी वाले परिवारों ने, परंपरा से, बुजुर्गों की देखभाल करना, सामाजिककरण करना और उनका सम्मान करना संभव बना दिया है, जो संतानोचित धर्मपरायणता और आपसी समर्थन के सांस्कृतिक मानदंडों के एक सेट में मजबूती से अंतर्निहित है (भाटी, 2025, कुमार और शर्मा, 2023)। इन व्यवस्थाओं ने शारीरिक और भावनात्मक पोषण और अकेलेपन और हाशिए के खिलाफ समर्थन को बढ़ावा दिया (भाटी, 2025)। फिर भी, शहरी प्रवासन, एकल परिवारों का प्रसार, श्रम शक्ति में महिलाओं की बढ़ती भागीदारी और वैश्वीकरण जैसी सामाजिक-आर्थिक प्रक्रियाओं ने इन देखभाल देने वाले वातावरण को बाधित कर दिया है (भाटी, 2025; सिंह, 2022; कुमारी और पल्लवी, 2024)।

एक और बढ़ती चिंता उम्र बढ़ने का नारीकरण है : अधिकांश सबसे पुराने (80 + वर्ष) महिलाएं हैं, जिनमें से अधिकांश विधवा और आश्रित हैं, और इसके लिए लिंग-संवेदनशील नीति और सामुदायिक प्रतिक्रिया की आवश्यकता होगी जो उम्र, लिंग और सामाजिक-आर्थिक हाशिए के प्रतिच्छेदन पर विचार करती है (यूएनएफपीए, 2023; महिला एवं बाल विकास मंत्रालय, 2023; डब्ल्यूएचओ, 2022)।

जनसांख्यिकीय रुझान और उनके निहितार्थ

भारत अपनी जनसांख्यिकी को गहराई से बदल रहा है जिसका बुजुर्ग आबादी और उनकी देखभाल करने के तंत्र पर प्रभावशाली प्रभाव पड़ने वाला है। इस तरह के जनसांख्यिकीय पैटर्न में जनसंख्या की उम्र बढ़ना, परिवार के सदस्यों की घटती संख्या, शहरी क्षेत्रों में प्रवास, श्रम बाजार में शामिल होने वाली महिलाओं की बढ़ती संख्या और एक बदलती बीमारी पैटर्न शामिल है, जो सभी एक साथ राष्ट्र में बुजुर्गों की देखभाल की प्रकृति और स्थिरता को प्रभावित करते हैं।

- ⋆ परिवार का घटता आकार और शहरी प्रवास
- ⋆ श्रम भागीदारी बदलना
- ⋆ स्वास्थ्य परिवर्तन और बढ़ती देखभाल जटिलता
- ⋆ बुजुर्गों की देखभाल पर जनसांख्यिकीय रुझानों के प्रभाव।

इन सभी जनसांख्यिकीय तथ्यों के लिए वृद्धों की देखभाल की पुनः परिभाषा की आवश्यकता है। परिवारों के आकार में कमी और प्रवास करने की बढ़ती प्रवृत्ति ने अनौपचारिक देखभाल प्रणाली को तोड़ दिया है, जो पहले बुजुर्गों की देखभाल के बोझ का एक बड़ा हिस्सा वहन करती थी (भाटी, 2025)। इसने इस तथ्य को जन्म दिया है कि समय-सम्मानित दृष्टिकोण जिसमें उम्र बढ़ने की देखभाल को मुख्य रूप से परिवार-केंद्रित माना जाता है, तनावपूर्ण हो रहा है, जिससे वृद्धाश्रमों, डे-केयर सुविधाओं और घर-आधारित नर्सिंग सेवाओं जैसी संस्थागत सहायता की आवश्यकता बढ़ जाती है (कुमार और शर्मा, 2023)।

एकल परिवारों के उद्भव का तात्पर्य सह-निवासी वयस्कों की कम संख्या से है, जिससे बुजुर्गों के अकेलेपन, सामाजिक अलगाव और उपेक्षा का खतरा हो सकता है, जो इस समूह में खराब मानसिक स्वास्थ्य परिणामों में जोखिम कारक हैं (भाटी, 2025; सिंह, 2022)। पुरानी स्वास्थ्य संबंधी समस्याओं की बढ़ती संख्या स्थिति को और खराब करती है, जिससे वृद्ध लोगों और उनके देखभाल करने वालों दोनों को आर्थिक लागत और भावनात्मक तनाव होता है (डब्ल्यूएचओ, 2022; भारत का आर्थिक सर्वेक्षण, 2024)।

इन प्रवृत्तियों के लिए जटिल नीतियों और नवाचार की आवश्यकता होती है, जैसे प्रौद्योगिकी-सक्षम देखभाल (टेलीमेडिसिन, पहनने योग्य स्वास्थ्य उपकरण), देखभाल करने वालों की औपचारिकता और प्रशिक्षण, समुदाय-आधारित देखभाल केंद्र, उचित पेंशन और बीमा योजनाएं, और परिवार की देखभाल करने वालों का समर्थन करने के लिए कार्यस्थल प्रावधानों की सुविधा प्रदान करना (साल्वे एट अल., 2024; हेल्पएज इंडिया, 2025)।

परंपरा बनाम परिवार की देखभाल के उभरते मॉडल

परिवार की देखभाल की भारतीय पारंपरिक प्रणाली संयुक्त परिवार की मजबूत परंपरा पर आधारित है जो सांस्कृतिक मानदंडों और धार्मिक मान्यताओं में निहित है, जहां परिवार का दायित्व है कि वह बुजुर्गों की देखभाल करे, एक महत्वपूर्ण जिम्मेदारी और सामाजिक स्थिति के हिस्से के रूप में (भाटी, 2025; भाटी, 2025; कुमार और शर्मा, 2023)।

परिवार की देखभाल का पारंपरिक प्रतिमान

ऐतिहासिक रूप से, भारतीय परिवार ज्यादातर संयुक्त या विस्तारित थे और कई पीढ़ियां एक ही छत के नीचे या आसपास के क्षेत्र में रहती थीं जहां संसाधन, कर्तव्य और सामाजिक संबंध साझा किए जाते थे (सिंह, 2022; भाटी, 2025)। इस प्रकार की बहु-पीढ़ीगत पारिवारिक संरचना तथाकथित अनौपचारिक देखभाल का समर्थन करती है-बुजुर्गों की अवैतनिक और गैर-पेशेवर देखभाल, जिसमें व्यक्तिगत देखभाल, निर्णय लेने, भावनात्मक समर्थन और प्रावधान के साथ दैनिक मदद शामिल है (भाटी, 2025; कुमार और शर्मा, 2023)।

उभरती वास्तविकताएँ : परिवार की देखभाल में परिवर्तन

- ⋆ भारत में आधुनिकीकरण, शहरीकरण और आर्थिक उदारीकरण ने संयुक्त परिवार संरचना और उसकी भूमिकाओं पर विनाशकारी परिणाम दिए हैं (कुमारी और पल्लवी, 2024)। एकल परिवार, यानी केवल माता-पिता और उनके बच्चों से मिलकर अपने दम पर रहते हैं, विशेष रूप से शहरी और आर्थिक रूप से विकसित क्षेत्रों में सबसे आम प्रकार का परिवार बन गया है (सिंह, 2022; भारत का आर्थिक सर्वेक्षण, 2024)। संरचना में इस बदलाव के बुजुर्गों की देखभाल पर महत्वपूर्ण परिणाम होते हैं।
- ⋆ आकांक्षाओं और मूल्यों को बदलना : शिक्षा, वैश्वीकरण और शहरी जीवन के प्रभाव के तहत युवा पीढ़ियों के बीच मूल्यों में परिवर्तन कभी-कभी पेशेवर या तकनीकी विकल्पों के पक्ष में हाथों से देखभाल करने के झुकाव में कमी की ओर ले जाता है (भाटी, 2025; साल्वे एट अल., 2024)।

पेशेवर और सशुल्क देखभाल सेवाएं

इन नई वास्तविकताओं को पूरा करने के लिए, पेशेवर देखभाल करने वालों, जैसे कि घरेलू नौकरानी, नर्सों और परिचारकों को बुजुर्गों की देखभाल में शामिल किया जाना शुरू हो गया है, खासकर शहरों में (कुमार और शर्मा, 2023)। औपचारिक देखभाल सेवाएं व्यक्तिगत स्वच्छता सेवाएं, दवा सेवाएं, फिजियोथेरेपी सेवाएं और साहचर्य प्रदान करती हैं। होम नर्सिंग या फिजियोथेरेपी के पैकेज प्रदान करने वाले एल्डरकेयर स्टार्ट-अप और व्यवसायों की बढ़ती संख्या अनौपचारिक देखभाल नेटवर्क (साल्वे एट अल., 2024) की गिरावट के कारण बाजार के अंतराल के लिए बाजार की प्रतिक्रिया के संकेतक हैं। यद्यपि पेशेवर देखभाल की भूमिका परिवार की देखभाल की पूरक है, यह लागत, नियंत्रण और कमोडिफाइंग देखभाल के नैतिक पहलू के मुद्दे पैदा करती है (सिंह, 2022; भाटी, 2025)।

तकनीकी मध्यस्थ और डिजिटल नवाचार

प्रौद्योगिकी ने टेलीकंसल्टेंशन, दूरस्थ स्वास्थ्य निगरानी, आपातकालीन चेतावनी और वरिष्ठ नागरिकों के सामाजिक जुड़ाव प्लेटफार्मों के साथ परिवार की देखभाल में मध्यस्थता करना शुरू कर दिया है (साल्वे एट अल., 2024; हेल्पएज इंडिया, 2025)। पहनने योग्य उपकरण महत्वपूर्ण संकेतों और गिरने की निगरानी करते हैं और देखभाल करने वालों या स्वास्थ्य चिकित्सकों को स्वचालित रूप से संकेत देते हैं, सुरक्षा बढ़ाते हैं और देखभाल करने वालों पर बोझ कम करते हैं (साल्वे एट अल., 2024; हेल्पएज इंडिया, 2025)।

सामुदायिक और सामाजिक संस्थागत समर्थन

समुदाय-आधारित गतिविधियाँ परिवार की देखभाल के लिए सबसे महत्वपूर्ण पूरक या विकल्प बन रही हैं। समाजीकरण, स्वास्थ्य देखभाल तक पहुंच, भोजन सेवाएं और भावनात्मक समर्थन बुजुर्गों को डे केयर सेंटर, बड़े क्लबों (वयोश्रेष्ठ या सिल्वर क्लब सहित), और एनजीओ द्वारा संचालित बुजुर्ग घरों (भाटी, 2025)। ये संगठन सामाजिक अकेलेपन के प्रभाव को कम करते हैं, अवकाश और सांस्कृतिक गतिविधियों की पेशकश करते हैं, और परिवार की देखभाल करने वालों को राहत प्रदान करते हैं (हेल्पएज इंडिया, 2025)।

सांस्कृतिक तनाव और नैतिक चिंताएँ

इन परिवर्तनों के साथ, पारंपरिक अपेक्षाओं और आधुनिक वास्तविकताओं के टकराव से तनाव पैदा होता है। इससे परिवार में संघर्ष या उपेक्षा हो सकती है, विशेष रूप से सम्मान की मांग करने वाले वरिष्ठ नागरिकों और आकांक्षा-प्रेरित युवा वयस्कों के बीच (भाटी, 2025)। बुजुर्गों पर मनोवैज्ञानिक प्रभाव होते हैं, जैसे अकेलापन, अर्थ की कमी, कथित परित्याग; ये समस्याएं महत्वपूर्ण हैं और सावधानीपूर्वक हस्तक्षेप की आवश्यकता है (सिंह, 2022; कुमार और शर्मा, 2023)।

घर-आधारित देखभाल सेवाएँ

इसमें प्रशिक्षित जराचिकित्सा नर्सों, फिजियोथेरेपिस्ट और देखभाल करने वाले परिचारकों की शुरुआत शामिल है जो

निर्धारित या आवश्यकतानुसार घरों में जाते हैं (हेल्पएज इंडिया, 2025)। फार्मेसी और चिकित्सा वितरण सेवाएँ, विशेष रूप से, जो COVID-19 महामारी में विशेष रूप से महत्वपूर्ण हो जाती हैं, दवा के पालन और स्वास्थ्य देखभाल तक पहुंच को बढ़ाती हैं (साल्वे एट अल., 2024)।

विशिष्ट बुजुर्ग देखभाल सुविधाएं

वृद्धाश्रम, सहायता प्राप्त रहने वाले समुदाय और बुजुर्गों को ध्यान में रखते हुए कल्याण केंद्र सभी प्रकार की संस्थागत देखभाल हैं (भारत का आर्थिक सर्वेक्षण, 2024)। हालाँकि, ऐतिहासिक रूप से, वृद्धाश्रम को कलंकित किया गया था, व्यावसायीकरण ने सेवा की गुणवत्ता, गोपनीयता और गरिमा के स्तर को बढ़ाया है (कुमार और शर्मा, 2023)। सहायता प्राप्त रहने वाले और सेवानिवृत्ति समुदाय, जो मुख्य रूप से शहरी और मध्यम आय वाले हैं, समन्वित चिकित्सा, मनोरंजक और सामाजिक गतिविधियाँ प्रदान करते हैं, समग्र रूप से जटिल आवश्यकताओं को संबोधित करते हैं (साल्वे एट अल., 2024)।

एनजीओ और सामुदायिक पहल

सरकार द्वारा प्रावधान के क्षेत्र में अंतराल को भरने की प्रक्रिया में गैर-सरकारी संगठन विशेष रूप से महत्वपूर्ण हैं, विशेष रूप से ग्रामीण और सीमांत स्तरों पर। बुजुर्ग देखभाल घर, परामर्श केंद्र और सामाजिक क्लब मानसिक स्वास्थ्य सहायता, सक्रिय जीवन शैली को बढ़ावा देने और अंतर-पीढ़ीगत बातचीत की कुछ गतिविधियाँ हैं जो गैर सरकारी संगठनों (भाटी, 2025) द्वारा की जाती हैं। सामुदायिक नेटवर्क के माध्यम से, ऐसी संस्थाएं यह सुनिश्चित करने में महत्वपूर्ण भूमिका निभाती हैं कि वृद्ध एकीकृत और सामाजिक रूप से सुरक्षित हैं (कुमार और शर्मा, 2023)।

कार्यस्थल और कॉर्पोरेट पहल

कर्मचारियों की देखभाल करने की जरूरतों को स्वीकार करने के परिणामस्वरूप, कई कार्यस्थलों ने कार्यस्थल नीतियों को लागू किया है जो बुजुर्गों की देखभाल के अनुकूल हैं। ये देखभाल करने वाली छुट्टी, लचीले काम के घंटे और ऑन-साइट कल्याण कार्यक्रम हैं जो उम्र बढ़ने वाले आश्रितों के लिए स्वास्थ्य कवरेज जारी रख सकते हैं (साल्वे एट अल., 2024)। कॉरपोरेट्स ने ऑनसाइट डेकेयर और कैफेटेरिया बनाया है जो कार्य जीवन संतुलन और सामुदायिक भूमिकाओं को बढ़ावा देने के लिए बहु-पीढ़ीगत है (हेल्पएज इंडिया, 2025)।

दवा और सामाजिक जुड़ाव के लिए मोबाइल एप्लिकेशन

मोबाइल ऐप बूढ़े लोगों को उनकी दवाओं को याद रखने, कसरत करने और उनके स्वास्थ्य को ट्रैक करने में मदद कर सकते हैं (साल्वे एट अल., 2024)। सामाजिक जुड़ाव साइटें पुरानी पीढ़ी को सहकर्मी सहायता समूहों के साथ लाती हैं, अकेलेपन को कम करती हैं और उन्हें आभासी कार्यक्रमों का आयोजन करके समुदाय में शामिल होने की अनुमति देती हैं (हेल्पएज इंडिया, 2025)।

स्मार्ट एल्डरकेयर प्लेटफॉर्म और एकीकृत सेवाएं

नए बुद्धिमान प्लेटफॉर्म विभिन्न अनुप्रयोगों के साथ एकीकृत हैं : स्वास्थ्य निगरानी, देखभाल करने वाले का शेड्यूलिंग और अच्छी तरह से एकीकृत इंटरफेस में आपातकालीन प्रतिक्रिया और पारिवारिक संचार (भाटी, 2025)।

इन संयुक्त समाधानों में देखभाल करने वाले के बोझ को कम करने और देखभाल की पारदर्शिता में सुधार करने की क्षमता है, लेकिन टिकाऊ होने के लिए जनता और सरकार के बीच मजबूत नियामक ढांचे और सहयोग की उम्मीद है (साल्वे एट अल., 2024)।

सीमाएँ और चुनौतियाँ

वादे के बावजूद, संस्थागत और तकनीकी प्रगति में बाधाएं हैं :

अभिगम्यता और इक्विटी : उच्च लागत का अर्थ है पेशेवर देखभाल और उच्च तकनीक वाले उपकरणों तक पहुंच की कमी, और अधिक कम आय वाले बुजुर्गों का प्रतिनिधित्व अधिक है (भारत का आर्थिक सर्वेक्षण, 2024)।

सांस्कृतिक बाधाएं : संस्थागत देखभाल के उपयोग और प्रौद्योगिकी के डर के खिलाफ कलंक संसाधन उपयोग को कमजोर कर सकता है (कुमार और शर्मा, 2023)।

मौजूदा नीतिगत ढांचे

1. माता-पिता और वरिष्ठ नागरिकों का भरण-पोषण और कल्याण अधिनियम, 2007
2. वरिष्ठ नागरिकों के लिए एकीकृत कार्यक्रम (आईपीएससी)
3. पेंशन योजनाएं और वित्तीय सहायता
4. सकारात्मक विकास और नवाचार

नीति परिदृश्य में कमियां और चुनौतियाँ

प्रगति के बावजूद, प्रणालीगत चुनौतियाँ वर्तमान ढांचे की

प्रभावकारिता को कमजोर करती हैं।

सीमित कवरेज और बुनियादी ढांचा

भारत में 65 प्रतिशत से अधिक बुजुर्गों की आबादी वाली ग्रामीण आबादी के पास पहुंच की अत्याधिक कमी है। औपचारिक देखभाल करने वाले संस्थान दुर्लभ हैं, आयु-अनुकूल सार्वजनिक बुनियादी ढांचा अपर्याप्त है, और घर-आधारित देखभाल कार्यक्रम दुर्लभ है, जो असमानताओं को बढ़ाता है (आर्थिक सर्वेक्षण, 2024)।

जागरूकता और सामाजिक कलंक

संस्थागत बुजुर्गों की देखभाल, विशेष रूप से वृद्धाश्रमों और नर्सिंग होम के प्रति सांस्कृतिक कलंक की उपस्थिति, मदद मांगने में बाधा से संबंधित है (भाटी, 2025)। इस तरह की सेवाएं कई परिवारों के लिए चिंता का विषय हैं क्योंकि उन्हें परित्याग का कार्य माना जाता है और इसलिए वे सरकार द्वारा समर्थित कार्यक्रमों का उपयोग करने के लिए तैयार नहीं हैं (हेल्पएज इंडिया, 2025)।

वित्तीय बाधाएं

भारतीय बुजुर्गों के बीच स्वास्थ्य खर्च जेब से बाहर है और पुरानी और दीर्घकालिक देखभाल (डब्ल्यूएचओ, 2022) में बीमा न्यूनतम है। वर्तमान सामाजिक कार्यक्रम पुनर्वास, उपशामक देखभाल और मानसिक सेवाओं का भुगतान करने के लिए पर्याप्त नहीं हैं। इस प्रकार अधिकांश वृद्ध वयस्क मनोवैज्ञानिक और भौतिक रूप से परिवार पर निर्भर होते हैं, जो अत्यधिक देखभाल करने वाले बनाता है (साल्वे एट अल., 2024)।

देखभालकर्ता सहायता घाटे

बर्नआउट, तनाव और मानसिक स्वास्थ्य के मुद्दे अधिक हो गए हैं क्योंकि देखभाल करने वालों के पास राहत देखभाल सेवाओं और मनोवैज्ञानिक परामर्श सेवाओं तक पहुंच नहीं है (भाटी, 2025)। कार्यस्थल देखभाल करने वाले की छुट्टी और लचीली श्रमिक नीतियां दायरे और निष्पादन में संकीर्ण हैं (कुमार और शर्मा, 2023)।

अंतराल को पाटने के लिए नीतिगत सिफारिशें

भारत को अपने नीतिगत ढांचे को बढ़ाने और सुव्यवस्थित करने की आवश्यकता है : जनसांख्यिकीय ज्वार के जवाब में।

सार्वभौमिक पेंशन की स्थापना करके, पुरानी देखभाल वाले बीमा ढांचे को बढ़ाकर और देखभाल करने वाली सेवाओं को सब्सिडी देकर बुजुर्गों की वित्तीय सुरक्षा को बढ़ाना (आर्थिक सर्वेक्षण, 2024)।

देखभाल करने वाले सहायता पहलों को प्रोत्साहित करें जिसमें कौशल प्रशिक्षण, प्रमाणन, राहत देखभाल और मनोसामाजिक परामर्श शामिल हैं (भाटी, 2025)।

सार्वजनिक-निजी सहयोग और गैर सरकारी संगठनों के माध्यम से सांस्कृतिक रूप से संवेदनशील बुजुर्गों की देखभाल के समुदाय-आधारित और संस्थागत मॉडल को बढ़ाना (हेल्पएज इंडिया, 2025)।

आवास और शहरी नियोजन नीतियों को एकीकृत करें जो बुजुर्गों की जरूरतों के संबंध में उम्र के अनुकूल हों (साल्वे एट अल., 2024)।

2047 के लिए विजन : विकसित भारत में परिवार केंद्रित बुजुर्गों की देखभाल

भारत 2047 तक एक विकसित देश बनने की राह पर आगे बढ़ रहा है, बुजुर्गों की देखभाल का एक समग्र, सम्मानजनक और टिकाऊ मॉडल विकसित करने की आवश्यकता सामाजिक नीति और विकास की नींव के रूप में सामने आ रही है।

सशक्त स्थानीय और पारिवारिक सामुदायिक प्रणालियाँ

ऐसे संस्थागत नवाचारों में से एक यह है कि एल्डरकेयर हब को ग्राम पंचायत पर स्थापित किया गया है, और वे भारत में मौजूदा विशाल ग्रामीण शासन प्रणाली का लाभ उठा रहे हैं। ये केंद्र संयुक्त सेवाओं के केंद्र के रूप में कार्य करेंगे - जिसमें अलगाव को कम करने और परिवार की देखभाल करने वालों को छुट्टी देने के लिए डे-केयर, चिकित्सा नियुक्तियां, फिजियोथेरेपी, परामर्श और समाजीकरण शामिल हैं (हेल्पएज इंडिया, 2025)।

परिवार के सहयोगी के रूप में तकनीकी एकीकरण

प्रौद्योगिकी को देखभाल, दक्षता और पहुंच की गुणवत्ता में सुधार के लिए एक रणनीतिक सुविधा के रूप में रखा गया है। विजन एक राष्ट्रीय स्मार्ट एल्डरकेयर प्लेटफॉर्म की सिफारिश करता है जिसमें दवा प्रबंधन, टेलीकंसल्टेंशन, आपातकालीन अलर्ट और देखभाल करने वाले शेड्यूलिंग सहित आवश्यक कार्यात्मकताएं शामिल होंगी, जिन्हें उपयोगकर्ता के अनुकूल मोबाइल एप्लिकेशन (साल्वे एट अल., 2024) के माध्यम से एक्सेस किया जा सकता है।

यह कल्पना की गई है कि कमजोर आबादी को सब्सिडी

पर प्रदान किए जाने वाले पहनने योग्य और इन-होम सेंसर सहित किफायती रिमोट मॉनिटरिंग डिवाइस, कमजोर बुजुर्गों की महत्वपूर्ण, गिरने और जियो-फेंसिंग की ट्रैकिंग करके सुरक्षा को बढ़ाएंगे (आर्थिक सर्वेक्षण, 2024)।

परिवार की देखभाल करने वालों का सशक्तिकरण और समर्थन

देखभाल करने वालों का सशक्तिकरण और प्रोत्साहन, जो ज्यादातर समय शारीरिक, भावनात्मक और आर्थिक रूप से तनावग्रस्त होते हैं, परिवार-केंद्रित मॉडल के लिए महत्वपूर्ण है। औपचारिक प्रशिक्षण और प्रमाणन पाठ्यक्रम, जो बुजुर्गों के स्वास्थ्य देखभाल के लिए राष्ट्रीय कार्यक्रम (एनपीएचसीई) और संबंधित गैर सरकारी संगठनों द्वारा ऑनलाइन और ऑफलाइन पाठ्यक्रमों में प्रदान किए जाते हैं, का उद्देश्य परिवार के सदस्यों को व्यावहारिक देखभाल दक्षताएं प्रदान करना है, जैसे कि मनोभ्रंश-अनुकूल संचार और बुनियादी प्राथमिक चिकित्सा (कुमार और शर्मा, 2023)।

वित्तीय और सामाजिक सुरक्षा जाल को सशक्त बनाना

बुजुर्गों के स्वास्थ्य के लिए आर्थिक स्थिरता अभी भी महत्वपूर्ण है। इस दृष्टिकोण में, वृद्धावस्था पेंशन को सार्वभौमिक और बेहतर बनाया जाना चाहिए ताकि यह कम आय वाले लोगों को बुनियादी स्वास्थ्य और आजीविका आवश्यकताओं को पूरा करने के लिए पर्याप्त हो (आर्थिक सर्वेक्षण, 2024)।

डेटा गवर्नेंस और संस्थागत सरेखण

बुजुर्गों के प्रदाताओं के बीच मान्यता प्रणालियों का मानकीकरण एक ऐसी रणनीति है जो गुणवत्ता और नैतिक सुरक्षा की गारंटी देती है और लोगों को समुदाय में संस्थानों और वाणिज्यिक देखभाल में विश्वास भी देती है (भाटी, 2025)।

सांस्कृतिक परिवर्तन और सामुदायिक आउटरीच

स्कूलों और समुदायों के भीतर अंतर-पीढ़ीगत कार्यक्रम जैसे एडॉप्ट-ए-ग्रैंडपेरेंट सहानुभूति की भावना को प्रोत्साहित करते हैं, बड़ों के अलगाव को कम करने और पीढ़ियों के बीच सीखने को बढ़ाने में मदद करते हैं। कहानी कहने की गतिविधियों, पारंपरिक शिल्प और स्वयंसेवी कार्यक्रमों के आयोजन के माध्यम से उम्र बढ़ने के प्रति सामाजिक सामंजस्य और सम्मान बढ़ाया जाता है (कुमार और शर्मा, 2023)।

निष्कर्ष

जनसंख्या की तेजी से बढ़ती उम्र के साथ भारत में परिवार की देखभाल की बदलती प्रकृति के लिए देखभाल मॉडल के आमूल-चूल पुनर्गठन की आवश्यकता है जो राष्ट्र के सांस्कृतिक रूप से स्थापित सांस्कृतिक मूल्यों का सम्मान करते हैं और गरिमापूर्ण, समावेशी और टिकाऊ बुजुर्गों की देखभाल की गारंटी के लिए, लक्षित समर्थन, समुदाय-एकीकृत देखभाल केंद्रों को बढ़ाने, और प्रौद्योगिकी-संचालित स्वास्थ्य हस्तक्षेपों को शामिल करने की मदद से परिवार देखभाल पारिस्थितिकी तंत्र को बढ़ाने का प्रस्ताव है (हेल्पएज इंडिया, 2025)।

शहरी और ग्रामीण आबादी के बीच समानता पर ध्यान केंद्रित करके और बहु-क्षेत्रीय समन्वय (भारत का आर्थिक सर्वेक्षण, 2024) को प्रोत्साहित करके कवरेज, वित्तपोषण, देखभाल करने वाले प्रशिक्षण और बुनियादी ढांचे में मौजूदा अंतराल को सील करने के लिए नीतिगत ढांचे में बदलाव होना चाहिए। परिवार की देखभाल करने वालों के प्रशिक्षण, राहत और कार्यस्थल पर आवास, संस्थागत सेवाओं और सामाजिक सुरक्षा जाल के उन्नयन से न केवल देखभाल करने वालों पर बोझ कम होगा बल्कि बुजुर्ग भी स्वस्थ होंगे (कुमार और शर्मा, 2023)।

जागरूकता कार्यान्वयन, अंतर-पीढ़ीगत कार्यक्रमों और सामाजिक स्वीकृति के परिणामस्वरूप सांस्कृतिक परिवर्तन भी होगा जो बड़ों के सम्मान और सामाजिक स्थिति को बहाल करेगा और साथ ही औपचारिक देखभाल से जुड़े कलंक को कम करेगा (भाटी, 2025)।

***एसोसिएट प्रोफेसर (हिंदी विभाग)**
लक्ष्मीबाई कॉलेज
दिल्ली विश्वविद्यालय

****असिस्टेंट प्रोफेसर (गृह विज्ञान विभाग)**
लक्ष्मीबाई कॉलेज
दिल्ली विश्वविद्यालय

सन्दर्भ सूची

1. भाटी, टी. (2025)। बुजुर्गों की देखभाल में परिवार की भूमिका। सोशल साइंस जर्नल ऑफ इंडिया, 11(2), 75-89।

हेल्पएज इंडिया। (2025). विकसित भारत : सभी उम्र के लिए समाज? https://www.helpageindia.org/viksit-bharat-society-for-all-ages

2. कुमार, एस., और शर्मा, आर. (2023)। भारत में कार्यस्थल नीतियां और देखभाल करना। जर्नल ऑफ सोशल पॉलिसी, 51(2), 287–305।
3. कुमारी, एस., और पल्लवी, पी. (2024)। भारत में बुजुर्गों की देखभाल और शहरी प्रवास : पारिवारिक प्रभावों का एक अध्ययन। इंडियन जर्नल ऑफ सोशल स्टडीज, 43 (1), 55–70।
4. साल्वे, एस., पाटिल, आर., और राउत, वाई. (2021)। भारत में बुजुर्गों की देखभाल के लिए डिजिटल स्वास्थ्य हस्तक्षेप। स्वास्थ्य देखभाल सूचना प्रौद्योगिकी, 17(4), 112–130।
5. साल्वे, एस., पाटिल, आर., और राउत, वाई. (2024)। बुजुर्गों की देखभाल के रुझानों में प्रौद्योगिकी। स्वास्थ्य सूचना विज्ञान जर्नल, 30(2), 101–115।
6. सिंह, पी. (2022)। शहरीकरण और भारत में बुजुर्गों की देखभाल पर इसका सामाजिक प्रभाव। जर्नल ऑफ अर्बन सोशियोलॉजी, 28(3), 240–259।
7. संयुक्त राष्ट्र जनसंख्या कोष (यूएनएफपीए)। (2023). भारत में 2050 तक बुजुर्गों की आबादी 20% होगी। https://india.unfpa.org/en/news/india-ageing-elderly-make-20-population-2050-unfpa-report.

Research Paper

Dr. Ashish Kumar Jha

Religious Processions, Sound, and Space : How Revivalist Practices Triggered Communal Riots in Bihar (c. 1880-1947)

Abstract

Communal riots in colonial Bihar were rarely spontaneous outbursts of religious animosity. Rather, they were deeply embedded in conflicts over public space, religious visibility, and sensory practices—especially religious processions and the use of sound. This article examines how Hindu revivalist movements, particularly the Arya Samaj, cow protection Sabha's, and later the Hindu Mahasabha, transformed religious rituals into politicized performances enacted in shared urban and rural spaces. It argues that religious processions became crucial sites where revivalist ideology, colonial governance, and everyday inter-communal relations intersected, frequently resulting in communal violence. By foregrounding sound, movement, and spatial occupation, this study contributes to a growing historiography that understands communalism as a product of colonial modernity and organized cultural politics rather than primordial religious hostility.

Introduction

The historiography of communal riots in colonial India has long oscillated between two dominant explanatory frameworks. On the one hand are interpretations that emphasize deep-seated religious antagonism and cultural incompatibility between religious communities. On the other are explanations that focus on administrative failures, colonial misgovernance, and the inability of the colonial state to manage religious diversity. Early colonial accounts, including police and district reports, frequently portrayed communal violence as sudden eruptions of irrational religious passion, often invoking ideas of "fanaticism" and "native excitability." Nationalist narratives, while rejecting colonial racism, often echoed similar assumptions by treating riots as unfortunate but marginal deviations from an otherwise harmonious social order.

From the late twentieth century onwards, historians began to challenge these frameworks by emphasizing the political, social, and cultural production of communalism. Scholars demonstrated that communal identities were not timeless but historically constructed through colonial policies, electoral politics, and changing social relations. More recent scholarship has further refined this understanding by focusing on everyday practices–rituals, festivals, neighbourhood interactions, and conflicts over public space–that structured communal relations long before violence erupted.

Within this evolving historiographical landscape, Bihar remains a relatively underexplored region. Compared to the extensive scholarship on communalism in the United Provinces or Bengal, Bihar has often been treated as peripheral. Yet between the late nineteenth century and Independence, Bihar experienced recurrent communal disturbances in towns such as Patna and Gaya, as well as in districts like Shahabad, Saran, Muzaffarpur, and Darbhanga. Archival records reveal that many of these riots followed strikingly similar patterns. They were frequently preceded by disputes over religious processions, the playing of music near mosques, and disagreements about rights to streets and

neighbourhoods.

This article argues that communal riots in Bihar between c. 1880 and 1947 must be understood not as spontaneous breakdowns of order but as structured outcomes of sustained conflicts over space, sound, and religious visibility. Hindu revivalist movements played a crucial role in reshaping religious rituals into public performances of power. Processions became political acts, sound became a medium of domination, and public space became a contested terrain. These developments interacted with colonial governance, which sought to regulate religious practices through law and administration but in doing so intensified competition and undermined earlier modes of negotiated coexistence.

Processions as Political Performance

Religious processions were among the most visible and contentious forms of public religious expression in colonial India. As Sandria Freitag has argued, processions functioned as collective performances through which communities asserted identity, hierarchy, and claims over public space. Streets were not merely physical pathways but symbolic arenas where power was enacted and contested.

In Bihar, Hindu revivalist organizations deliberately expanded the scale, frequency, and visibility of religious processions from the late nineteenth century onwards. This expansion took several forms. Participation increased as students, akhara members, volunteers, and revivalist activists were mobilized. Visual symbolism became more elaborate, with religious icons accompanied by flags, weapons, and banners carrying slogans. Most importantly, procession routes increasingly passed through Muslim-majority neighbourhoods.

These routes were rarely accidental. Colonial records show repeated disputes over what constituted a "customary" route. Claims of tradition often masked recent innovations designed to assert Hindu presence in contested spaces. By repeatedly traversing specific streets, processions worked to normalize Hindu claims over urban space and to redefine neighbourhood boundaries. Thus, processions were not passive reflections of religious sentiment but active political performances that sought to reshape the spatial order of towns and cities.

Sound as Assertion of Authority

Sound was central to the politics of religious processions. Drums, cymbals, conch shells, bells, and shouted slogans such as "Har Har Mahadev" were not incidental embellishments but deliberate instruments of spatial domination. Sound announced presence, demanded attention, and created temporary hierarchies of audibility and silence.

In colonial Bihar, one of the most persistent flashpoints was the playing of music in front of mosques during prayer times. Hindu revivalist groups framed music as an integral component of religious celebration and claimed that it represented a customary right. Any attempt to restrict music, especially near mosques, was portrayed as an infringement of religious freedom and an insult to Hinduism.

For Muslims, however, the playing of loud music during prayer times was experienced as a deliberate provocation. It disrupted sacred time and challenged religious dignity. The conflict was not simply about noise but about authority: who had the right to define acceptable behaviour in shared public spaces. Competing soundscapes–music versus azan–thus expressed competing claims to power and legitimacy.

Public Space under Colonial Rule

Colonial governance profoundly shaped these conflicts. The colonial state claimed neutrality and sought to regulate public space through permits, policing, and legal adjudication. Religious processions required official permission; routes and timings were scrutinized; the use of music near mosques was sometimes restricted.

However, these interventions often intensified conflict rather than resolving it. By formalizing religious practices into legally recognized rights, the colonial state transformed flexible, negotiated customs into rigid and competing claims. Communities increasingly appealed to colonial authorities to legitimize their control over streets and sound. Public space became a legal battleground, with each community seeking official recognition of its claims.

Hindu Revivalist Movements in Bihar: Arya Samaj

The Arya Samaj emerged as a significant force in Bihar from the late nineteenth century, particularly in

urban centres such as Patna, Gaya, and Muzaffarpur. Emphasizing Vedic purity, reform, and a return to an imagined ancient Hindu past, it sought to consolidate Hindu identity in response to Islam, Christianity, and colonial modernity.

Shuddhi (reconversion) campaigns formed a central component of Arya Samaj activity. These ceremonies were often accompanied by public processions that made reformist practices highly visible and contentious. By foregrounding purification and reconversion in public space, the Arya Samaj blurred the boundary between religious reform and political mobilization. Its emphasis on public display and assertive identity formation contributed significantly to the communalization of everyday religious life.

Cow Protection Sabha's

Cow protection movements found fertile ground in Bihar's agrarian economy, where cattle held economic, religious, and symbolic significance. Cow protection Sabha's mobilized religious sentiment around the figure of Gau Mata, organizing meetings, pamphlet campaigns, and processions.

These processions frequently passed through mixed or Muslim-majority localities and often coincided with rumours of cow slaughter. Whether true or fabricated, such rumours served as powerful catalysts for violence. Cow protection politics linked religious devotion with economic anxieties and communal fear, intensifying polarization and legitimizing aggressive action in the name of religious defence.

Hindu Mahasabha (1930s–1940s)

By the 1930s and 1940s, the Hindu Mahasabha introduced a more overtly political and militarized form of Hindu revivalism in Bihar. It promoted uniform rituals, standardized symbols, flags, and slogans, and encouraged disciplined participation in religious festivals. Festivals such as Ram Navami became increasingly politicized, functioning as occasions for mass mobilization and public assertion.

The Mahasabha's activities marked a decisive shift from reformist revivalism to explicitly political Hindu nationalism. This shift further eroded the space for negotiated coexistence and intensified communal polarization.

Processions in Colonial Bihar:

Hindu revivalist processions in Bihar shared several common features. They were frequently organized during major festivals such as Ram Navami, Durga Puja, and Shivratri–occasions that already carried significant religious and emotional weight. Participants carried religious icons alongside swords, tridents, and flags, combining devotional symbolism with martial imagery. Loud music with martial overtones reinforced the assertive and confrontational character of these events.

A defining feature of these processions was the insistence on routes through Muslim neighbourhoods. Over time, the repeated use of these routes transformed religious rituals into acts of territorial assertion. Participation in processions became a marker of communal loyalty, while absence suggested vulnerability or dissent.

Sound, Prayer, and Provocation

One of the most persistent sources of communal tension in Bihar was the conflict between procession music and the azan. Hindu revivalist groups argued that music was an integral and customary component of religious festivals. Any attempt to restrict it—particularly near mosques—was framed as an attack on religious freedom.

Muslims, however, viewed such practices as deliberate violations of sacred norms. The conflict was not merely about sound but about authority over shared space and time. These disputes frequently escalated into violence, revealing the fragility of colonial arrangements for managing religious diversity. Sound functioned as a marker of hierarchy and power. Loudness signified dominance, while enforced silence implied subordination. Competing soundscapes transformed abstract ideological differences into tangible, emotionally charged encounters that often culminated in physical violence.

Case Studies of Communal Riots in Bihar

A close examination of communal riots in Bihar reveals that violence was rarely sudden or accidental. Instead, riots followed recognizable patterns shaped by revivalist mobilization, spatial contestation, and colonial administrative practices. This section examines three key sites–Patna, Gaya, and the districts of Shahabad and Saran–to demonstrate how religious

processions, sound, and control over public space repeatedly triggered communal conflict.

Patna: Ram Navami, Urban Space, and the Politics of Route

Patna, the administrative and commercial centre of Bihar, witnessed some of the most frequent and intense communal disturbances in the province during the late nineteenth and early twentieth centuries. The city's mixed population, dense neighbourhoods, and symbolic importance as a colonial capital made it particularly susceptible to conflicts over religious visibility and public space.

Ram Navami processions emerged as a recurring flashpoint in Patna. From the early twentieth century onward, Hindu revivalist organizations–often linked to the Arya Samaj and later to Hindu Mahasabha networks–systematically expanded the scale of Ram Navami celebrations. Processions grew larger, more organized, and more assertive, featuring akhara contingents, martial music, religious slogans, and symbolic weaponry such as swords and tridents.

A central source of conflict lay in disputes over procession routes. Revivalist organizers increasingly insisted that Ram Navami processions pass through Muslim-majority mohallas such as those around Patna City and the old riverine quarters. These demands were justified through claims of "traditional routes," even when archival records suggest that such routes had either been abandoned earlier or had only recently been introduced. The insistence on these routes transformed routine religious celebrations into deliberate acts of spatial assertion.

Sound played a decisive role in escalating tensions. Loud music, chanting, and drumming were deliberately performed near mosques, often coinciding with prayer times. Colonial police report repeatedly noted Muslim objections to music during azan or namaz, as well as Hindu claims that any restriction constituted an infringement of religious rights. These conflicts over sound were rarely resolved through negotiation; instead, they hardened into competing legal claims brought before colonial authorities.

Significantly, colonial records reveal that violence in Patna was frequently anticipated. District magistrates and police officials often received intelligence reports warning of possible trouble days or even weeks in advance of major festivals. Despite this foreknowledge, preventive measures were either inadequate or inconsistently enforced. When riots broke out, colonial inquiries typically focused on identifying the immediate spark–such as stone-throwing or a physical altercation–while ignoring the broader pattern of organized provocation through processions.

Patna's riots thus illustrate how communal violence functioned as a predictable outcome of repeated revivalist strategies rather than as a spontaneous breakdown of order. The street became a contested political arena, where sound, movement, and visibility were deployed to assert dominance and provoke confrontation.

Gaya: Pilgrimage, Shuddhi, and the Intensification of Symbolic Conflict

Gaya presents a distinct but equally revealing case. As one of Hinduism's most important pilgrimage centres, Gaya held immense religious significance. This symbolic importance amplified the stakes of communal conflict, as control over space and ritual practice in Gaya carried meanings that extended far beyond the town itself.

From the late nineteenth century, Gaya became a stronghold of Arya Samaj activity. The organization's emphasis on religious reform, Vedic purity, and Shuddhi campaigns found fertile ground in a town already saturated with ritual activity. Shuddhi ceremonies in Gaya were often accompanied by public processions, transforming what might otherwise have been relatively contained religious events into highly visible public spectacles.

These processions frequently passed through mixed or Muslim-majority neighbourhoods, bringing reformist Hindu assertions into direct confrontation with Muslim residents. The presence of pilgrims from outside the town further intensified these tensions. Pilgrims were often unfamiliar with local arrangements of coexistence and were more receptive to revivalist rhetoric that framed Muslims as obstacles to Hindu resurgence.

Religious fairs and pilgrimage seasons added another layer of complexity. During peak periods, the town's population swelled dramatically, placing

pressure on infrastructure, markets, and policing. Revivalist groups exploited these moments to stage large processions, increasing both their numerical strength and their symbolic impact. Loud music, slogans, and ritual displays during these events heightened the sense of confrontation.

Colonial records from Gaya indicate that communal violence often erupted during such periods of heightened religious activity. Conflicts over sound–particularly music near mosques during prayer times–were a recurring theme. As in Patna, colonial authorities attempted to regulate these practices through permits and restrictions, but such interventions often appeared arbitrary or biased, further inflaming tensions.

Gaya's riots underscore how pilgrimage centres could become particularly volatile sites of communal conflict. The convergence of revivalist ideology, mass religious mobility, and colonial governance transformed sacred space into a battleground of competing communal claims.

Shahabad and Saran: Cow Protection, Rural Power, and Elite Patronage

While urban centres like Patna and Gaya provide important insights into communal conflict, rural and semi-rural districts such as Shahabad and Saran reveal how revivalist mobilization operated beyond cities. In these districts, cow protection movements played a central role in triggering communal violence.

Bihar's agrarian economy gave cow protection politics particular resonance. Cattle were not only religious symbols but also vital economic assets. Cow protection Sabha's mobilized these sentiments through meetings, pamphlets, and–crucially–processions celebrating Gau Mata. These processions frequently passed through mixed villages or market towns, asserting Hindu claims over shared rural spaces.

Rumours of cow slaughter were a common trigger for violence. Colonial records repeatedly note that such rumours spread rapidly, often during festivals or market days, mobilizing large crowds within hours. Whether these rumours were true was often irrelevant; their power lay in their ability to activate pre-existing communal anxieties and revivalist narratives.

Local elites played a crucial role in these mobilizations. Zamindars and influential landholders often provided financial support, protection, or moral endorsement to cow protection movements. In some cases, they actively participated in organizing processions or shielding activists from legal consequences. This patronage linked revivalist mobilization to existing structures of rural power, reinforcing communal divisions and making violence more sustainable.

In Shahabad and Saran, communal riots often followed a familiar pattern: a cow protection procession, a rumour of slaughter, an attempt to assert dominance over a market or village street, followed by clashes that escalated into arson, looting, and physical violence. Colonial policing in these districts was often limited, slow, or complicit, allowing conflicts to spread before being contained.

These cases highlight how communalism in Bihar was not confined to urban politics but was deeply embedded in rural social relations, economic anxieties, and elite power structures. These case studies demonstrate that communal riots in Bihar were not peripheral or exceptional phenomena. They reveal a consistent pattern in which revivalist practices, sensory politics, and colonial governance interacted to produce violence. By examining Bihar at the micro-level, we gain a clearer understanding of how communalism functioned as an everyday, organized, and spatially embedded process in late colonial India.

Colonial State and Riot Regulation

The colonial administration attempted to regulate communal tensions through permits, route restrictions, and policing. In practice, these measures often appeared biased or inconsistent. Policing practices reinforced communal identities and treated violence as a law-and-order issue rather than a political phenomenon. Police and district report framed riots as expressions of religious fanaticism or failures of native self-control. Such narratives depoliticized revivalist strategies and obscured the role of colonial governance in structuring communal competition.

Before intensified revivalist mobilization, many towns in Bihar exhibited shared festivals, negotiated coexistence, and informal compromises over sound and space. Revivalist movements replaced these practices with a rigid discourse of rights, encouraging confrontation over accommodation. Communal riots

thus represented the collapse of everyday coexistence under the pressure of politicized religion.

Historiographical Contribution

This study contributes to debates on communalism as a product of colonial modernity, the politics of sensory practices, and the importance of regional histories beyond dominant narratives centred on the United Provinces and Bengal. By foregrounding sound, movement, and spatial occupation, it challenges explanations that view communal riots as inevitable expressions of religious hostility.

Conclusion

Religious processions in colonial Bihar were not neutral cultural practices. Through sound, movement, and spatial occupation, Hindu revivalist organizations transformed everyday religious expression into political demonstrations of power. Communal riots were not accidental eruptions but structurally embedded outcomes of revivalist strategies interacting with colonial governance and local social tensions. Understanding these dynamics is essential for a nuanced history of communalism in late colonial India.

Assistant Professor
Ambedkar University, Delhi
Email- Ashishjmi2016@gmail.com

Reading list

1. Activities of Arya Samaj in Gaya District," Intelligence Note, 1910, Home (Political) Department, NAI, File No. 41/1910.
2. Kenneth W. Jones, *Arya Dharm: Hindu Consciousness in Nineteenth-Century Punjab* (Delhi: Manohar, 1976), pp. 312–318.
3. Shuddhi Procession and Hindu–Muhammadan Tension in Gaya," District Magistrate's Letter to Chief Secretary, Bihar, 1915, BSA, Home Department, File No. 58/1915.
4. District Magistrate, Patna, "Report on Communal Disturbances during Ram Navami Processions," April 1917, Police Department Proceedings, Government of Bihar, National Archives of India (hereafter NAI), File No. 23/17.
5. Dispute regarding playing of music before mosques," Confidential Police Report, Patna Division, 1923, Home (Political) Department, Bihar State Archives, Patna (hereafter BSA), File No. 112/1923.
6. Gyanendra Pandey, *The Construction of Communalism in Colonial North India* (Delhi: Oxford University Press, 1990), pp. 6–12.
7. Sandria B. Freitag, *Collective Action and Community: Public Arenas and the Emergence of Communalism in North India* (Berkeley: University of California Press, 1989), pp. 13–45.
8. Sumit Sarkar, "The Conditions and Nature of Subaltern Militancy: Bengal from Swadeshi to Non-Cooperation," *Subaltern Studies*, Vol. III (Delhi: Oxford University Press, 1984), pp. 270–280.
9. Cow Slaughter Rumours and Resulting Disturbances in Shahabad," Police Abstract of Intelligence, 1894, NAI, Home (Judicial) Department, File No. 9/1894.
10. Christophe Jaffrelot, *The Hindu Nationalist Movement in India* (New York: Columbia University Press, 1996), pp. 35–40.
11. Shahabad District Gazetteer (Patna: Government of Bihar, 1906), pp. 221–224.

हिंदी उपन्यासों में आदिवासी अस्मिता के प्रश्न

डॉ. विदित अहलावत

आदिवासी धरती के मूल निवासी कहे जाते हैं किंतु ये मूल निवासी आरंभ से ही पहचान के संकट से जूझते रहे हैं। ''जिसे हम पांच हजार साल पुरानी सभ्यता कहते हैं, वह मूल रूप से हमारी आदिवासी सभ्यता ही है। वह सभ्यता जो भारत के भूखंड के हमारे मूल निवासी पूर्वजों ने विकसित की है। मनुष्य की प्रकृति की सहभागिता, सहयोग और सह अस्तित्व का जीवन-दर्शन हमारे इन्हीं आदिवासी पूर्वजों की देन है।''[1]

वस्तुतः जनजातियां हमारे तथाकथित सभ्य समाज की समस्त कला सृष्टि का सुदृढ़ आधार हैं। जल, जंगल और जमीन से जुड़ी इन आदिवासी अस्मिताओं को मुख्यधारा की संरचना से ही बाहर कर दिया गया। यही कारण है कि आदिवासी अस्मिताएं मुख्यधारा की शहरी, मैदानी अस्मिताओं से बिल्कुल कटी हुई हैं। अनेक विद्वानों का मानना है कि ''आदिम निवासियों को, जो मूल क्षेत्राधिपति थे आर्यजातियों ने जंगलों की ओर खदेड़ दिया और नकारात्मक मूल्यों को उनके साथ जोड़कर एक ऐसी छवि बनाई जिसमें आदिवासियों को असभ्य, जंगली, प्राणियों के रूप में सदैव अनदेखा किया जाता रहा।''[2] भारत के इस अनदेखे अज्ञात हिस्से से मुख्यधारा के समाज का जब-जब संघर्ष हुआ तब-तब आदिवासियों के अस्तित्व पर प्रश्नचिन्ह लगा है। मुख्यधारा के जीवन से कटा हुआ होना और संवादहीनता होना इस जनजाति की उपेक्षा, पिछड़ेपन और तिरस्कार का एक बड़ा कारण रहा है।

''दलितों और आदिवासियों की स्थिति और अस्मिता में एक बड़ा अंतर भी यही है कि जाति-व्यवस्था के जिस ढांचे में रहकर दलित सीमांत पर हैं, उसी जाति व्यवस्था से आदिवासी बिल्कुल बाहर की दिए गए।''[3] वे अपनी ही धरती से खदेड़े गए और तेजी से अपनी कृषि, भूमि और जल स्रोतों को खोकर शोषण का शिकार हुए। वर्ण व्यवस्था से बाहर रही ये आदिम जातियां हजारों वर्षों से हिन्दुओं के साथ रहती आई हैं लेकिन हिन्दू धर्म व्यवस्था ने इन जातियों को जाति व्यवस्था में कभी शामिल नहीं किया, वरन प्रत्यक्ष या परोक्ष रूप से इन्हें दास ही बनाया है। इतना ही नहीं स्वतंत्रता के पश्चात विकास के नाम पर जितना छल इन आदिम जातियों के साथ किया गया उतना किसी अन्य समुदाय के साथ नहीं किया गया। समाज की मुख्यधारा ने इन आदिम समुदायों के क्षेत्रों में वन्य संसाधनों को प्राप्त करने के लिए घुसपैठ की जिसके कारण विस्थापित हुए आदिवासी समाज की अस्मिता और अस्तित्व पर प्रश्नचिह्न लगते गए। कोयला कंपनियों के जमीन पर कब्जा करने और खनन कार्य शुरू करने से ये आदिवासी अपनी ही जमीन, अपने ही घर में पराए हो गए।

मुख्यधारा संस्कृति की लगातार घुसपैठ का भी आदिवासी अस्मिता पर घातक प्रभाव हुआ। मुख्यधारा के बहुसंख्यक हिंदुओं के समीप्य में उनके रहन-सहन और विवाह, दाह-संस्कार संबंधी रिवाजों का प्रभाव इन पर पड़ा। इतना ही नहीं ईसाई धर्म को भी कुछ आदिवासी जातियों ने अपनाया और अपनी मूल संस्कृति, भाषा और लोकगीत, नृत्य कलाओं की रक्षा उनके लिए मुश्किल हो गया।

''आदिवासियों की मूल समस्या विस्थापन है। 'सीमांत आदमी' पर छपे आरम्भिक लेखों में भी विस्थापन से उत्पन्न पहचान के संकट को सीमांतियता का प्रमुख कारण माना गया है। आदिम समुदायों के इस अस्मिता संकट से निपटने में

आधुनिक सभ्यता अक्षम रही है और औद्योगिकीकरण ने प्रकृति के भीतर घुसपैठ करके इसे लगभग नष्ट कर दिया है।''[4] जमीन हड़पना विभिन्न राज्यों के आदिवासियों के शोषण का एक मुख्य तरीका है। औद्योगिकरण और आधुनिकता ने इसमें दोहरी भूमिका निभाई है। औद्योगिकरण के चलते आदिवासी सर्वहारा हो गए तो आधुनिकता की सार्वभौमिकता की अवधारणा के चलते एक विभेद को सम्मान न मिला। गरीबी, बदहाली और व्यवस्था के चौतरफा शोषण से कहीं ये आदिवासी अस्मिताएं अपराध में प्रवृत्त हो जाती हैं तो कभी अपने पशुओं और यहां तक कि कुंवारी औरतों को भी बेचने पर विवश हो जाते हैं।[5]

हिंदी उपन्यास साहित्य में आदिवासी जीवन को देश की आजादी के बाद ही स्थान प्राप्त हो सका है। प्रेमचंद काल में उपन्यास साहित्य अपनी कलागत ऊंचाई को प्राप्त कर चुका था। प्रेमचन्दोत्तर उपन्यास आदर्श, यथार्थ और मनोजगत से गुजरता हुआ गतिविहीन व स्थिर होने लगा था।[6] फलत: जीवन के अछूते क्षेत्रों की तलाश की जाने लगी। इस संदर्भ में गांधी जी के द्वारा 'गांवों की ओर लौटो' का नारा, हिंदी जगत का 'जनपदीय आंदोलन' और बंगाल के कल्लोल जैसे आंदोलन जन जीवन, ग्राम समाज और अनेक जातियों की सांस्कृतिक पहचान तथा विलक्षणताओं को प्रकट तथा उजागर करने के लिए पृष्ठभूमि तैयार कर चुके थे।[7] फलत: हिंदी जगत में आंचलिक उपन्यास का आगमन हुआ और इसी प्रक्रिया में आदिवासी जीवन भी रचनाओं में स्थान पा चुका है।

यह विडंबना ही है कि जिस प्रकार आदिवासी राजनीतिक तथा सामाजिक क्षेत्र में उपेक्षित रहे हैं, उसी प्रकार साहित्यिक क्षेत्र में भी उन्हें उपेक्षा का शिकार होना पड़ा है। आदिवासी जीवन को आधार बनाकर लिखे गए सभी उपन्यासों का प्रकाशन काल आजादी के बाद का है, फिर भी अधिकांश उपन्यासों की विषय-वस्तु व उनकी समस्याएं आजादी पूर्व की रही हैं। प्रेमचंद व फणीश्वरनाथ रेणु के कथा-साहित्य में हमें कहीं-कहीं आदिवासी पात्र दिखाई जरूर दे जाते हैं किंतु कथानक के रूप में उनकी समस्याओं को उन्होंने आधार नहीं बनाया। बीसवीं सदी के आरम्भ में हुए भूमकाल विद्रोह पर आधारित 'जंगल के फूल' आजादी हेतु संघर्ष करते गांधी व गांधी की सहकारिता से परिचालित 'रथ के पहिए' जमींदारों के शोषण व आतंक से त्रस्त 'कब तक पुकारूँ' और आदिम जीवन का नगरीय जीवन से संक्रमण और मछुआरों की संस्कृति को परिलक्षित करता हुआ 'सागर, लहरें और मनुष्य' आदि उपन्यास आजादी से पहले की विषय वस्तु को आधार बनाकर लिखे गए हैं। शेष उपन्यास आजादी के बाद की विषय-वस्तु को लेकर लिखे गए हैं।

देवेंद्र सत्यार्थी कृत 'रथ के पहिए' हिंदी साहित्य का प्रथम उपन्यास है जो गोंड आदिवासी जीवन पर केंद्रित है। पूरे उपन्यास पर उनकी यायावरी एवं संस्मरण का असर, रचना की बनावट एवं शैली पर आसानी से देखा जा सकता है। सत्यार्थी जी मोहन जोदड़ो में दबी प्राचीन सभ्यता से गोंड संस्कृति को जोड़कर एक महत्वपूर्ण संदेश देते हैं कि अगर इनकी तरफ समुचित ध्यान नहीं दिया गया तो एक दिन मोहन जोदड़ो की तरह उनकी संस्कृति भी गहरे में दफन होकर रह जाएगी। उदय शंकर भट्ट का उपन्यास 'सागर, लहरें और मनुष्य' मैला आंचल की परंपरा में आने वाला दूसरा महत्वपूर्ण आंचलिक उपन्यास है। इस उपन्यास की कथावस्तु बंबई समुद्र तट के पूर्व-पश्चिम में बसे वर्सोवा गांव के मछुआरों की जिंदगी है, जिसमें मछुआरों की जिंदगी के अंतरंग चित्र एवं यथार्थपरक प्रसंगों की झांकी है तो दूसरी ओर नागार्जुन कृत 'वरुण के बेटे' की रचना का कथा-क्षेत्र बिहार का दरभंगा जिला है, जिसने मछुआरों के जीवनगत स्वाभाविक संघर्ष के स्थान पर शोषक-शोषितों के संघर्ष की गाथा है।

रांगेय राघव कृत 'कब तक पुकारूं' हिंदी का पहला उपन्यास है जो पूर्वी राजस्थान की एक जरायम पेशा करनट जनजाति के जीवन के यथार्थ एवं मर्मस्पर्शी झांकी को हमारे सामने साकार करता है। करनट जनजाति गरीब, उपेक्षित, उत्पीड़ित और शोषित है, जिनके पास गुजर-बसर करने के नाम पर अपने तन के सिवाय कुछ भी नहीं है। अपना पेट भरने के लिए उन्हें समाज के अन्य वर्गों पर निर्भर रहना पड़ता है जिसके लिए उन्हें अपनी औरतों की आबरू का सौदा करना पड़ता है। तथाकथित सभ्य जातियों के संपर्क में आने से औरतों को यौन रोगों का शिकार होना पड़ता है। इस अछूती जाति के अनूठे एवं आदिम संस्कारों, विश्वासों एवं मान्यताओं का चित्रण उपन्यासकार के गहरे अनुभव का सूचक है।

राजेंद्र अवस्थी का 'सूरज किरण की छांव' उपन्यास धर्म परिवर्तन का आदिवासियों पर पड़े प्रभाव पर केंद्रित है। ईसाई धर्म एक बड़े पैमाने पर विकास के नाम पर आदिवासी क्षेत्रों

में घुसपैठ करता रहा है और उनके अस्तित्व पर कुठाराघात करता रहा है। यह उपन्यास इसी सच्चाई को समाज के सामने उजागर करता है कि क्रिश्चिन लोगों का उद्देश्य हमेशा ही आदिवासियों का हित साधना नहीं रहा है। इस उपन्यास में आदिवासी स्त्री बंजारी की करुण कथा है जो गांव के गायता के बेटे विलियम के प्रेम जाल में फंसकर छली जाती है और धर्म बदलकर मिसेज बेंजो बन जाती है। उसे गांव की उपेक्षा सहन करनी पड़ती है। अंत में वह मिस उषा बनकर पूर्व प्रेमी कंगला के साथ वापस जाने का निर्णय लेती है–''अब मै कंगला के साथ अपने गांव को वापस चली जाऊंगी। गांव की और गांव वालों की सेवा कर अपने पाप का मोचन करूंगी और देखूंगी कि वहां किसी बंजारी को निर्वासित होकर मिसिज बेंजों जोसेफ न बनना पड़े।''[8]

जय सिंह का उपन्यास 'कलावे' और दामोदरन सदन कृत 'नदी के मोड़ पर' उपन्यास भील जनजाति पर केंद्रित हैं। 'कलावे' उपन्यास जहां जंगल पर निर्भर रहने वाले, मलेरिया, हैजा, चेचक जैसी बीमारियों से जूझते, ओले, बाढ़ और सूखे जैसी प्राकृतिक विपदाओं से लड़ते, आर्थिक रूप से विपन्न और ठाकुर की साहूकारी, ठेकेदारी तथा पुलिस के आतंक एवं शोषण में जीते हुए भीलों को प्रजाति क्लावे की समस्याओं पर लिखा गया उपन्यास है, वहीं दूसरी तरफ 'नदी के मोड़ पर' उपन्यास की आधार भूमि भयंकर सूखे और बाढ़ की चपेट से ग्रस्त धार जिला है। यह उपन्यास पुलिस की जालसाजी और पत्रकारों में व्याप्त राजनीति, मटरगस्ती, शराबखोरी के कई आयाम खोलता है। नगरीकरण एवं विकास की प्रक्रिया जिस तेजी के साथ इन आदिवासी इलाकों में प्रविष्ट हुई, उसी तीव्रता के साथ आदिवासियों का शोषण अधिक बढ़ा। इस उपन्यास में धर्म को भी शोषण के एक सशक्त माध्यम के रूप में दिखाया गया है।

योगेंद्र नाथ सिंह कृत 'वनलक्ष्मी' उपन्यास सिंहभूम के 'हो' आदिवासियों के जीवन पर आधारित है। उपन्यास में लेखक का उद्देश्य उपनिवेशवादियों तथा देशी सामंतों द्वारा किए जा रहे आदिवासियों के शोषण को दर्शाना रहा है। इस उपन्यास के संदर्भ में वीरभारत तलवार कहते हैं–''उपन्यास में मेहनतकशों के आर्थिक उत्पीड़न तथा बौद्धिक दासत्व के लिए धर्म को शोषण तंत्र के हथियार के रूप में अपनाया गया है। शिवदत्त आदिवासियों को गीता के धर्मदर्शन का उपदेश देता है तथा शोषण व्यवस्था को सुदृढ़ बनाए रखता है। वह उन्हें देश–प्रेम तथा कर्तव्य–प्रेम की घुट्टी पिलाता है। वास्तव में धर्म ने भाग्य की गुलामी और दुष्कृत्य एवं हिंसा के प्रति अप्रतिरोध सिखाया। ऐसा करके उसने सर्वसाधारण के क्रांतिकारी उत्साह को कुंठित बनाया और उन्हें हाथ पर हाथ धरे भगवान की इच्छा का मुंह जोहना सिखाया। स्वर्ग और दूसरी दुनिया में सुखमय जीवन की कहानियां गढ़कर धर्म मेहनतकशों का ध्यान सामने के ज्वलंत प्रश्नों की ओर से मोड़ देता है। वह सुखी जीवन के लिए और शोषण के विरुद्ध क्रांतिकारी संघर्ष की ओर से आम जनता को विरत करता है।''[9]

अपने दूसरे उपन्यास 'वन के मन में' सिन्हा जी ने वन विभाग द्वारा चलाए गए जंगल की कटाई, छंटाई, वनारोपण, सड़क निर्माण आदि विविध कार्यक्रमिविकी ओर संकेत किया है। सिंहभूम के जंगलों की कटाई करते हुए 'हो' आदिवासियों की विभिन्न समस्याओं को इस उपन्यास में उभारने की कोशिश की गई है।

श्याम व्यास द्वारा रचित 'मादल का दर्द' कृषि व्यवस्था पर जीते हुए भील आदिवासी समाज के आर्थिक संघर्ष को उजागर करता है। इस उपन्यास में भील आदिवादियों के सामने लगान चुकाने की विकट समस्या है। गांव का पटेल गांव की बिगड़ती हालत को बताते हुए तहसीलदार से रहम की भीख मांगता है तो तहसीलदार गरजकर कहता है–''चुप रहो...यह मक्कारी नहीं चलेगी। जो भूखे हैं वे मर जाएं। उनकी जमीन हम नीलाम कर देंगे और लगान वसूल लेंगे। जो देना चाहता हो वो अभी यहां रख दे, वरना जमीन–हल बक्खर सब नीलम हो जायेंगे... जब्त कर लिए जाएंगे... मैं तुम सबको मुर्गा बनाकर कोड़े लगवाऊंगा। बोलो कोने देता है लगान।''[10]

मनमोहन पाठक कृत 'गगन घटा गहरानी' उरांव जनजाति पर लिखा गया पहला उपन्यास है। इस उपन्यास द्वारा उरांवों का संपूर्ण चित्र खींचकर हिंदी पाठकों के समक्ष प्रस्तुत करने का मनमोहन पाठक का यह प्रयास सराहनीय एवं महत्वपूर्ण है। गगन घटा गहरानी में भूमिहीनता को आदिवासियों के मूल कारण ऋण के संदर्भ में देखा गया था। गिरवी रखी जमीन कभी वापस उरांव के हाथ में नहीं आ सकती है। उपन्यास के उरांव समझने लगे हैं कि–''राय बहादुर के हाथ चढ़ा खेत, आज तक कोई लौटा नहीं पाया।''[11] आदिवासी आर्थिक बदहाली और भूमिहीनता के कारण सामंती जमींदार के हथकंडों में फंसकर बेगार तो करते ही हैं, बंधक श्रमिक भी बन जाते हैं। बेगार में नि:शुल्क सेवा करनी होती है और बंधक को

अपना पेट भरने के लिए परिवार के दूसरे लोगों पर निर्भर रहना पड़ता है जो वांछित धनराशि देकर उसे मुक्त कराएं।[12]

1990 में प्रकाशित संजीव का 'धार' उपन्यास में भी आदिवासी समुदाय के अछूते क्षेत्र एवं विषय का उद्घाटन हुआ है। उपन्यास के केंद्र में संथाल परगना का बांसवाड़ा अंचल और संथाल आदिवासी हैं। इस उपन्यास में संथाल आदिवासी जीवन के संघर्ष और शोषण को प्रधानता मिली है। 'नई चेतना से विकसित होती हुई यह कृति अंतत: राष्ट्रीय चेतना तक पहुंचती है। जनचेतना का निर्माण, प्रगति और उद्देश्य इसका प्रमाण है।'[13]

'सावधान नीचे आग है' में भी संजीव ने कोयला खदानों में काम करने वाले आदिवासी मजदूरों को अपनी कृति का विषय बनाया है। संजीव ने इस उपन्यास के माध्यम से कोयलांचल के आदिवासियों के शोषण एवं दमन को अखिल भारतीय परिवेश में देखा है। तेजिंदर का उपन्यास 'काला पादरी' भी गगन घटा गहरानी की तरह ओरांव आदिवासियों की पृष्ठभूमि पर केंद्रित है। तेजिंदर ने भूख की राजनीति से भूख की थियोलॉजी तक का जो सफर कला पादरी में तय किया है, वह संभवत: हिंदी उपन्यास के लिए नई विषय वस्तु है।[14] उपन्यास में भय और भ्रष्टाचार से पीड़ित आदिवासी भूख, बीमारी और गरीबी से त्रस्त होकर मर जाते हैं लेकिन ऐसी विपरीत स्थिति में भी चर्च अपना सेवा कार्य शुरू नहीं करता। जेम्स खाखा इन समस्याओं से जूझता है और सोचता है-''भूख का क्या कोई आकार होता है? मैं नहीं जानता था। मैंने भूख को कभी नहीं देखा था। भूख के बारे में सुना जरूर था, लेकिन वह भी इतना नहीं कि उसकी आवाज को अपनी अंतड़ियों तक महसूस कर सकूं।''[15]

राकेश कुमार सिंह का उपन्यास 'पठार पर कोहरा' जहां आजादी के बाद आदिवासी गांवों की परिस्थितियों, जटिलताओं एवं शोषण के दुष्चक्रों की कथा कहता है वहीं मैत्रेई पुष्पा का उपन्यास 'अल्मा कबूतरी' कबूतरा जनजाति के समाज और जीवन मूल्य से जुड़े प्रत्येक पहलू को उजागर करने की कोशिश करता है। कहीं भी कोई अपराध हुआ हो शक कबूतरा जनजाति पर ही किया जाता है। इन सारी समस्याओं से संघर्ष करते हुए भी ये जीने को विवश हैं। मैत्रेई पुष्पा कहती है-''मंसाराम के पिता सोचते हैं साले कबूतरा डेढ़ बीघा दबाए हुए हैं...वह दिन कब आएगा जब हम उन्हें उखाड़ फेंकेंगे।''[16]

भगवान दास मोरवाल ने जहां 'रेत' उपन्यास में राजस्थान की कंजर जनजाति की वेश्यावृत्ति की समस्या से पाठक को अवगत कराया है, वहीं रणेंद्र कृत 'ग्लोबल गांव के देवता' झारखंड के असुर समुदाय के अनवरत जीवन संघर्ष का एक महत्वपूर्ण उपन्यास है। इस उपन्यास में रणेंद्र ने असुर जनजाति की कथा के माध्यम से शोषण की समूची प्रक्रिया को रेखांकित किया है। झारखंड की धरती से उपजी यह रचना हाशिए के मनुष्यों के सुख-दुख को अपनी संपूर्णता में उजागर करती है।

वस्तुत: उपन्यास साहित्य मानव जीवन की समग्रता का साहित्य है और उपन्यास को मानव जीवन की समग्रता का चित्र माना जाता है। लेकिन यह अजीब विडंबना है कि उपन्यास के क्षेत्र में आदिवासी जीवन को रेखांकित करने का प्रयास तो अनेक लेखकों ने समय-समय पर किया है किंतु फिर भी इस क्षेत्र में आदिवासी जीवन एक सिरे से गायब ही दिखाई देता है। आरम्भ के आंचलिक उपन्यासों के दौर में आदिवासी जीवन चित्रित तो हुआ किंतु आंचलिकता के शोर शराबे में आदिवासी जीवन की चर्चा बहुत ही कम हुई। इस दौर के आदिवासी जीवन से संबंधित उपन्यासों में आदिवासी जीवन के प्रति एक रोमानी भाव देखने को मिलता है, लेकिन हम हाल ही के उपन्यास साहित्य पर दृष्टिपात करें तो पाते हैं कि आदिवासी जीवन से संबंधित कई मार्मिक एवं गंभीर उपन्यास भी आए हैं। इन सबके बावजूद भी आदिवासी जमात के लेखकों की संख्या अभी भी हाशिए पर ही है। इन उपन्यासों में विस्थापन, औपनिवेशिकरण एवं वैश्वीकरण आदि समस्याओं से संबंधित कई विमर्शों का खुलासा तो देखने को मिलता है लेकिन इनकी चर्चा बहुत ही कम है। इस प्रकार हिंदी उपन्यासों में आदिवासी जीवन को चित्रित करने के प्रयास तो किए जा रहे हैं, किंतु इस दिशा में आंदोलनकारी कदम बढ़ाना अभी बाकी है।

एसोसिएट प्रोफेसर, हिंदी विभाग
सत्यवती महाविद्यालय
दिल्ली विश्वविद्यालय, दिल्ली

सन्दर्भ सूची

1. कमलेश्वर, आदिवासी अस्तित्व, अस्मिता और साहित्य, युद्धरत आम आदमी, अंक-80, संपा. रमणिका गुप्ता, पृष्ठ-14

2. रमणिका गुप्ता, खरी-खरी बात, युद्धरत आम आदमी, अंक-75, पृष्ठ-4
3. प्रो. के. सच्चिदानंद, वे धरा के आदिपुत्र हैं, युद्धरत आम आदमी, अंक-80, संपा. रमणिका गुप्ता, पृष्ठ-9
4. रामशरण जोशी, आदिवासी समाज और शिक्षा, पृष्ठ-3, 4
5. रामशरण जोशी, आदिवासी समाज और शिक्षा, पृष्ठ-15, 17
6. नन्ददुलारे वाजपेयी, राष्ट्रीय साहित्य, पृष्ठ-56, 57
7. डॉ. वंशीधर, हिंदी के आंचलिक उपन्यास, पृष्ठ-62, 63
8. राजेंद्र अवस्थी, सूरज किरण की छांव, पृष्ठ-190
9. वीर भारत तलवार, शालपत्र, संपा. मनमोहन पाठक, पृष्ठ-36
10. श्याम व्यास, मादल का दर्द, पृष्ठ-80
11. मनमोहन पाठक, गगन घटा गहरानी, पृष्ठ-26
12. नदीम हसनैन, जनजातीय भारत, पृष्ठ-44
13. गिरीश काशिद, कथाकार संजीव, संपा. गिरीश काशिद, पृष्ठ-295
14. वीरेंद्र यादव, आलोचना, संपा. नामवर सिंह, जुलाई-सितंबर 2001, पृष्ठ-89
15. तेजिंदर, काला पादरी, पृष्ठ-72
16. मैत्रेई पुष्पा, अल्मा कबूतरी, पृष्ठ-10

डॉ. सीमा माहेश्वरी

आधुनिक हिंदी कविता में द्विवेदी युगीन कवियों का योगदान

प्रत्येक युग का साहित्य अपने युग से अविछिन्न होता है। वह अपने युग की परिस्थितियों को बनाने वाले प्रमुख कारकों में से एक होता है। जब तक हम इस संश्लिष्टता को ध्यान में नहीं रखते हैं तब तक हम आधुनिक हिन्दी कविता को समझने का सही परिप्रेक्ष्य विकसित नहीं कर सकते हैं।

'आधुनिक' से क्या तात्पर्य है? क्या यह सिर्फ काल का सूचक है या इसके साथ विशेष युग की अवधारणा जुड़ी है जो प्राचीन और मध्ययुग की अवधारणाओं से अलग है? जब भारतीय इतिहास के आधुनिक युग की शुरुआत होती है क्या तभी से हिन्दी साहित्य आधुनिक युग की भी शुरुआत होती है? यहाँ यह सवाल भी विचारणीय है कि जब पश्चिम में आधुनिक युग का आरंभ हुआ क्या वही समय भारत में भी आधुनिकता का है? आधुनिकता पश्चिम की अवधारणा मानी जाती है, तो क्या आधुनिकता की कोई भारतीय अवधारणा भी है? हिन्दी के खास संदर्भ में जब हम बात करते हैं तो यह प्रश्न भी पैदा होता है कि आधुनिक साहित्य किन अर्थों में अपने पूर्ववर्ती साहित्य से भिन्न है? यह भिन्नता मुखत: साहित्यिक है या साहित्येत्तर?

भारतीय इतिहास का विभाजन सामान्तया प्राचीन, मध्य एवं आधुनिक इतिहास के रूप में की जाती है। इस ऐतिहासिक काल-विभाजन पर कई भारतीय विद्वानों ने विशेष आपत्ति की हैं जैसे वासुदेवशरण अग्रवाल, राधाकुमुद मुखर्जी, लेखक रवि शंकर आदि ने। लेखक **'रवि शंकर'** ने अपनी पुस्तक **'ऐतिहासिक काल गणना : एक भारतीय विवेचन'** की भूमिका (पृष्ठ-27) में बताया है कि विश्व में आज इतिहास-लेखन और काल विभाजन की जो विधा प्रचलित है वह यूरोप द्वारा पिछले 150 से 200 वर्षों में विकसित की गई है। इस विधा में जो इतिहास लिखा जाता है, वह न केवल एकपक्षीय और अपूर्ण होता है, बल्कि वह इतना ज्यादा शुष्क होता है कि वह अरुचिकर होने के साथ-साथ समाज के लिए प्रेरणास्पद भी नहीं होता। इसका दुष्परिणाम यह हुआ कि इसने पूरे विश्व पर संकीर्णता की एक चादर-सी डाल दी है। एक ऐसी संकीर्ण दृष्टि जो मानव के सम्पूर्ण इतिहास को मात्र कुछेक हजार वर्ष में समेट देती है। यह दृष्टि है ईसाइयों की बाइबिल-दृष्टि जिसने पूरी सृष्टि के इतिहास को मात्र 6 हजार वर्ष में समेट दिया है। यह इतिहासलेखन और काल विभाजन, भारत जैसे प्राचीन सभ्यतागत राष्ट्र के साथ घोर अन्याय है। फिर भी 1200 वर्षों की लम्बी गुलामी का यह फलितार्थ है जिसे भोगना हमारी नियति बना दी गई है। तो सवाल उठता है कि भारत के कालज्ञान और उसके इतिहास को कैसे समझें और उसे समझने की वास्तविक शर्त क्या हों? लेखक रवि शंकर कहते हैं कि ''पहली शर्त है अपने शास्त्रों के आधार को समझना और उस पर विश्वास रखना। भारतीय इतिहास के काल को समझने के लिए दूरदृष्टि दोषग्रस्त पाश्चात्य मतों की बजाए भारत के अपने निर्भात और सुस्पष्ट आधारों को ग्रहण किया जाना चाहिए। भारत में सबसे प्रमुख संस्कृत साहित्य है। चारों वेद, वेदों के ब्राह्मण, अरण्यक, स्मृतियाँ, रामायण, महाभारत, नाट्यशास्त्र, कामशास्त्र, अर्थशास्त्र, पुराण और ज्योतिष ग्रंथ, संगम साहित्य आदि भारत की सांस्कृतिक धारा के अविरल चिन्ह हैं। इसे दरकिनार कर लिखा गया भारत का इतिहास कदापि पूर्ण नहीं हो सकता है। भारतीय इतिहास और कालगणना को समझने के लिए भारत को उसके मौलिक स्वरूप में पढ़ा जाना आवश्यक है। जो संस्कृत की परंपरा को जाने बिना संस्कृत ग्रंथों के अंग्रेजी अनुवाद पढ़कर उसके आधार पर भारत को समझना

चाहेगा, तो वह बड़ी गलती करेगा।''[1] यह गलती विदेशी अरबी- फारसी, यूरोपीय विद्वान करें तो समझ में आती है लेकिन यही गलती रोमिला थापर, आर. एस शर्मा, सतीश चंद्रा, इरफान हबीब, विपिन चंद्रा, हजारी प्रसाद द्विवेदी, नामवर सिंह या पुरुषोत्तम अग्रवाल जैसे भारतीय विद्वान करें तो यह अक्षम्य प्रतीत होता है। यह सत्ता पोषित एजेंडा के तहत की गई साजिश का हिस्सा मालूम पड़ती है।

आधुनिकता नवीन विचार को अपने में समेटकर चलती है। आधुनिकता परंपरा से विद्रोह भी करती है लेकिन परंपरा की अच्छाइयों को छोड़ती भी नहीं। यूँ तो ऐतिहासिक सन्दर्भ में आधुनिक काल का आगमन 1757 ई. के प्लासी युद्ध से ही हो जाता है लेकिन हिन्दी साहित्य के सन्दर्भ में यह भारतेंदु युग के 1857 ई. से है। आदिकाल, भक्तिकाल, रीतिकाल की मध्ययुगीनता को छोड़ते हुए हिन्दी साहित्य नये युग में प्रवेश करती है। यह नवीनता न सिर्फ भाषा के सन्दर्भ में है, न सिर्फ शिल्प के सन्दर्भ में बल्कि विषय-वास्तु, कथ्य और रचना पद्धति के सन्दर्भ में भी दृष्टिगोचर होती है।

पश्चिम में आधुनिक युग का प्रारंभ 15वीं सदी के पुनर्जागरण से माना जाता है जबकि हिंदुस्तान में यह 19वीं शताब्दी के उतरार्ध से। जब हम हिन्दी साहित्य के सन्दर्भ में आधुनिकता को निहारते हैं तो इसमें युगीन परिस्थितियों का भी महत्व दिखाई पड़ता है। एक ओर मध्ययुगीन सामंतवाद की शक्ति क्षीण हो रही थी तो दूसरी ओर पूंजीवाद अपना पाँव पसार रहा था। आधुनिक वैज्ञानिक शिक्षा, प्रेस, रेलगाड़ी, कल-कारखानों के आगमन से नवीन संस्कृति जन्म ले रही थी। यानी देशकाल में परिवर्तन हो रहा था। केन्द्रीय सत्ता अंग्रेजों के हाथों में चली गई थी। युगीन परिस्थितियाँ यदि बदल रही थीं तो साहित्य का बदलना भी लाजमी था। इसलिए साहित्य भी रीतिकालीन परिपाटी को त्यागकर नये प्रतिमान गढ़ना शुरू कर देती है।

अगर हम बात करें कि आधुनिक हिन्दी कविता क्या है? तो सामंती-दरबारी रीतिकालीन काव्य परंपरा को छोड़ती हुई (हालाँकि पूर्णतया नहीं) कविता पहली बार वीर भक्ति श्रृंगार से इतर विषयों पर रचनाएं देती हैं। अब कला के विषय केवल राजा-रानी, नायिका भेद न होकर लोक से जुड़ता चला गया। आधुनिक प्रेस और यातायात रेल की सुलभता ने आम जनता तक पहुँचाने में महती भूमिका निभायी। इसलिए कविता जब लोक तक आम जन तक पहुँचने लगी तो उनमें आम जनजीवन का चित्रण भी अपेक्षित होता चला गया । लोकतत्व की प्रधानता से लैस कविता ने जड़ता को त्यागकर बौद्धिकता का साहारा लिया और इसमें आम जनजीवन के साथ-साथ प्रकृति चित्रण, राष्ट्रप्रेम, नारी की स्थिति आदि का भी चित्रण सजीवता से हुआ।

कविता में जब नये विषय वस्तुओं का प्रवेश हुआ तो नई भाषा खड़ी बोली की भी प्रधानता बढ़ती चली गई। आधुनिक काल को आचार्य रामचंद्र शुक्ल ने गद्य काल कहा। गद्य की भाषा तो खड़ी बोली हो गई लेकिन काव्य भाषा के रूप में भारतेंदु युग तक ब्रज भाषा को ही प्रधानता रही। आधुनिक भाव-विचार को खड़ी बोली में बांधने का यह सिलसिला लंबा चला और द्विवेदी युग में जाकर गद्य और पद्य दोनों की भाषा खड़ी बोली बन पाई। इस प्रकार आधुनिक काव्य न सिर्फ भाषा, शिल्प, कथ्य, विषय-वास्तु बल्कि रचना पद्धति और विचार में नवीनता के साथ आई।

द्विवेदी युग 20वीं शताब्दी के प्रथम दो दशकों का साहित्यिक कालखंड है। इस समय तक देश एक करवट लेकर जग चुका था। कांग्रेस की सत्ता जनता के बीच संवाद बनाने की सुरक्षित भूमि का त्याग कर जन आस्था के साथ आगे बढ़ रही थी। 1905 ई. में बंग भंग आन्दोलन हुआ और इसने साम्राज्यवाद की जड़ें हिला दीं। 1904 ई. में जापान ने रूस को पराजित किया। इससे एशियाई जनता में गोरी जनता के प्रति जो ऊंचता बोध था वह टूटा। देश में जागरण का जो शंखनाद गूंजा उसने राजनैतिक सामाजिक वैयक्तिक सभी स्तरों पर लोगों को कुछ मौलिक और अद्वितीय करने को प्रेरित किया। एक दृष्टि से द्विवेदी युग, भारतीय युग का विस्तार है। लेकिन भारतेंदु युग और द्विवेदी युग में यदि समानताएं हैं तो ऐसी असमानताएं भी हैं जो उनके बीच स्पष्ट विभाजक रेखाएं खींचती हैं। भारतेंदु युग में कोई एक ऐसी साहित्यिक पत्रिका नहीं थी जिसने पूरे युग को लगभग पूर्णत: नियंत्रित किया हो। लेकिन द्विवेदी युग में '**सरस्वती**' पत्रिका है। द्विवेदी युग का लेखक दृश्य-श्रव्य रूपों को छोड़ देता है लेकिन पत्रकारिता को नहीं छोड़ता।

इस युग में भी दो काव्य धाराएँ हैं। एक है अनुशासन की धारा और दूसरी है स्वछंदतावाद की धारा । एक अन्य धारा भी है जो रीतिकालीन है। अनुशासन की धारा में हैं **आचार्य महावीर प्रसाद द्विवेदी, मैथिलीशरण गुप्त, अयोध्या सिंह उपाध्याय हरिऔध, राय देवी प्रसाद पूर्ण, नाथूराम शंकर शर्मा, रामचरित उपाध्याय** आदि। स्वछंदतावादी धारा के प्रमुख हस्ताक्षर हैं- **श्रीधर पाठक, मुकुटधर पाण्डेय, रूपनारायण पाण्डेय, राम नरेश त्रिपाठी** आदि। द्विवेदी युग में भी रीतिकालीन धारा के प्रमुख कवि हैं रत्नाकर।

द्विवेदीयुगीन कवियों का प्रमुख योगदान कविता को जड़ता से निकालकर बौद्धिकता की धरातल प्रदान करना था। यह अबौद्धिकता के विरुद्ध बौद्धिकता का विद्रोह है। इसमें भावुकता की जगह विवेक और तर्कसंगती को महत्व मिला। यदि हरिऔध की '**प्रिय प्रवास**' में तत्कालीन राष्ट्रीय जागरण के कारण कृष्ण और राधा को लोकसेवक और लोकसेविका के रूप में चित्रित करते हैं तो यह आधुनिक बुद्धिवादी दृष्टि का ही परिणाम है। मैथिलीशरण गुप्त ने भी '**साकेत**' में अविश्वसनीय एवं अतिप्राकृतिक घटनाओं का समावेश नहीं किया है। साकेत में पौराणिक विश्वासों के पुनर्मूल्यांकन का प्रयत्न भी है–

राम, तुम मानव हो? ईश्वर नहीं हो क्या?
विश्व में रमे हुए नहीं सभी कहीं हो क्या?
तब मैं निरीश्वर हूँ, ईश्वर क्षमा करे;
तुम न रमो तो मन तूमें रमा करे। (साकेत)

भारत भारती में जागरण का स्वर प्रधान है–

हम कौन थे, क्या हो गये हैं और क्या होंगे अभी
आओ, विचारें आज मिल कर ये समस्याएं सभी।
(भारत भारती)

इसीलिए यथार्थ दृष्टि के पीछे हमेशा आधुनिकता सक्रिय होती है। द्विवेदीयुगीन कवियों का प्रमुख योगदान स्वछंदतावादी काव्य धारा को एक सशक्त काव्य धारा के रूप में विकसित करना था जो आगे चलकर छायावाद के रूप में प्रस्तुत हुआ। इस प्रकार द्विवेदी युग छायावाद की पूर्वपीठिका है।

आचार्य रामस्वरूप चतुर्वेदी के शब्दों में ''स्वछंदतावाद की प्रमुख विशेषताओं में है वन का महत्व, प्राकृतिक पर्यवेक्षण, प्रेम का स्वछंद भंगिमाओं में चित्रण और बैलेड या कथा गीत का प्रयोग और काव्य भाषा के रूप में खड़ी बोली की स्वीकृति।''[2] सबसे बड़ी बात इस स्वछंदतावादी काव्यधारा ने जीवन से लगाव की एक भूमिका तैयार की, जो आगे चलकर छायावाद में और गहरी हो जाती है। द्विवेदी युग में वर्ण्य विषय का अद्‌भुत विस्तार हुआ। आचार्य द्विवेदी ने कवि कर्तव्य निबंध में लिखा था – ''चींटी से लेकर हाथीपर्यंत पशु, भिक्षुक से लेकर राज्पर्यंत मनुष्य, बिंदु से लेकर समुद्रपर्यंत जल, अनंत आकाश, अनंत पृथ्वी, अनंत पर्वत – सभी पर कविता हो सकती है।''[3] कवियों ने प्रकृति को ही विषय बनाकर पूरी कविता लिख डाली। प्रियप्रवास का तो आरंभ ही प्रकृति वर्णन से हुआ है–

दिवस का अवसान समीप था।
गगन था कुछ लोहित हो चला
तरु शिखा पर थी अब राजती
कमलिनी कुल वल्लभ की प्रभा। (प्रियप्रवास)

श्रीधर पाठक की लंबी कविता 'कश्मीर सुषमा' प्रकृति का स्वायत चित्रण करती है। गुरुवंत–हेमंत में उन्होंने छप्पर से लटकते हुए निरीह कद्दुओं की खबर ली। द्विवेदी युग में कवियों ने जड़ प्रकृति पर चेतना का आरोप (मानवीकरण) शुरू कर दिया था जो आगे मुख्य छायावादी स्वर भी बना।

द्विवेदीयुगीन काव्य इतिवृतात्मक है। इस युग के कवियों को यूँ ही कथा कवि नहीं कहा जाता है। ये साहित्य को समाज के सभी पक्षों से जोड़ने के लिए कथा काव्य लिखते हैं और उसमे उपदेश और शिक्षा का तत्व डालकर अपने नवजागरण परक दायित्व का निर्वाह करते हैं। कथा के कारण शिक्षा सरस हो जाती है। इतिवृतात्मकता की दूसरी वजह यह है कि इस युग के कवि काव्यप्रतिभा के धनी नहीं थे। इनमें अर्थ–आवर्त पैदा करने की वैसी शक्ति नहीं है जैसी छायावादियों में है फिर भी कविता को रीतिकालीन मानसिकता से निकालकर आधुनिकता से जोड़ने और छायावाद की पृष्ठभूमि तैयार करने में उन्होंने महत्वपूर्ण योगदान दिया।

असिस्टेंट प्रोफेसर, हिंदी विभाग
कमला नेहरू कॉलेज
दिल्ली विश्वविद्यालय, दिल्ली

सन्दर्भ सूची

1. रवि शंकर, ऐतिहासिक कालगणना : एक भारतीय विवेचन, सेंटर फॉर सिविलाइजेशनल स्टडीज, दिल्ली, 2021 ई, पृष्ठ–27
2. रामस्वरूप चतुर्वेदी, हिन्दी साहित्य और संवेदना का विकास लोकभारती प्रकाशन, इलाहबाद, 24वां संस्करण 2010, पृष्ठ–94
3. डॉ. नगेन्द्र (सं), हिंदी साहित्य का इतिहास, डॉ. उमाकांत गोयल (लेख), द्विवेदी युग : काव्यधारा, मयूर पेपरबैक्स, नोयडा, 30वां संस्करण, 2004, पृष्ठ–492

सन्दर्भ ग्रन्थ

1. हिन्दी साहित्य का इतिहास – आचार्य रामचंद्र शुक्ल
2. हिन्दी साहित्य का इतिहास – डॉ. नगेन्द्र
3. हिन्दी साहित्य और संवेदना का विकास – रामस्वरूप चतुर्वेदी
4. आधुनिक साहित्य नया साहित्य नये प्रश्न – नंददुलारे वाजपेयी

शोध-पत्र

राष्ट्र निर्माता सच्चिदानन्द सिन्हा : प्रशासनिक कार्यों का ऐतिहासिक अवलोकन

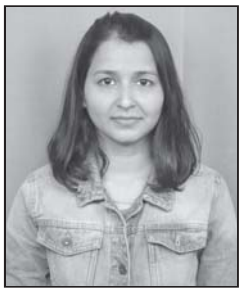

उपासना

सच्चिदानन्द सिन्हा आधुनिक बिहार प्रान्त के ही नहीं अपितु आधुनिक भारत के निर्माताओं में अग्रणी थे। आधुनिक भारत के इतिहास में सच्चिदानन्द सिन्हा का स्थान अप्रतिम है। वे एक महान पत्रकार, शिक्षाविद्, उच्च कोटि के विधायक-सांसद एवं प्रशासक भी थे। अपनी प्रतिभा संपन्नता, विलक्षण कार्यक्षमता, दूरदृष्टि, ओजस्वी वाक्शक्ति से वर्षों तक बिहार के सामाजिक और सार्वजनिक जीवन को वे प्रभावित करते रहे। अपने बहुआयामी क्रियाकलापों के कारण वे एक व्यक्ति नहीं बल्कि, अपने आप में एक संस्था थे। उनके ज्ञान एवं अनुभव का लोहा पूरा देश मानता था। खासतौर पर 'बिहार के बंगाल से पृथक्करण आन्दोलन' की वे आत्मा थे और बिहार एवं उड़ीसा प्रान्त का गठन उनके अथक प्रयासों का ही नतीजा था।

सच्चिदानन्द सिन्हा का जन्म 1871 ई॰ में बिहार के आरा शहर में हुआ। अपनी शिक्षा उन्होंने पटना, कलकत्ता एवं लंदन में पूरी की। वे भारतीय राष्ट्रीय आन्दोलन के शीर्ष नेताओं यथा दादाभाई नौरोजी, डब्लू.सी. बनर्जी एवं सुरेन्द्रनाथ बनर्जी के सान्निध्य में आए। लेकिन विशेष रूप से राजनीति की ओर उनका झुकाव इंग्लैंड प्रवास के दौरान ही देखने को मिलता है। इंग्लैंड में वैरिस्ट्री की पढ़ाई के दिनों में ही वे 'ब्रिटिश कमिटी ऑफ दी इंडियन नेशनल काँग्रेस' के सक्रिय सदस्य बन बैठे। 1892 ई॰ में दादा भाई नौरोजी ने इंग्लैंड के हाउस ऑफ कॉमन्स के लिए जब चुनाव लड़ा उस चुनाव में उन्होंने नौरोजी के पक्ष में जमकर प्रचार कार्य किया।[1]

1893 ई॰ में सच्चिदानन्द सिन्हा भारत वापस लौटे इस समय भारत नई अँगड़ाईयाँ लेने को उध्यत था। वह जमाना ऐसा था जब देश की राजनीति हिलोरे ले रही थी। 1896 ई॰ में उन्होंने इलाहाबाद हाईकोर्ट में वकालत शुरू की, जहाँ वे 1906 ई॰ तक रहे। इस दौरान इलाहाबाद में वे मोतीलाल नेहरू, सर तेज बहादुर सप्रू तथा मदन मोहन मालवीय के निकट सम्पर्क में आये।[2]

1896 ई॰ में काँग्रेस के कलकत्ता अधिवेशन में इलाहाबाद के प्रतिनिधि की हैसियत से सम्मिलित हुए। इलाहाबाद में काँग्रेस के पन्द्रहवें अधिवेशन में उन्होंने प्रशासन से न्याय विभाग को अलग करने के प्रस्ताव का समर्थन किया। 1899 ई॰ में लखनऊ काँग्रेस सम्मेलन में प्रभावशाली भाषण देकर उन्होंने भारतीय राजनीति में अपना एक विशिष्ट स्थान बना लिया।[3]

1900 ई॰ में लाहौर में काँग्रेस के 16वें अधिवेशन में सच्चिदानन्द सिन्हा भी शरीक हुए। इस अधिवेशन में उन्होंने प्रशासन से न्याय विभाग को अलग करने का प्रस्ताव स्वयं पेश किया। सन् 1901 में पार्टी के 17वें अधिवेशन (कलकत्ता) में उन्होंने पुलिस में सुधार के लिए प्रस्ताव रखा। इस प्रस्ताव का मुख्य बिन्दु था कि पुलिस विभाग में अधिकाधिक संख्या में शिक्षित भारतीय नागरिकों की नियुक्ति की जाए ताकि पुलिस की दक्षता बढ़ सके। सन् 1902 में अहमदाबाद में तथा 1905 ई॰ में बनारस में काँग्रेस के 20वें अधिवेशन में पुनः इसी मुद्दे पर प्रस्ताव प्रस्तुत करने का भार भी उन्हें ही दिया गया था।[4]

1906 ई॰ में पटना लौटने पर सच्चिदानन्द सिन्हा ने बिहार की जीर्णावस्था पर ध्यान दिया। उस समय तक बिहार, बंगाल और उड़ीसा एक ही प्रान्त था तथा बिहारियों की बड़ी दुर्दशा थी। सच्चिदानन्द सिन्हा ने अग्रदूत के रूप में उसमें काम किया और उन्हीं के अथक प्रयास का फल हुआ कि 12

दिसम्बर 1911 ई॰ को दिल्ली दरबार ने यह फैसला लिया कि बिहार को बंगाल से अलग एक प्रान्त का दर्जा दिया जाए।[5]

1906 ई॰ में राजेन्द्र प्रसाद के पहल पर 'बिहारी स्टूडेंट कॉन्फ्रेंस' का गठन हुआ जिसमें सच्चिदान्द सिन्हा ने पूरी तरह सहयोग किया। इसके वार्षिक सम्मेलन का आयोजन बिहार के विभिन्न शहरों में होता रहा, इन सम्मेलनों में किसी न किसी रूप में उनकी भागीदारी सुनिश्चित थी।[6]

1908 ई॰ में सोनपुर मेले में सच्चिदान्द सिन्हा, मजहरूल हक, हसन इमाम, दीपनारायण सिंह आदि के सहयोग से खान बहादुर सरफराज हुसैन की अध्यक्षता में बिहार के काँग्रेसियों ने 'बिहार प्रदेश काँग्रेस कमिटी' का गठन किया। कमिटी के अध्यक्ष हसन इमाम और कोषाध्यक्ष सच्चिदानन्द सिन्हा बनाये गये।[7]

सच्चिदानन्द सिन्हा की अध्यक्षता में बिहार प्रान्तीय सम्मेलन की दूसरी बैठक 9-10 अप्रैल 1909 ई॰ को भागलपुर में सम्पन्न हुई। इस सम्मेलन में उन्होंने अपने लम्बे अध्यक्षीय भाषण में भारत के राजनीतिक वातावरण की चर्चा करते हुए हिन्दू-मुस्लिम एकता को मजबूत करने पर बल दिया। उन्होंने इस दिशा में मुस्लिम नेता अली इमाम के योगदानों की प्रशंसा की।[8]

केन्द्रीय विधान परिषद् में सांसद बनने के पूर्व सच्चिदानन्द सिन्हा अनेक संघर्षों, झंझावतों को झेलते हुए अपनी जीवन यात्रा को इस मुकाम तक पहुँचाया। सर्वप्रथम 1910 ई॰ में 'भारत सरकार अधिनियम 1909' के तहत या यों कहें मार्ले-मिंटो सुधार के अन्तर्गत पहला चुनाव हुआ, जिसमें सच्चिदानन्द सिन्हा चार महाराजाओं को हराकर बंगाल विधान परिषद् की ओर से केन्द्रीय विधान परिषद् में प्रतिनिधित्व करने के लिए निर्वाचित हुए। उनके लिए यह एक बड़ी बात थी, क्योंकि वे चार महाराजाओं को हराकर केन्द्रीय विधान परिषद् के सदस्य बने। वे चार महाराजा थे- दरभंगा के रामेश्वर सिंह, गिद्धौर के रावणेश्वर सिंह, कासिम बाजार के मणीन्द्र चन्द्र नन्दी तथा प्रद्योत कुमार टैगोर।[9]

सच्चिदानन्द सिन्हा पूरे तीन साल की अवधि तक इस पद पर रहे और इस तीन साल की अवधि में केन्द्रीय परिषद् के सदस्यों तथा भारत के प्रमुख लोगों के साथ तालमेल और समन्वय के साथ काम किया। सच्चिदानन्द सिन्हा ने प्रामाणिक तथ्यों तथा आँकड़ों से युक्त, तर्कपूर्ण, भाषणों और वक्तव्यों से तत्कालीन सभी नेताओं को प्रभावित किया। फलस्वरूप उन्हें बहुत प्रसिद्धि मिली।[10]

1913 ई॰ में सच्चिदानन्द सिन्हा ने आगरा एवं अवध प्रोविन्सियल कॉन्फ्रेंस की अध्यक्षता की। इसी वर्ष उन्हें पटना विश्वविद्यालय कमिटी (नाथन कमिटी)का सदस्य मनोनित किया गया। 1914 ई॰ में उन्होंने काँग्रेस पार्टी के प्रतिनिधि के रूप में यूरोप के देशों का दौरा किया। काँग्रेस के 30वें बम्बई अधिवेशन के अवसर पर 1915 ई॰ में शिष्ट मंडल की सेवाओं पर हार्दिक प्रसन्नता व्यक्त की गई।[11]

1913 से लेकर 1918 की अवधि तक जब सच्चिदानन्द सिन्हा बिहार-उड़ीसा विधान परिषद के प्रतिनिधित्व कर रहे थे, उस समय बिहार एवं उड़ीसा विधान परिषद् द्वारा कुछ महत्वपूर्ण अधिनियम पारित किये गये जिनमें प्रमुख थे - बिहार एवं उड़ीसा राजस्व परिषद् अधिनियम (1913), उड़ीसा टेनेन्सी अधिनियम (1913), छोटानागपुर ग्रामीण पुलिस अधिनियम (1914), बिहार एवं उड़ीसा पारघाट (संशोधन) अधिनियम (1914), झरिया जलापूर्ति अधिनियम (1914), बिहार एवं उड़ीसा लोक मांग वसूली अधिनियम (1914), पटना प्रशासन अधिनियम (1915), बिहार एवं उड़ीसा उत्पाद अधिनियम (1915), बिहार एवं उड़ीसा उपकर (संशोधन) अधिनियम (1916), बिहार एवं उड़ीसा चिकित्सा अधिनियम (1916), बिहार एवं उड़ीसा विकेंद्रीकरण अधिनियम (1916), बिहार एवं उड़ीसा साधारण खंड अधिनियम (1917), चम्पारण भूमि संबंधी अधिनियम (1918), पटना विश्वविद्यालय (संशोधन) अधिनियम (1918) आदि।[12] यह वह समय था जिस समय किसी को नौकरी मिलना बहुत ही कठिन था। सिन्हा ने इस संबंध में सरकार को अनेक सुझाव दिये। फलतः सरकार ने एक रॉयल कमीशन का गठन किया, जिसका उद्देश्य राज्य में अधिकाधिक नौकरी देने के लिए पदों का सृजन करना था। इन अधिनियमों के निर्माण में उनके द्वारा दिये गये अमूल्य सुझावों को नकारा नहीं जा सकता।

सच्चिदानन्द सिन्हा दिसम्बर 1919 ई॰ में पुनः इम्पीरियल लेजिस्लेटिव काउंसिल के सदस्य निर्वाचित हुए। मांटेग्यू-चेम्सफोर्ड सुधार होने तक वे यहाँ सदस्य बने रहे। 1921 ई॰ में प्रान्तों में द्वैध शासन के अन्तर्गत जब चुनाव हो रहे थे इसमें वे केन्द्रीय विधान सभा के सदस्य निर्वाचित हुए और वे केन्द्रीय विधान सभा के प्रथम उपाध्यक्ष निर्वाचित किये गये। लॉर्ड एस.पी. सिन्हा की प्रेरणा से मई 1921 ई॰ में, जो उस समय बिहार प्रान्त के गवर्नर थे, वे गवर्नर की कार्यकारिणी परिषद्

के सदस्य निर्वाचित हुए। फलस्वरूप उन्होंने केन्द्रीय विधान सभा की सदस्यता से त्यागपत्र दे दिया। इसी वर्ष जुलाई महीने में उन्हें बिहार एवं उड़ीसा प्रान्त के लेजिस्लेटिव कौंसिल का अध्यक्ष भी नियुक्त किया गया। 1927 में उन्होंने पुन: यूरोप के देशों का सघन दौरा किया और अगस्त महीने में जेनेवा में आयोजित इन्टरनेशनल प्रेस कॉन्फेंस में भारत का प्रतिनिधित्व किया। उसी वर्ष अक्टूबर महीने में उन्होंने लन्दन में ईस्ट इंडिया एसोसिएशन को द्वैध शासन के कार्यपक्ष पर सम्बोधित किया।[13]

गवर्नर की कार्यकारिणी सदस्य के रूप में नियुक्त किये जाने के बाद सच्चिदानन्द सिन्हा को वित्त और न्याय विभाग का प्रभारी (मंत्री) बनाया गया। वे इस पद पर पाँच वर्षों तक अर्थात् 1921 ई॰ से 1926 ई॰ तक आसीन रहे और अपने कार्यकाल में बिहार को दी जाने वाली सहायता राशि जो अपर्याप्त थी, उसमें काफी वृद्धि की। वित्त मंत्री के रूप में उन्होंने अपनी कार्यकुशलता का परिचय दिया।[14]

सच्चिदानन्द सिन्हा के जिम्मे जेल प्रशासन भी था। राजनीतिक बन्दियों के साथ व्यवहार को लेकर सरकार के साथ उनके मतभेद उभरे। वे नहीं चाहते थे कि जिन लोगों ने असहयोग आन्दोलन में भाग लेकर अपनी गिरफ्तारी दी थी उनके कमर में रस्सा बांधा जाए या उनके हाथों में हथकड़ियां लगायी जाए। इस समय इंस्पेक्टर जनरल ऑफ पुलिस एक अंग्रेज अधिकारी था। उनके छुट्टी पर जाने के बाद सर होर्मुशजी बनातवाला इस पद पर बहाल हुए। वह जोर जबर्दस्ती में विश्वास रखने वाला व्यक्ति था। उसने राजनीतिक बन्दियों के साथ साधारण अपराधी जैसा व्यवहार करना चाहा। सच्चिदानन्द सिन्हा ने उसके व्यवहार को पसन्द नहीं किया। उन्होंने गवर्नर हेनरी व्हीलर से बात की। उन्होंने लोथियन कमिटी के सामने जेलों के ऊपर लोकप्रिय नियंत्रण को स्थापित करने की वकालत की। नि:संदेह जेल प्रशासन में उन्होंने कई सुधार लाये। 1926 ई॰ में उन्होंने वित्त विभाग को अवकाश प्राप्त करने से पूर्व छोड़ दिया।[15]

प्रथम भारतीय वित्त मंत्री के रूप में उन्होंने जिस प्रकार कार्य किया उनकी सर्वज्ञ प्रशंसा हुई। 'पब्लिक पर्श' के अधीक्षक के रूप में वित्तीय अनुशासन और नियंत्रण का उन्होंने सदैव ख्याल रखा तथा उस अवधि में प्रान्त के वित्तीय स्वास्थ्य के सुधार के निमित्त भारत सरकार के वित्त सदस्य सर जी.एफ. विल्सन के समक्ष जब सन् 1910 ई॰ में बजट पर वाद-विवाद हुआ था उसमें उन्होंने अपनी पुरजोर आवाज उठाई। उन्होंने कहा था - 'माई लॉर्ड, प्रान्तीय वित्त का प्रबंधन बिल्कुल मनमाने ढंग से होता है।' उनकी इन्हीं बातों पर सहमती बनी। नि:संदेह सच्चिदानन्द सिन्हा के प्रयास का ही यह फल हुआ कि प्रान्तों का जो हिस्सा एक तिहाई मिलता था, उसे दो तिहाई किया जा सका।[16]

सच्चिदानन्द सिन्हा के जीवन में एक ऐसी महत्वपूर्ण अभूतपूर्व और असाधारण घटना हुई जो न तो किसी अन्य देश में और न ही इस देश की संसदीय प्रणाली में कहीं देखने में आती है। वह घटना थी कि उन्होंने विधान परिषद् की अध्यक्षता और गवर्नर की कार्यप्रणाली परिषद के सदस्यता के दायित्वों और कर्त्तव्यों का निर्वाह एक साथ अपनी अद्‌भुत कार्यशैली, क्षमता और विवेक तथा अद्वितीय व्यक्तिगत गुणों के कारण करने में पूर्ण सफलता प्राप्त की थी। फलस्वरूप पक्ष-विपक्ष दोनों का विश्वास और सम्मान उन्हें मिलता रहा।[17] 1930 ई॰ में उन्हें 'उड़ीसा वाउन्डरी कमीशन' का सदस्य बनाया गया।

सच्चिदानन्द सिन्हा एक योग्य सांसद, विधायक के साथ-साथ एक कुशल प्रशासक भी थे। इसकी बानगी हमें कुलपति के रूप में देखने को मिलती है, जब 1936 ई॰ में उन्हें पटना विश्वविद्यालय का वायस चांसलर नियुक्त किया गया था। इस पद पर वे नौ वर्षों तक कार्य करते रहे।[18] कुलपति के रूप में बिताये उनका कार्यकाल पटना विश्वविद्यालय के इतिहास में स्वर्ण काल कहा जाता है। उनके कार्यकाल के दौरान नयी-नयी वृत्तियाँ (फेलोशिप) देने की व्यवस्था की शुरुआत हुई। वाणिज्य विभाग की स्थापना, तकनीकी शिक्षा की पढ़ाई तथा हिन्दी और उर्दू के मौलिक साहित्य के सृजन की योजना का आरंभ भी उन्हीं के कार्यकाल के दौरान आरम्भ किया गया।19 1937 ई॰ में उन्हें पटना विश्वविद्यालय निर्वाचन क्षेत्र से बिहार लेजिस्लेटिव असेम्बली के लिए चुना गया। 1946 ई॰ में वे पुन: बिहार लेजिस्लेटिव असेम्बली के लिए पटना विश्वविद्यालचय निर्वाचन क्षेत्र से चुने गये। इसी वर्ष वे भारतीय संविधान निर्मात्री सभा में बिहार लेजिस्लेटिव असेम्बली के प्रतिनिधि के रूप में निर्वाचित हुए।[20]

सच्चिदानन्द सिन्हा को राजनीति की अच्छी समझ थी। वे मूलत: नरमपंथी नेता थे। गाँधी जी की राजनीति और आन्दोलनों से वह प्राय: दूर ही रहे। सच्चिदानन्द सिन्हा, अली, इमाम, गणेश दत्त सिंह इत्यादि ने उस समय बिहार के शिक्षित मध्यम वर्ग को नई चेतना देकर एक ऐसा समूह तैयार किया, जिससे

परवर्ती राजनीतिक आन्दोलनों के लिए कृत संकल्प और सुयोग्य नेतृत्व मिल सका। जब कंस्टिट्यूएंट एसेम्बली भारत का संविधान बनाने बैठीं, तो उसके सबसे वयस्क सदस्य होने के नाते वे ही एसेम्बली के सर्वप्रथम अध्यक्ष बने और उन्हीं के सभापतित्व में एक तरह से उनके अनुज राजेन्द्र प्रसाद स्थायी अध्यक्ष चुने गये।''[21]

20 नवम्बर, 1946 ई० को संविधान-सभा का विधिवत उद्घाटन लोकसभा भवन के केन्द्रीय हॉल में हुआ। यह एक ऐतिहासिक अवसर था। देश का भावी संविधान बनाने के लिए जनता के प्रतिनिधि पहली बार एकत्रित हुए थे। इसकी पहली बैठक में 207 सदस्यों ने भाग लिया। इस अवसर पर सर्वप्रथम काँग्रेस के अध्यक्ष, आचार्य जे० बी० कृपलानी ने डॉ० सच्चिदानन्द सिन्हा से संविधान सभा के अस्थायी अध्यक्ष की कुर्सी को सुशोभित करने का आग्रह किया। उन्होंने कहा ''सच्चिदानन्द सिन्हा 1910 ई० से लेकर 1920 ई० तक केन्द्रीय विधायिका परिषद् के सदस्य थे। उन्होंने केन्द्रीय विधान सभा में सदस्य के रूप में 1921 ई० में प्रवेश किया और उसके उपाध्यक्ष चुने गये। उसी समय बिहार में द्वैध शासन के अन्तर्गत बिहार एवं उड़ीसा प्रान्त के एग्जेक्यूटिव कौंसिलर बनाये गये और उन्हें वित्त विभाग सौंपा गया। जहाँ तक मुझे याद है सच्चिदानन्द सिन्हा पहले भारतीय थे जिन्हें किसी प्रान्त के वित्त मंत्री के रूप में कार्य करने की जिम्मेदारी सौंपी गयी। शिक्षा के प्रति उन्हें विशेष लगाव है और उन्होंने पटना विश्वविद्यालय के कुलपति के रूप में आठ वर्षों तक काम किया है। इन बातों से सबसे उपर हम लोगों के बीच वे सबसे पुराने काँग्रेस कर्मी हैं।''[22]

संविधान सभा के अंतिम दिन 24 जनवरी 1950 ई० को संविधान सभा की तीन प्रतियाँ सभा पटल पर रखी गयी। सभा के अध्यक्ष ने सभी सदस्यों से प्रार्थना की कि वे एक-एक करके तीनों प्रतियों पर हस्ताक्षर करें। लेकिन अफसोस की बात थी कि जब संविधान की प्रतियों पर हस्ताक्षर करना था तो उस समय सच्चिदानन्द सिन्हा अपने पटना आवास पर काफी बीमार थे, दिल्ली जाना संभव नहीं था। अतएव संविधान सभा के एक विशेष अधिकारी आर० स्वामीनाथन को उनका हस्ताक्षर प्राप्त करने के लिए राजेन्द्र प्रसाद द्वारा संविधान की मूल प्रति के साथ चार्टर्ड विमान द्वारा पटना भेजा गया।

जगदीश चन्द्र माथुर ने लिखा है कि ''जब राजेन्द्र बाबू स्वतंत्र भारत के प्रथम राष्ट्रपति के रूप में पहले-पहल पटना पहुँचे और उन्होंने सिन्हा साहब के चरण छूकर उनसे आशीर्वाद ग्रहण किया। जो लोग उस समय उपस्थित थे, उनकी आँखों के सामने भीष्म पितामह का चित्र खिंच गया।''[23]

निष्कर्षत: कहा जा सकता है कि सच्चिदानन्द सिन्हा भारत-विख्यात विधानशास्त्री[24] तो थे ही, साथ ही साथ वे एक उच्च कोटि के सांसद, योग्य विधायक एवं एक अनुभवी प्रशासक भी थे। राष्ट्रीय व अन्तर्राष्ट्रीय शासन प्रणाली के विधानों और कानूनों का विशद् ज्ञान और देश के इतिहास व संस्कृति की उनकी गहरी समझ से काँग्रेस के नेतृत्व में उनका अलग एवं विशिष्ट स्थान बना।[25] उनकी यही पहचान अन्ततवोगत्वा उन्हें सांसद, विधायक, मंत्री, प्रशासक के साथ-साथ संविधान सभा के अस्थायी चेयरमैन के पद तक पहुँचाया। वे अस्सी वसंत को पारकर 6 मार्च 1950 को इस संसार से विदा हुए, लेकिन उन्होंने अपने पीछे सामाजिक, शैक्षणिक और राजनीतिक जीवन की एक ऐसी जीवन्त रेखा छोड़ी है, जिसे दिग् दिगंत हर कोई भारतवासी स्मरण करता रहेगा।

शोधार्थी, इतिहास विभाग
श्री कृष्णा विश्वविद्यालय
छतरपुर, मध्य प्रदेश

सन्दर्भ सूची

1. प्रमोदानन्द दास एवं कुमार अमरेन्द्र : बिहार : इतिहास एवं संस्कृति ल्यूसेंट पब्लिकेशन, पटना, 2008, पृ० 280
2. शंकर दयाल सिंह : आधुनिक भारत-निर्माताओं में एक : डॉ० सच्चिदानन्द सिन्हा, के.के. दत्त (सम्पादित) - डॉ० सच्चिदानन्द सिन्हा जन्म शताब्दी स्मारिका, श्रीमती राधिका सिन्हा इन्स्टीच्यूट एवं सच्चिदानन्द सिन्हा लाइब्रेरी, पटना, 1972, पृ० 32
3. प्रशान्त गौरव; बिहार का राजनीतिक इतिहास, पटना, 2006, पृ० 67
4. राम शोभित सिंह; राष्ट्र शिरोमणी सच्चिदानन्द सिन्हा, नोयडा, 2009, पृ० 49
5. शंकर दयाल सिंह; पूर्वोद्धृत
6. बद्रीनारायण सिन्हा, प्रेसिडेंसियल एड्रेसेज डेलिवर्ड एट दि बिहारी स्टूडेन्ट्स कॉन्फ्रेंस (1906-1923), पार्ट, 1931, पृ०-3-4.

7. जे.सी. झा; एस्पेक्ट्स ऑफ दि हिस्ट्री ऑफ पटना कॉलेज, केयामुद्दीन अहमद (सम्पादित), पटना थ्रू द एजेज, 1988, पटना, पृ॰ 25–26
8. द हिन्दुस्तान रिव्यू, मई–जून, 1909
9. एन.एम.पी. श्रीवास्तव, बिहार में राष्ट्रीयता का विकास, पटना, 1998, पृ॰–13.
10. रामशोभित सिंह, पूर्वोद्धृत, पृ॰–46.
11. वही, पृ॰ 50
12. ब्रज कुमार पाण्डेय एवं चित्तरंजन चौधरी, बिहार विधान परिषद् का इतिहास (1912–1950), बिहार विधान परिषद् सचिवालय, पटना, 2012, पृ॰–22.
13. प्रमोदानन्द दास एवं कुमार अमरेन्द्र; पूर्वोद्धृत, पृ॰ 282
14. कृष्ण कुमार सिंह, डॉ॰ सच्चिदानन्द सिन्हा : ए कस्टोडियन ऑफ पब्लिक पर्श एण्ड एन इकोनोमिक थींकर, के.के. दत्त सम्पादित, डॉ॰ सच्चिदानन्द सिन्हा जन्म शताब्दी स्मारिका, पटना, 1972, पृ॰–62.
15. रामशोभित प्रसाद सिंह, पूर्वोद्धृत, पृ॰–47.
16. कृष्ण कुमार सिंह, पूर्वोद्धृत, पृ॰–61.
17. रामशोभित प्रसाद सिंह, पूर्वोद्धृत, पृ॰–48.
18. प्रमोदानन्द दास एवं कुमार अमरेन्द्र; पूर्वोद्धृत
19. रामशोभित प्रसाद सिंह, पूर्वोद्धृत, पृ॰–39.
20. प्रमोदानन्द दास एवं कुमार अमरेन्द्र; पूर्वोद्धृत
21. जगदीश चन्द्र माथुर; ''सच्चिदानन्द सिन्हा : एक जन्मजात चक्रवर्ती'', के॰ के॰ दत्त सम्पादित, डॉ॰ सच्चिदानन्द सिन्हा जन्म शताब्दी स्मारिका, पृ॰ 10
22. कांस्टीच्यूयेन्ट एसेम्बली डिवेट्स, जिल्द–1, दिनांक–09 दिसम्बर, 1946, भारत सरकार, नई दिल्ली
23. जगदीश चन्द्र माथुर, पूर्वोद्धृत
24. शिवपूजन सहाय; ''श्री सच्चिदानन्द सिन्हा'' के॰ के॰ दत्त सम्पादित; डॉ॰ सच्चिदानन्द सिन्हा जन्म शताब्दी स्मारिका, श्रीमती राधिका सिन्हा इन्स्टीटच्यूट एवं श्री सच्चिदानन्द सिन्हा लाइब्रेरी, पटना, 1972, पृ॰ 1
25. हेमन्त, बिहारनामा, बिहार विधान परिषद् सचिवालय, पटना, 2012, पृ॰–29.

वाचस्पति कुमार

संस्कृतकाव्यशास्त्रस्य उत्पत्तित्तिकासयोः कालिदासस्य

कवेः कवित्वम् – संस्कृतकाव्यजगति कवितावनिताया: विलासस्वरूपः महाकविः कालिदासः सरस्वत्याः साक्षाद्वतारः एव। विक्रमादित्यस्य नवरत्नेषु अन्यतमोऽयमस्ति। कालिदासस्य काव्यसौन्दर्य, कलाकौशलं रसिकान् हृदयान् आवर्जयति। महाकवेः काव्य-सौन्दर्य दर्शं-दर्शं सहृदयाः तस्य कला-कौशलं बारम्बारं प्रशंसन्ति। महाकवि-कालिदासस्य काव्येषु प्रयुक्ताः सूक्तयः सहृदयहृदयानां आवर्जकाः सन्ति। विशेषतः कालिदासस्य उपमानां प्रयोगः लोकोत्तरानन्दायकः भवति। अस्य महाकवेः काव्येषु बहूनि वैशिष्ट्यानि सन्ति। यथा-अलंकारप्रयोगे दक्षता, सहज-स्वभाविक-वर्णन-क्षमता, सूक्ष्ममर्मज्ञता, प्रसादगुण-वैदर्भीरीतिसंयुक्तता, रस-प्रयोगे परिपक्वता, इत्यादयः वैशिष्ट्यानि सहसैव रसरसिक-चेतसां चेतांसि चमत्करोति। हर्षचरिते (1/16) बाणभट्टेन उच्यते-

निर्गतासु न वा कस्य कालिदासस्य सूक्तिषु।
प्रीतिर्मधुरसान्द्रासु मञ्जरीष्विव जायते॥

(हर्षचरिते, 1/16)

अलंकारः- 'काव्यशोभाकरान् धर्मान् अलंकारान् प्रचक्षते इति दण्डीवचनेन सिध्यति यत् यथा कामिनी हारादयाभूषणैः सुशोभिता प्रतीयते तथैव कविताकामिन्याः शोभा अपि अलङ्कारैः द्विगुणिता भवति। उक्तमपि-

उपकुर्वन्ति तं सन्तं येऽङ्गद्वारेण जातुचित्।
हारादिवदलङ्कारास्तेऽनुप्रासोपमादयः॥

(काव्यप्रकाशः)

अर्थगाम्भीर्यपदलालित्य-अलंकारयोजनानां सुन्दरसमन्वयः एव काव्यस्यादर्शः। कालिदासस्य काव्ये सर्वेषामेव अलङ्काराणां प्रयोगः कृतः विद्यते। वस्तुतः उपमाप्रयोगविषये अयं कविकुल-गुरुः सर्वोत्कृष्टतां भजते। अतः साधूच्यते-उपमा कालिदासस्य।

उपमायाः स्वरूपम् – का नाम उपमा? कथं चैषा काव्यस्य उपकर्त्री? कथं च एषा सहृदयानां कृते आनन्ददायिनी? एते प्रश्नाः विवेचनीयाः अस्माभिः। एकस्मिन् वाक्ये वस्तुद्वयस्य वैधर्म्यं विहाय साम्यमात्रं चेद् उच्यते तर्हि सा उपमा। अर्थात् प्रस्तुतवस्तूनां अप्रस्तुतवस्तुभिः वैधर्म्यं विहाय साधर्म्यमाध्यमेन या तुलना क्रियते एकस्मिन् वाक्ये सा एव उपमारूपे कथ्यते। एषा उपमा काव्येषु आगत्य तेषु काव्येषु ईदृग्विधान् हृदयावर्जकान् गुणान् जनयति यैः गुणैः पाठकानां श्रोतृणां च मनसि तेषां काव्यानां वारम्वारश्रवणेच्छा जायते। उपमायाः प्रयोगेण काव्ये यद् विशिष्टसौन्दर्यं जायते तेन सौन्दर्येण रसज्ञाः आनन्दम् अनुभवन्ति। रघुवंशमहाकाव्यस्य मङ्गलाचरणे कविना पार्वत्याः वाचा सह सादृश्यं मनोरमं स्थापितम्-

वागर्थाविव सम्पृक्तौ वागर्थप्रतिपत्तये।
जगतः पितरौ वन्दे पार्वतीपरमेश्वरौ॥

(रघु. 1/1)

अयं श्लोकः उपमायाः मनोभावनं उदाहरणम् अस्ति। अस्मिन् श्लोके पार्वती-शङ्करयोः प्रार्थयन् महाकविकालिदासः स्वमहाकाव्यस्य रघुवंशस्य समारम्भं करोति। पार्वती शङ्करश्च तथैव एकरूपौ दृश्येते यथा शब्दार्थौ परस्परं एकरूपौ दृश्येते। यथा शब्दार्थौ परस्परं संश्लिष्टौ वर्तते तथैव पार्वतीशङ्करौ अपि। अत्र शब्दार्थै उपमानरूपेण, भवानीशङ्करौ च उपमेयरूपेण वर्तते। विश्वनाथानुसारम्-साम्यं वाच्यमवैधर्म्यं वाक्यैक्य उपमा द्वयोः (सा. दर्पण. 1/14) एकस्मिन् वाक्ये वस्तुद्वयस्य वैधर्म्यं विहाय साम्यमात्रं चेद् उच्यते सा उपमा। कालिदासस्य काव्ये उपमालङ्कारस्य समावेशोऽनायास एव भवति। तस्य उपमा विश्वप्रसिद्धा विद्यते। उक्तमपि-

उपमा कालिदासस्य भारवेरर्थगौरवम्।
दण्डिनः पदलालित्यं माघे सन्ति त्रयो गुणाः॥
(सु.र.भ. 37/63)

संस्कृतसाहित्याकाशे उपमायाः प्रयोगसम्बन्धे कालिदासस्य महती ख्यातिः। यथा-

उपमैका शैलूषीव सम्प्राप्ता चित्रभूमिका भेदात्।
एजयन्ती काव्यरङ्गे नृत्यन्ती तद्विदां चेतः॥

महाकवेः काव्यसौन्दर्यं दृष्ट्वा सहृदयाः तस्य कला-कौशलं वारम्वारं प्रशंसन्ति। महाकविकालिदासस्य काव्येषु प्रयुक्ताः सूक्तयः सहृदयहृदयानां आवर्जकाः सन्ति। 'महाकवि बाण' नाम काव्यरसिकेन तु तस्य सूक्तिषु मञ्जरीणां मादकता अनुभूता, मुक्तहृदयेन च हर्षचरिते प्रशस्ताः-

निर्गतासु न वा कस्य कालिदासस्य सूक्तिषु।
प्रीतिर्मधुरसान्द्रासु मञ्जरीष्विव जायते॥
(हर्षचरिते)

दीपशिखा-कालिदासः-रघुवंशमहाकाव्ये इन्दुमत्याः स्वयंवरावसरे पतिंवरायाः इन्दुमत्याः उपमा महाकविना सञ्चारिणी दीपशिखया सह प्रदत्ता। अनया उपमया तु कविकुलशिरोमणिः एषः दीपशिखा कालिदासः इति प्रसिद्धिमवाप।

सञ्चारिणी दीपशिखेव रात्रौ यं यं व्यतीयाय पतिंवरा सा।
नरेन्द्रमार्गाट्ट इव प्रपेदे, विवर्णभावं स स भूमिपालः॥
(रघु. 6/67)

अनेन उपमाप्रयोगसौन्दर्यणैव कालिदासः 'दीपशिखा कालिदासः' इति कथ्यते।

उपमा कालिदासस्य - अस्य कविप्रवरस्य कृतिषु उपमाप्रयोगस्थलानि शतशः सन्ति। सर्वाधिक्यं तु उपमाप्रयोगस्य रघुवंशमहाकाव्ये दृश्यते। तस्या उपमाश्चतुर्धा विभाजितुं शक्यन्ते। 1. शास्त्रीय-उपमा, 2. मूर्तस्य-अभूर्तत्त्वेन साम्योपमा, 3. प्रकृति-सम्बद्धाः उपमा, 4. विविधविषयसम्बद्धाः उपमा।

(1) शास्त्रीय-उपमा - वस्तुतः कालिदासस्य विविधानां शास्त्राणां ज्ञानं महद् आसीत्। अनेन यज्ञ-दर्शन-ज्योतिष-वेद-व्याकरण-राजनीति - विद्यादि अनेकशास्त्रसम्बद्धाः उपमाः प्रयुक्ताः। सा शास्त्रीय-उपमा। यथा वेदविषयका इयं उपमा वर्तते -

आसीन्महीक्षितामाद्यः प्रणवश्छन्दसामिव (रघुवंशे)

रघुवंशस्य प्रथमाध्याये कविना उक्तम्। यत् मनुः तथैव नृपाणां अग्रगण्यः बभूव यथा मन्त्राणां प्रणवः ओङ्कारः अग्रगण्यः अस्ति।

(क) यज्ञविषयकाः - अभिज्ञानशाकुन्तस्य चतुर्थेऽङ्के महर्षिकण्वस्य अस्यां उक्तौ कवेः यज्ञविषयकं ज्ञानं प्रतिभाति, उपमा च अतीव मनोरमा सञ्जाता -

दिष्ट्या धूमाकुलितदृष्टेरपि यजमानस्य पावक एवाहुतिः पतिता। (शाकु. अंक 4)

(ख) दर्शनविषयकाः - यथा बुद्धेः कारणम् अव्यक्तं मूलप्रकृतिर्वा, तथा सरयूनद्याः कारणं मानसं सरः।

ब्रह्मं सरः कारणमाप्तवाचो बुद्धेरिवाव्यक्तमुदाहरन्ति।
(रघु. 13/60)

अस्मिन् श्लोके कविः सांख्यदर्शनस्य सिद्धान्तस्य वर्णनं कृतवान्। अव्यक्ताद् बुद्धिः जायते। बुद्धेः अहंकारः, अहंकाराद् अन्ये पदार्थाः जायन्ते। अव्यक्तमेव जगतः मूलकारणं वर्तते।

(ग) ज्योतिषविषयकाः - एवमेव दुर्वाससः शापस्य अन्ते शकुन्तला कथं दुष्यन्तेन सह मिलिता इति उपमा माध्यमेन कविः एवं कथितवान् -

उपरागान्ते शशिनः समुपगता रोहिणी योगम्।
(शाकु. 7/22)

अर्थात् यथा चन्द्रग्रहणानन्तरं रोहिणी शशिनम् उपैति तथैव शकुन्तला दुष्यन्तमुपगता।

(घ) वेदविषयकाः यथा -

आसीन्महीक्षितामाद्यः प्रणवश्छन्दसामिव।
(रघु. 1/11)

रघुवंशस्य प्रथमाध्याये कविना उक्तं यत् मनुः तथैव नृपाणां अग्रगण्यः बभूव यथा-मन्त्राणां प्रणवः-ओङ्कारः अग्रगण्यः अस्ति।

(ङ) व्याकरणविषयकाः यथा -

अपवाद इवोत्सर्गं व्यावर्तयितुमीश्वरः।। *(रघु. 15/7)*
पश्चादध्ययनार्थस्य धातोरधिरिवाभवत्।। *(रघु. 15/9)*

व्याकरणशास्त्रे अपवादः उत्सर्गं बाधते तथैव कुमारशत्रुघ्नः संग्रामे लवणासुरं बबाधे। 'अधि' उपसर्गपूर्वक 'इङ्' धातोः अध्ययनार्थकात् यथा शोभाकृद् व्यर्थश्च तथा शत्रुघ्नेन समं सेना शोभाकृद् व्यर्थश्च स्यात्।

(च) राजनीतिविषयकाः - शक्तित्रयं (प्रभाव-मन्त्र-उत्साह) यथा अक्षममर्थं सूते तथा सुदक्षिणा पुत्रं रघुम् असूत। एवं वाल्मीकि - आश्रमे सीता लवकुशौ तथैव अजनयद् यथा क्षितिः सम्पन्नौ कोशदण्डाविव।

असूत पुत्रं समये शचीसमा त्रिसाधना शक्तिरिवार्थमक्षयम्।
(रघु. 3/13)

सुतावसूत संपन्नौ कोशदण्डाविव क्षितिः।
(रघु. 15/13)

(छ) विद्याविषयकाः - विद्या यथा अभ्यासेन चकास्ति तथा नन्दिनी सेवया प्रसादनीया। एवं च दुष्यन्तपरिणीता शकुन्तला सुशिष्यप्रदत्ता विद्येवाशोचनीयाऽभूत्। यथा -

विद्यामभ्यसनेनेव प्रसादयितुमर्हसि।। *(रघु. 1/88)*

सुशिष्यपरिदत्ता विद्येवाशोचनीयाऽसि संवृत्ता।
(अभि.शाकु. अंक-4)

(ज) मनोवैज्ञानिकीविषयता - यथा -

गच्छति पुरः शरीरं धावति पश्चाद् असंस्तुतं चेतः।
चीनांशुकमिव केतोः प्रतिवातं नीयमानस्य।।
(अभिज्ञा.शा.)

यदा दुष्यन्तः आश्रमवासिनां कष्टापनोदनकरणार्थं सखीशकुन्तलातः पृथग् भूत्वा तपोवनं प्रतिगच्छति, स वदति मम शरीरं तु अग्रे याति परन्तु मनस्तु माम् अपरिचितं मत्वा पश्चादेव धावति यथा चीनांशुकं यद् वायोः विपरीतदिशायां बलाद् नीयमानेऽपि पश्चादेव पलायते। उपमा इयं कवेः मनोवैज्ञानिककल्पनायाः चरमोत्कर्षो विद्यते।

(2) मूर्तस्य-अमूर्तत्त्वेन साम्योपमा - कविकुलगुरु-कालिदासः प्रायशो मूर्त्तस्य मूर्तत्त्वेन साम्यं प्रदर्शयति। क्वचिच्च मूर्त-अमूर्त, सजीव-निर्जीव, भाव-अभावपदार्थेन औपम्यं प्रतिपादयति।

(3) प्रकृति-सम्बद्धाः उपमा - महाकविकालिदासस्य अभिज्ञानशाकुन्तलं तु ईदृशीनां उपमानाम् आगारमेव विद्यते। यथा-ललनाललामभूतां शकुन्तलां वीक्ष्य दुष्यन्तः कथयति -

अधरः किसलयरागः कोमलविटपानुकारिणौ बाहू।
कुसुममिव लोभनीयं यौवनमङ्गेषु सन्नद्धम्॥
(शाकु. 1/21)

अत्र शकुन्तलायाः अधरस्य उपमा नवपल्लवरागेण सह प्रदत्ता, तस्याः बाहुयुगलस्य उपमा कोमलेन शाखाद्वयेन सह प्रस्तुता, तस्याः शरीरावयवेषु या युवावस्था विराजते सा तु नवकुसुममिव मनोहरं रमणीयञ्च वर्तते।

शोध छात्र, संस्कृत साहित्य
के.एम. यूनिवर्सिटी, मथुरा

Research Paper

Kusum Jha*

Women as Custodians of Living Epics: Mithila's Ramayana Traditions within the Indian Knowledge System

Abstract

The Ramayana is more than just an old story–it is a guide to ethical living and a reservoir of cultural wisdom that continues to shape societies across South Asia. Within this expansive narrative, Mithila holds a special place as the land of Sita, whose life symbolises dignity, resilience, and self-sustainability. For the women of Mithila, Sita is not merely a mythological character but a cultural archetype embodying ecological harmony, patience, and inner strength. Her story provides enduring models for navigating adversity while upholding self-respect, dharma, and communal well-being.

This paper explores how the ethical and ecological lessons of Sita are preserved and transmitted through Mithila's living traditions–folk songs, rituals, and Madhubani paintings–situating them within the broader framework of the Indian Knowledge System (IKS). Ritual songs such as Parichhan and Bidāī geet transform personal rites of passage into ethical pedagogy, while visual representations in Madhubani art function as texts of moral instruction. Scriptural references from the Vālmīki Rāmāyaṇa, Rāmcharitmānas, and Mithila Ramayan reinforce Sita as the "ideal of strī-dharma," praised by Tulsidas for her purity and fortitude.

Through interpretative and sociological analysis, this study foregrounds women as custodians of living epics, linking Sita's ethical model with contemporary debates on gender, dignity, and sustainability. Madhubani artists such as Dulari Devi, Rani Jha, and Manisha Jha demonstrate how traditional art evolves to incorporate feminist reinterpretations while maintaining continuity with cultural memory. Global dissemination of these traditions–through diaspora songs and international exhibitions–demonstrates how Mithila's Ramayana heritage contributes to universal discourses on ecological ethics, gender justice, and cultural sustainability.

Keywords: Sita; Mithila; Ramayana; Indian Knowledge System; Madhubani painting; folk songs; women's cultural heritage; sustainability

1. Introduction

This is because the Ramayana has always been considered as a textbook that would cut across borders of religion and address some questions of duty, morality and justice which would universally resonate. It is also a document of artistic creativity, not just of theology, but a historical record of a library

of social practices, oral traditions, and expressions. Mithila (between northern Bihar and southern Nepal), is identified as a hub within this epic and is glorified as the home of Sita. These rituals, music and discoveries of the region place Sita not once as a divine being, but as an ethical guide to the women, an embodiment of values of quality, environmental consciousness and manoeuvrability. For centuries, women of Mithila have served as custodians of this artistic memory, transmitting the assignments of the Ramayana through oral traditions similar to marriage songs (parichhan, bidāī geet), ritual performances, and the famed art form of Madhubani Paintings. In such practices, Sita undergoes the ordeals and passages to be saved as duties in the present-day living. Marriage to Ram, exile in the timber and fire by fire are more than mere events of myth, but are seen as models of moral conduct and the eco-friendly existence. In this paper, we take a sociological approach, placing Ramayana traditions of Mithila in the context of the Indian Knowledge System (IKS) that points to the holistic unity of textual, oral, ritual, and ecological knowledge. It states that such traditions cannot remain in one place they develop and evolve with reinterpreting and preserving the ethical essence. Similarly, these traditions spread internationally - both via practising diasporas and via transnational exhibitions such traditions expose the ability of original women voices to enter into international debates on gender, justice and sustainabilities.

2. Research Methodology

The paper is a cross-method approach that reduces to both text analysis of the sources of Ramayana and conducting the field work in the village of Ranti, Madhubani in Bihar. The population list of explorations featured 50 women aged 18 to 40, called deliberately because they took part in the activities of folk songs, rituals and painting traditions.

Styles employed include

Semi-structured interviews and vocalizers can be stressed: women artists and vocalizers will be asked to share their lived experiences in semi-structured interviews.

- Quasi-participant observation: Intensive participation in marriage rites and song performances.
- Case studies: documents of such artists as Dulari Devi and Manisha Jha.
- Audio records Collection of Parichhan and BidaIsongs to interpret.
- Analytical examination Closure reading of Vantali of the visionary Rama works, Rama two and a half chrantis, Ramacharitmana, and Rama Mithila.

The analysis of data was connected to the style of quantitative (percentile representation of women's places) and quantifiable (qualitative interpretation) data analysis; the combination of a story and the symbolic meaning became dominant.

3. Scriptural Foundations & Ethical Assignments

The foundation of Mithila's Ramayana traditions lies in the authority of scriptural textbooks, which give both ethical guidance and ecological knowledge. The character of Sita has come out as an ethical role model in several textbooks - Valmiki Ramayana, Ramacharitmanas writings of Tulsidas and the orally transmitted Mithila Ramayana. These textbooks enlighten the songs, rituals, and pictorial tales practised by Mithila ladies, enabling them to store, renegotiate and delegate the Sita task force over several generations.

Vālmīki Rāmāyaṇa

The Valmiki Ramayana is the epic that grounds the plight of Sita as being highly iconic, as we connect the earthly life to ecological and social responsiveness. She arises of the ground itself, and pressing the saint ship of natural wallets, and the moral injunction to cover them.

''जनकस्य तु धर्मात्मा क्षेत्रे लब्धा महीतले।
तस्मात् सीतेति नामास्या दत्तं क्षेत्र जमात्मना॥''

(Bālakāṇḍa 66.15)

"She was discovered on the earth itself in the sphere of King Janaka, the righteous soul. Because she was born of the crinkle, she was given the name Sita."

This verse conveys multiple layers of meaning

1. Ethical Sita embodies virtue (dharma), emphasising that moral excellence is thick from one's social and domestic liabilities.
2. Ecological Being born from the crinkle, she

symbolizes mortal dependence on the earth, buttressing sustainable agrarian practices as a sacred duty.

3. Social Her identity as Janak's son establishes her part in upholding the honor and ethical frame of Mithila. Other events, just like the exile of Sita and Nianaka Agnipariksha, bring out flexibility, following dharma when there is hardship and ethical choice. Those stories provide an example of how ethical reasoning works with virtue subtly as one has to survive or fail a test on the morals by making difficult decisions or merely performing ritualistic actions..

Rāmcharitmānas

Tulsidas, in his R 2 anaware Mahakavya (Ramscharitm teaches) gives women greater stature amplifying Sita as an embodiment of womanly virtue, providing a subtle sensitivity to stri-dharma. Modesty, tolerance, moral courage, are rated, treated by her also as having the most important place in harmonious life.

''जननी सम सखी सुह्रद नारी।
सब सन प्रिय बिगत अहंकारी॥''

(Ayodhyākāṇḍa, Doha 121)

(" Like a mama, a friend, a confidant, a woman should be dear to all, free from pride.")

The verse emphasises

- Relational ethics A woman's conduct impacts family, society, and godly order.
- Moral civilisation Pride-free living and service to others are central merits.
- Integration with diurnal life, Ethical ideals aren't abstract but practicable within domestic and social spaces.

Tulsidas also emphasizes on the smartness and insights of Sita. To give an example, she chooses to be treated by Ram in exile when proved ethical courage and the act of choice, not mindless obedience. Similar delineations support that moral agency and adherence to dharma are intertwined, furnishing a template for both women and men in ethical decision-making.

Mithila Ramayan

The Mithila Ramayan, which is orally spread in maithili, localises the story of Sita and mediates between the archetypes of the god and the culture of the encouraging locals. Then, Sita is constantly appertained to as Maithilī Putrī, emphasising her identity as both the son of Janak and a representative of Mithila's ethical and ecological values.

''सिया रहली जनकपुर के गहना,
राम संग बंधली जीवन के पथ धेनना।''

"Sita remained the jewel of Janakpur, binding her life's path with Ram.")

This oral tradition emphasises

- Regional identity Sita's ethical and social gesture reflects the values of Mithila, making the original culture thick from scriptural ideals.
- Folklores: Folk songs drawn in the version of Ramayan teach the young women the principles of flexibility, excellence and associated ethics.
- Durability and adaption As oral narratives, these stories evolve, incorporating contemporary social and ecological enterprises while maintaining core ethical assignments.

The Mithila Ramayan frequently elaborates on occurrences that are compactly mentioned in Sanskrit textbooks, similar to

- Agripadhyay, Madhukala, Murthika: Agrarian, tutoring and nature.
- Interconnection with original townies, depicting social ethical behavior and working together.
- Problems of ethics in exile, with some practical tips on how to make decisions when faced with limited options.

These stories make Sita a universal and original model of morality, uniting divine formulas with the lived practice.

Her story teaches about the idealism and roles of an ethical gesture. Ecological mindfulness and social responsibility are thicker. Ethical, Social, and Ecological Integration Across these textbooks, the assignments from Sita's life can be distributed as

1. Ethical tolerance, courage, adaptability, moral attachment, and relational responsibility.
2. Family honour, a social honour, positive community, respecting elders and being socially responsible.
3. Ecological Reverence for the earth, sustainable use of coffers, and harmony with nature.

By integrating textual knowledge (śāstra) with original oral and visual traditions, Mithila women embody and transmit these assignments, icing that the ethical, social, and ecological confines of Sita's life remain alive and applicable.

4. Sita – Rama Vivāh and Folk Songs

Marriage to Ram or guarded with the purpose of Sita, or Sita and Ram Vivāh is one of the central plots of Mithila artistic and moral imagination. In addition to a religious celebration, it is a pedagogical instrument passing moral, ecological and social values over generations. Women in Mithila construct the

ethical geography almost hand-crafted by way means of songs, gestures, and participating together, and they carry out missions of quality, versatility and relational duty. The Vivah is a source of reflection, interpolation and internalisation of all the life and merits of Sita in original communities.

Parichhan Songs

Parichhan means ritual medicine of bridegroom during the days before marriage. In this time of the year, women come together in order to sing songs that contain festivity, teachings, and moral teachings. These songs are also addressed to the bridegroom advising her to the social and moral opportunities of married life.

One typical song of the Parichhan community is a song that talks of advantage, learning, and co-operative duty.

''सुनू सखी सिया के तोर रूप गुन बखान।
जनकपुर के गौरव तू, राम संग करब विद्यान॥''

(" hear, friend, your beauty and virtue are praised, you're the pride of Janakpur, joining knowledge with Ram.")

Subsequently the song connects physical beauty with being responsible in ethics thereby depicting the harmonization of aesthetic, moral and social values. The implication is that the behaviour of the bridegroom is not just the character by itself, but the honour of the family of origin and this unites the issues of ethics on individual levels in the collective identity.

A second Parichhan song teaches tolerationality, adaptability of emotions, and of empathy.

''धीरज राखब बेटी, घर-गृहस्थी में सजग,
राम संग जीवन बितायब, ज्ञान अउर सेवा संग।''

(" Maintain tolerance, son, be watchful in ménage duties, live life with Ram, combining knowledge and service. ")

Strri-dharma here is stressed not as Incident commanding submission, but as a form of positive moral action - keeping a balance between duty, wisdom and relationship harmony. As a carrier of oral tradition, women elders apply these songs to instill practical ethics, social awareness and emotional intelligence in young-ish generations.

Bidāī Songs

Bidāī is the parting of the bridegroom out of her birth homes to her husbands homes. This ritual with emotional coloring is transformed into a pedagogical part with help of song. Women also teach through Bidāī songs, which teach about flexibility, self-sacrifice and longevity of the marital and social ties between women and men, turning sorrow to ethical contemplation.

A poignant illustration

''सिया गेले अयोध्या, जनकपुर रोइ रोइ टोर,
बेटी विदाई के बेला, हृदय केल जलधार।''

(" Sita departs for Ayodhya, Janakpur weeps; in the moment of farewell, the heart becomes a flood tide of gashes.")

This stanza sums up the two sides of specific loss and intergenerational memory. Separated emotionally by the bridegroom, but set down by a song as a task in adaptability, responsibility and ethical behavior. The community is in a manner included in grieving and celebration, Strengthened values and sustainability of moral norms. Another Bidāī song highlights social duties and relational ethics

''माँ-बाप के आशिर्वाद संगी,

घर–गृहस्थी में करब सजीव
सिया के राह देखत रहल,
धर्म अउर मर्यादा संग चलब।''

("With the blessings of parents, you shall live completely in your connubial home, following Sita's path with dharma and propriety.")

Then, Sita functions as a living ethical template. Even her gestures, exile, abidance and moral attachment, are transformed into useful lessons to young misters coming to new households.

Symbolism and Ethical Pedagogy

It is densely emblematic in the songs that are sung at Vitraen rituals. The commitment into singing is an ethics-inclusive performance embedded in the exercise of memory in that way, yes even to the illiterate. With the help of conceit and narrative, other merits similar to tolerance, bravery, and relationship balance, are unraveled in the ritual cloth.

For illustration

- Flowers and beautifiers said in songs stand as symbols of chastity and moral loveliness.
- Allusions to Janakpur and Ayodhya tie specific behaviour to native and celestial order.

His use of imagery of gutters, timbers as well as hearthstones places the women in the ecological and domestic networks which is the case of integrating ethics and eco-system.

Intergenerational Transmission

Women take a pivotal role as art transmitters. maters, aunts and older women guide the misters through the songs, give meanings, show gestures and provide content to the narratives. This inter-generational trade is durable, and the assignments of assignments are to be adapted to the modern environment, keeping ethical cores. As an example, in ultramodern marriages, Parichhan and Bidadai songs can give allusions to education, financial independence and ecology, expressing new social realities devoid of any ramific bond to tradition.

4.5 Modern Adaptations

Vivah songs though based on tradition are not fixed. Mithila artists and communities living today also modify lyrics and melodies to suit contemporary problems like gender equalities, concerns around the environment and women education. It is the spread of these songs and their easy access through the digital media that has made the diaspora communities to maintain and pass on ethical and cultural knowledge even beyond the continent where they once worked. There are videos, on-line tutorials and recordings that make sure that the pedagogical lessons of Sita and ethical can and does serve as the same beyond the geographic reach of Mithila.

4.6 Ethical, Social, and Ecological Integration

Ethical education and social and environmental awareness could never be separated by that means:

- *Ethical:* Brides are taught resilience, relational responsibility and humility.
- *Social:* Songs affirm communal cohesion, elders and memory of origin.
- *Ecological:* Participants get in touch with the natural world by references to gardens, rivers, and agricultural cycles, leading them to understand the issue of human dependence on and responsibility to the natural world.

This integration is a typical example of the Indian Knowledge System (IKS) in which an integration happens among ritual, ethics, and ecology, not segmented into separate parts, and shows them to be holistic pedagogical entities.

Table 2 : Types of Folk Songs in Mithila Ramayana Traditions

Song Type	Context	Ethical Theme
Parichhan	Pre-wedding preparation	Ideal wifehood, dignity
Bidāī	Farewell after marriage	Sacrifice, resilience
Vivāh geet	During wedding rituals	Harmony, dharma, collective joy

5. Character of Shri Ram

Although Sita stays at the heart of the cultural and ethical imagination of Mithila, Shri Ram holds a kind of complementary position concerning rectitude and earnestness as imposers of seen morals and moral accountability, in personal conduct and an exemplary role in guiding others. Traditions of Mithila also do not just look at Ram as a model husband (Maryādā Puruṣottam), son-in-law (jāmātā) .His virtues play a vital role in the comprehension of the ethical system under which Sita goes.

The Vālmīki Rāmāyaṇa describes Ram as:

" रामो विग्रहवान् धर्मः'' (Ayodhyākāṇḍa 109.11)

("Ram is the embodiment of Dharma itself.")

At Mithila, songs and folklore often indicate how Ram obeyed dharma, honored Janak, and how ethically he treated Sita. Marriage as a union on the basis of scholars and ethical devotion is made and displayed in wedding songs, where the good attributes of the groom are brightened with the good assets of the bride.

The oral traditions of Mithila describe Ram as a person who is sensitive to ecological and social backgrounds as well. The sources of memory about him include the fact that he respected trees even in exile, he was kind to sages and community, and he taught peace between nature and man. Through the comparison of the physical strength of Sita and ethical path of Ram, Mithila traditions introduce the audience to the image showing their marriage as the harmony of masculine and feminine qualities, in which dharma, humanity, and environmental caring meet.

By the duality, a complete ethical pedagogy is provided by the Ramayana as practised in Mithila. It is the tenacity and humanitarianism of Sita that one learns through women and the pleasure in his character of restraint, limiting justice and consequentiality which is seen in Ram and emulated by men. Collectively, their stories provoke the outlook of social ethics that are intrinsically gender-inclusive, but arguably eco-conscious..

6. Madhubani Painting Analysis

Also called Mithila metalwork paintings The Madhubani / Meithili paintings, also called Mithila art, is a traditional visual art system originating in northern Bihar and southern Nepal. Historically trained by women, this art is both an expression and repositorium of moral, ecological, esthetic wisdom. Madhubani paintingss in the ambiance of Ramayana traditions by Mithila serve the function of textual books, establishing the lives of Sita and Ram, inculcation of morals, and reinforcement of the collective memory. Traditional Themes

Madhubani Paintings portrays important events in the life of Sita and in the Ramayana. Such workshops can present not only the illustration of narratives but also pass the ethical, social, and ecological tasks.

1. Swayamvara of Sita

Praises the agency of Sita in selecting Ram which lays stress on virtue, perceiving, and ethical judgment.

May often be associated with peacocks, lotus flowers and decorated halls, references to beauty, chastity and content.

As a kind of tutoring in the mind of young girls, insisting on the importance on virtue, learning and judgment in their life decisions.

2. Sita in Exile

- Shows individuals to be flexible and morally upright around difficult situations.
- Ecological perceptivity and harmony with nature Goods Natural rudiments, such as trees, gutters and creatures are highlighted.
- Transfers tasks of tolerance, rigidity, and moral in weary circumstances.

3. Agnipariksha

- Rep means the Sita ordeal by fire so as to establish her purity and good morals.
- Refers to morally binding, integrity, and the victory of the good over the mistrustfulness of the society.
- Promotes contemplation of moral issues, specific accountability and bravery.

Common motifs The lotus flower, fish, callings, and geometric bords are used as conventional ones with an emblematic meaning. The lotus signifies chastity, fish signify fertility and substance and catcalls signify alert and spiritual freedom. With all these images, the onlooker assimilates both ethical and social values as well as enjoying ecological interconnection.

Contemporary Artists

Ultramodern Madhubani artists reinterpret traditional narratives to engage with current social, ecological, and feminist enterprises.

• Dulari Devi

* Focuses on the Ram – Sita marriage as a collaborative festivity of ethical cooperation.
* Uses bright colors and intricate patterns to punctuate collaborative joy and social cohesion.
* Knows the classic manners with references to the ethical and social motifs.

• Rani Jha

* Brings feminist views, and the character of Sita

can be depicted as an active, not a submissive character.

* Such things as choosing to be resistant and autonomous despite patriarchal readings of the epic.
* Integrates contemporary social commentary on gender equivalency into visual narratives.

• Manisha Jha

* Revision of Sita to ecological protector, with use of timbers, gutters, catcalls and foliage, in big colour.
* Highlights the interdependence between nature and how individuals live.
* Designs pedagogical instruments between tradition, sustainability, and women agency.

Socialism and Pedagogy

Madhubani Paintings can be considered as a multistrata teaching instrument. They pass ethical, ecological and social information through visual liar.

• Colors

* Red signifies vitality, heroism and loaded marital joy.
* Green stresses increase and produce and nature.
* Yellow is understood to be the knowledge, wisdom and good omen.

• Motifs

* The Geometric capitals represent order, structure and reflect social and cosmic harmony.
* Creatures, catcalls, and trees break ecological thoughtfulness and death-terrain interrelatedness.

Even the very activity of the painting can be described as pedagogical. During carnivals, marriages and religious ceremonies, women jointly create showpieces and paintings, and therefore impart knowledge across the generations. Internship in families retains ways, motives and emblemic elucidation, consolidating the steadiness of ethical, artistic and ecological decifers.

Eelaboration and International distribution.

Madhubani paintings have grown beyond traditional walls to trans-national galleries, shops and exhibitions.

U.S., U.K., Mauritius etc Diaspora communities introduce pictures about the life of Sita in the combination of aesthetical beauty and ethical and ecological stories.

- digital platforms taught application of paintings by contemporary artists as well as disseminating stories in the domain of ethics, icing conservation and international coverage.
- transnational exhibitions assemble Madhubani art in the context of universal debates of women agency, sustainability and ethical liar.

By these developments, the tradition of the Madhubani paintingss has survived to depict how the women as bearers of the grand discourse habituate their discourses to ultramodern social, ecological, and global environments.

Integration with Indian Knowledge System(IKS)

Madhubani paintingss depict the IKS principle on a whole.

• Śāstra (Book) paintingss depict narratives from Vālmīki Rāmāyaṇa, Rāmcharitmānas, and Mithila Ramayan.

• Smṛti (oral tradition) Songs and stories guide the definition of events, symbols, and motifs.

• Ācāra (ritual practice) paintingss are frequently created for carnivals, marriages, and religious observances.

• Prakṛti (ecology) Flora, fauna, and natural rudiments convey sustainability and ecological ethics.

This is in evidence of the fact that visual art becomes a repository of ethical, ecological, and artistic relay that supports the integrated epistemology of Indian Knowledge Systems.

Table 3 : Selected Madhubani Paintings

Artist	Title of Painting	Dimensions	Theme/Interpretation
Dulari Devi	Sita–Ram Vivah	30×40 inches	Celebration of collective joy
Rani Jha	Sita in Exile	36×48 inches	Feminist reinterpretation
Manisha Jha	Sita as Earth Mother	48×60 inches	Ecological symbolism

7. Sociological propositions & Interpretations

Functionalism

Rama traditions in Mithila can be anatomized with various sociological perspectives to see its continuity, elaboration and its pedagogical role.

According to the functionalists, rituals, songs and paintings are means to cohesion in the society. They pass across ethical morals, uphold gender places and create permanence between generations. In case,

Parichhan and Bidai songs are these companion songs who discusses the appropriate behavior and accompanyings powerful on a transitional change in life and idealizing cooperative moral fabrics..

Emblematic Interactionism

In emblematic interactionism, the highlighted types are the participated meanings embedded in daily actions. In Mithila, movements in ritual songs, patterns in paintingss and signs of mournment or happiness in weddings are signs that are understood by other acts elsewhere. To use the example, the Bid with Bidaki song turning of individual emotion to group tutoring or buttification of social meaning of flexibility, sacrifice and quality.

Feminist Sociology

The key role of women as guardians of these traditions is a challenge to formalise the patriarchal set-ups. Through sustaining, practicing and establishing these art forms, Mithila women make claims of agency in product of knowledge. It is important to mention that the issues of womanish labor, creativity and moral authority warrant attention in the work of these people, as they contribute to the maintenance of the collective memory.

Postcolonial Feminism

Mithila women participate as well in postcolonial feminist reconnection of Sita. social discourses often construct Sita as unresistant or subservient when earlier traditions show her as active, elastic, and immorally independent. The oral and visual tradition enables women to gain control of the artistic power and unite the lived experience to the scriptural ideals and defy the reading of the women that are evaluated externally.

Table 4 : Sociological Lenses on Mithila Ramayana

Sociological Theory	Insight	Applied to Mithila Ramayana Traditions
Functionalism	Maintains social harmony	Through ritual pedagogy
Symbolic Interactionism	Symbols carry shared meaning	Sita–Ram symbols teach dignity and resilience
Feminist Sociology	Women as cultural agents	Women act as agents of cultural continuity
Postcolonial Feminism	Resists external domination	Localized reinterpretation resists external impositions

8. Global Applicability & IKS Perspective

Mithilan Ramayana country folk traditions have become transnational, an example of how park of the rigidity and universal nature of the original systems of knowledge.

- Diaspora Communities
- In the United States, Mauritius, Trinidad, and Fiji Maithili diaspora Maithili speaking people still perform the Parichhan and Bidadai songs at marriages. These practices are artistic anchorages and maintain some ethical training, and social cohesion actually outside of the original geographic milieu. The most regular participants of such performance are diaspora women who continue playing the role of custodians but adjusting lyrics, warbles, and ritual behaviors to the novel social and ecological environments.
- International Exhibitions

Madhubani paintingss with images in the life of Sita have been exhibited encyclopedically and can be seen in the Crafts Museum, New Delhi, to the British Museum, London and the art gallery centers of New York. These displays interlude the aesthetic, ethical and ecological imprisonments of Mithila art, pushing original female knowledge into international discourses on sustainability, gender justice and art history.

- Indian Knowledge System(IKS) Perspective

From the IKS standpoint, Mithila's Ramayana traditions represent integrated epistemology Śāstra (scripture): Ethical and ecological knowledge drawn from texts.

- Smṛti (oral tradition): Transmission through songs and narratives.
- Ācāra (ritual practice): Embedding ethics in life-cycle events.
- Prakṛti (ecology): Respect for the environment as an ethical imperative.

The example of Sita born of the earth, protecting both natural and social ecosystems, and the pedagogical application of songs and paintings embodies the harmonious unity of ethics and ecology and cultural knowledge, which are the main characteristic of IKS.

9. Conclusion & Counteraccusations

This article shows that Ramayana traditions of Mithila are not fixed bones as much as they are living epistemologies. By means of songs, rituals, and paintingss, women preserve and transform the qualitative, adaptive and ecological custodianship that is bestowed upon them by Sita in her assignments.

The marriage between Ram and Sita has become an example of a moral collaboration, strengthening the sense of collective respect, ethical duty, and community by training.

The social processes underlying the traditions, as they emerge through sociological analysis, include how the structures of social life, the memory of art and the empowerment of women as creative and ethical agents are perpetuated. Functionalist views accumulate their role in social cohesion; emblematic interactionism focuses on readings behind ritual acts and visual imagery, feminist and postcolonial perspectives admit the role that women work in preserving and reconstituting knowledge.

The wide-spreading nature of the knowledge of Mithila across the world shows the universality of local knowledge. These practices are practiced by the diaspora communities and the transnational cult and show that women of original voices can play their part in the worldwide changes of gender justice, ethical living and environmental sustainability.

To sum up, the women of Mithila are the guardians of verbal epics as they bear the principles of the Indian Knowledge System when ethical, ecological and art knowledge are summed up. Their work validates that the traditional practices met their relevance in the modern society and could be discussed as reliable as models to explore the ways to cope socially, ethically, and environmentally. ?

***Research Scholar**
Department of Sociology
Banasthali Vidyapith

Prof. Manju Singh
Department of Sociology
Banasthali Vidyapith

Footnotes

1. Valmiki Rāmāyaṇa references are taken from the Gita Press edition (2018).
2. Tulsidas' Rāmcharitmānas references from the Kashi edition.
3. Mithila Ramayan verses documented through field recordings in Ranti village.
4. Painting dimensions noted from artist archives and museum catalogs.

References

- Dalmia, V. (2019). Women in the Ramayana Traditions of North India. Oxford University Press.
- Dutta, B. (2017). Madhubani Painting: History and Development. National Book Trust.
- Jha, M. (2021). Reimagining Sita: Feminist Narratives in Madhubani. New Delhi: Roli Books.
- Richman, P. (1991). Many Rāmāyaṇas: The Diversity of a Narrative Tradition in South Asia. University of California Press.
- Tulsidas. (2015). Śrī Rāmcharitmānas. Kashi: Gita Press.
- Valmiki. (2018). Śrīmad Vālmīki Rāmāyaṇa. Gorakhpur: Gita Press.
- Verma, R. (2020). Folk Songs of Mithila: A Sociological Perspective. Patna University Press.

वैदिककालीन समाज की प्रमुख संस्थाएँ

डॉ. धनेश कुमार सुमन

शोध सार

राजनैतिक दृष्टि से वैदिककालीन समाज पांच भागों में बांटा हुआ था। (क) गृह या कुल (ख) ग्राम (ग) विश् (घ) जन और (ङ) राष्ट्र उसके स्वामियों को क्रमशः गृहपति, ग्रामणी, विश्वपति या विश्वांपति, जनपति और राजा कहते थे। राजा का कार्य प्रजा की रक्षा करना था। राजा का चुनाव प्रजा करती थी। वह उसे हटा भी सकती थी। वैदिक युग में देश छोटे-छोटे राज्यों में विभक्त था जिस पर अलग-अलग राजा राज्य करते थे। एकाधिपत्य का संकेत भी प्राप्त होता है- ''विश्वस्य भुवनस्य राजा''।

समिति और सभा ब्रह्मा की दो पुत्रियाँ मानी गई हैं—''सभा च या समितिश्चावतां प्रजापतेर्दुहितरौ संविदाने।'' संभवतः समिति जनसाधारण के लिए थी जबकि सभा कुछ गिने चुने लोगों के लिए थी। जिन्हें ''सभेयाः'' कहा जाता था। समिति और सभा दोनों ही राजा पर नियंत्रण रखती थीं पुरोहित राजा के साथ युद्ध क्षेत्र में भी जाते थे। वेदों में उल्लेखित इन संस्थानों में सभा समिति और विद्युत विशेष महत्वपूर्ण थी। इन संस्थाओं के विषय में वैदिक साहित्य में बहुत अधिक सामग्री प्राप्त होती है। उन सामग्रियों के आधार पर ही इस शोध पत्र को लिखने का प्रयास किया गया है।

परिचय

वैदिक संहिताओं में वैदिक आर्यों की कई संस्थानों की ओर संकेत मिलता है। वह संस्थाएं ऐसी जान पड़ती हैं इसके निर्माण से या जिसको बनाने से आर्यों का जीवन सहज और सरल ढंग से व्यतीत हुआ। इन संस्थानों में अपने-अपने अधिकार क्षेत्र के अनुसार जीवन संबंधी समस्याओं पर गंभीरता पूर्वक एवं शांतिपूर्ण ढंग से विचार भी किया जाता था। जिसमें सबसे महत्वपूर्ण संस्था सभा के नाम से जानी जाती थी।

सभा

सभा वैदिक कार्यों की राष्ट्रीय संस्था थी। इस संस्था के माध्यम से वैदिक आर्यों का राष्ट्रीय जीवन में बहुत ही महत्वपूर्ण कार्य प्रशस्त किया जाते थे। अथर्ववेद में सभा को प्रजापति की दुहिता कहकर संबोधित किया गया है।[1]

इस प्रसंग में यहां यह स्पष्ट कर देना जरूरी है कि वैदिक आर्यों की सभा अति पुरानी संस्था थी, जिसका प्रादुर्भाव सृष्टि रचना के साथ ही आदिकाल में हुआ था। सभा की उत्पत्ति विराट पुरुष से कही गई है।[2] इस प्रकार अथर्ववेद के एक अन्य प्रसंग में व्रात्य अथवा आदि पुरुष से सभा की उत्पत्ति बतलायी गई है।[3] सभा के वास्तविक स्वरूप के विषय में विद्वानों में एक मत नहीं है। कुछ विद्वानों का मानना है कि वैदिक आर्य किसी विशेष समस्या के समाधान हेतु विचार करने के लिए जब एकत्र होकर एक स्थान पर बैठते थे, तो उसके इस प्रकार एकत्र होने को समिति अथवा उस स्थान अथवा एकत्र होने वाले भवन में जिसमें एकत्र होते थे उसे सभा कहते थे। इसका मतलब यह है कि समिति वैदिक आर्यों की संस्था थी और इस संस्था के सदस्यों को बैठने के स्थान अथवा भवन को ''सभा'' की संज्ञा दी गई थी। इस मत के प्रवर्तक विद्वान हेली ब्रैण्ड (Helle Brende) दूसरी श्रेणी में ऐसे विद्वान हैं जो यह मानते हैं कि सभा ग्राम की संस्था थी और समिति केंद्रीय संस्था थी। इस मत के अनुसार वैदिक आर्यों की ग्राम सभा मात्र ग्राम की सभा थी।

ऋग्वेद के एक मंत्र में जुआ खेलने के लिए सभा को

जाता है ऐसा वर्णन प्राप्त होता है।[4] ऋग्वेद के इस मंत्र से यह भी ज्ञात होता है कि वैदिक युग में जुआरियों का अड्डा भी सभा कहलाता था। चाहे जो भी रहा हो, परंतु यह कहना की सभा, समिति की बैठक का स्थान अथवा भवन मात्र था यह बात उचित नहीं है। यदि सभा समिति की बैठक का स्थान अथवा भवन ही होती तो सभा के सदस्यों, एवं सभासदों का सभ्य होना क्यों आवश्यक था।

अथर्ववेद में बार-बार स्पष्ट निर्देश किया है कि सभा के सदस्य सभ्य थे और सभासद कहलाते थे।[5]

इसका तात्पर्य यह नहीं था कि सभा केवल स्थानीय एवं ग्राम की संस्था थी। सभा और समिति के अपने पृथक-पृथक कार्य थे। दोनों संस्थाएं केंद्रीय स्तर पर संचालित थी। उसमें संदेह नहीं किया स्थानीय अथवा ग्राम स्तर पर भी सभाएं थीं। परंतु इससे उसके केंद्रीय संस्था होने में किसी प्रकार का संदेह करना उचित नहीं है। दूसरी ओर यह भी सत्य है कि सभा की बैठक जिस स्थान पर होती थी उसे भी स्थान विशेष को भी सभा करते थे।

सभा का गठन

सभा के गठन के बारे में निश्चित और प्रामाणिक सामग्री का अभाव मिलता है। परंतु वैदिक साहित्य में यत्र-तत्र कई संकेत ऐसे मिलते हैं जो सभा के गठन की ओर निसंदेह कुछ प्रकाश डालते हैं। सभा के विषय में वेदों में जो संकेत प्राप्त होते हैं उसके आधार पर वैदिक सभा के संगठन की रूपरेखा का अनुमान किया जा सकता है। संपूर्ण वैदिक साहित्य में इस विषय का स्पष्ट उल्लेख है कि सभा के सदस्यों की नियुक्ति होती थी। साथ ही नियुक्ति नियमों के आधार पर होती थी। उसकी नियुक्ति किस आधार पर होनी चाहिए और किसके द्वारा होनी चाहिए, साथ ही सदस्यता की अवधि कितनी होती थी इस पर बहुत अधिक चर्चा नहीं है।

सभा की सदस्यता

सभा का शाब्दिक अर्थ होता है भासित अथवा प्रकाशित होना है।[6] इसलिए वैदिक सभा का तात्पर्य तेजस्वी अथवा विशिष्ट पुरुषों की बैठक अथवा उसके उनके एकत्र होने का स्थान है। इससे ज्ञात होता है कि सभा वैदिक आर्यों की ऐसी संस्था थी, जिसमें तेजस्वी अथवा विशिष्ट पुरुष एकत्र होते थे। दूसरे शब्दों में यह करना उचित होगा कि सभा की सदस्यता का अधिकार सामान्य पुरुषों को तब तक प्राप्त न था जब तक की उसकी सदस्यता के अनुरूप वांछनीय योग्यता एवं गुण विद्यमान ना हों। सभा की सदस्यता कठिनाई से प्राप्त होती थी। इसी सदस्यता की प्राप्ति हेतु विशिष्ट गुण एवं योग्यताओं का धारण करना आवश्यक था। सभा की सदस्यता के लिए लोग लालायित रहते थे। इस सत्य की पुष्टि ऋग्वेद के कई मंत्रों में होती है। ऋग्वेद के एक मंत्र में सोम की उपासना का फल बताते हुए कहा गया है कि जो पुरुष श्रद्धा भक्ति के साथ सोम की उपासना करता है वह सोम उसे भक्ति के लिए दूध है देने वाली गाय, द्रुतगामी अश्व, कर्तव्यपरायण गृह सत्कार कार्य में कुशल, पितृभक्त, विदथ की सदस्यता योग्य और सभा का सदस्य बनने योग्य पुत्र प्रदान करता है।[7]

इस मंत्र में स्पष्ट बताया गया है कि वैदिक सभा की सदस्यता प्राप्ति लोक की दृष्टि से विशेष राष्ट्रीय सम्मान मानी जाती थी। इस पद की प्राप्ति के निमित्त विशेष गुण की योग्यताओं का धारण करना अनिवार्य था। यह गुण एवं योग्यताएं सामान्य श्रेणी के पुरुषों के लिए साधारणतया सुलभ न थी। वैदिक सभा की सदस्यता वैदिक आर्यों का विशिष्ट प्राधिकार था जिसकी प्राप्ति हेतु प्रत्येक पुरुष लालायित रहता था।

सभा की सदस्यता किस नाम से संबोधित किया जाता था इस विषय में ऋग्वेद और यजुर्वेद में अतिरिक्त चर्चा नहीं है लेकिन अथर्ववेद साफ में कहा गया है कि वैदिक सभा के सदस्य को सभ्य अथवा सभासद की उपाधि से विभूषित किया जाता था।[8]

सभासद की योग्यता

वैदिक सभा की सदस्य बनने के लिए किन-किन योग्यताओं और अर्हता की आवश्यकता थी, इस पर वेद में स्पष्ट रूप से कुछ भी नहीं कहा गया है। परंतु कई संकेत दूसरे प्रसंगों में प्राप्त होता है, जैसे ऋग्वेद के एक प्रसंग में यह संकेत दिया गया है कि सभा के यशस्वी सभासद की प्रशंसा उसके अन्य सह सभासद सभा में ही करते थे।[9] सभासद यज्ञ द्वारा प्रशंसित होते थे।[10] वैदिक सभा का सदस्य बनने के लिए यशस्वी होना आवश्यक था। सभा की सदस्यता प्राप्त कर लेने से पूर्व उसकी कीर्ति की छाप जनमानस के हृदय में भली-भांति अंकित हो जानी चाहिए थी। वैदिक सभा की सदस्यता की प्राप्ति हेतु, ऋग्वेद के अनुसार दूसरी योग्यता भद्रभाषी होना निश्चित किया गया उनके अनुसार वैदिक सभा की सदस्यता के योग्य वही पुरुष समझा जाता था, जिनकी अन्य आवश्यक गुणों के अतिरिक्त एक विशेष गुण भद्रभाषी होना था। जिस पुरुष का वाणी प्राणी मात्र के कल्याण हेतु वचन बोलने में

निरंतर रत रहती हो, वह व्यक्ति प्राणी मात्र के कल्याण हेतु अपनी वाणी का उपयोग करके अभ्यासी होता था। सभा की सदस्यता के लिए ऋग्वेद के अनुसार तीसरी योग्यता बृहद्वाणी बताई गई है। सभा की सदस्यता हेतु जो योग्यताएं ऋग्वेद में संकेत रूप में कही गई है उसकी अपेक्षा योग्यता संबंधी बातें अथर्ववेद में अधिक स्पष्ट तरीकों से कही गई हैं। अथर्ववेद में दी गई जानकारी के अनुसार यह प्रार्थना की गई है कि वैदिक सभा की सदस्यता की प्राप्ति हेतु प्रत्याशी वर्चस्वी और ज्ञानवान पुरुष होना चाहिए। अथर्ववेद में प्रार्थना की गई है कि सभा के सदस्य सत्यवादी और न्याय परायण होना चाहिए। उन्हें सदैव सत्य और न्याय पूर्ण वचन बोलने चाहिए। सभा के सदस्य में पिता के गुण होने चाहिए।[11]

सभा के सदस्यों के विशेषाधिकार

वैदिक सभा के सभासदों के विशेष अधिकार के विषय में वैदिक साहित्य में स्पष्ट उल्लेख नहीं है। परंतु ऐसे संकेत प्राप्त होते हैं जिसके आधार पर उनके विशेषाधिकारों का अनुमान किया जा सकता है। अथर्ववेद में एक जगह सभा में समान आसनों को लेकर संकेत किया गया है। इस आधार पर कहा जा सकता है सभाओं ने सभासदों के आसन ग्रहण करने का अधिकार था।[12]

सभा में सभासद चाहे जिस वर्ण, रंग, आकृति आदि का पुरुष क्यों ना हो, सभा का सदस्य होने के नाते सभा में बैठने के लिए समान आसन ग्रहण करने का अधिकार प्राप्त था। इससे स्पष्ट होता है कि वैदिक सभा में सभा के सभी सदस्यों के लिए समान आसन की व्यवस्था थी। आसन व्यवस्था की दृष्टि से वैदिक सभा जनतांत्रिक संस्था थी। अथर्ववेद के अनुसार सभा के सदस्यों का दूसरा विशेषाधिकार मत प्रकाशन संबंधित था। सभा के प्रत्येक सदस्य को सभा में अपना मत एवं अपने विचार रखने की पूर्ण स्वतंत्रता थी।[13] सभा के सभी सदस्य सभा में प्रस्तुत विषय पर अपना मत व्यक्त करने के लिए पूर्णत: स्वतंत्र थे। आज के लोकतांत्रिक व्यवस्था में भी सदस्यों को अपना मनतव्य रखने का अधिकार प्राप्त है।

सभापति

यजुर्वेद में सभा के अध्यक्ष को सभापति की संज्ञा दी गई है। यजुर्वेद में सभापति का उल्लेख जिस रूप में है, उससे ज्ञात होता है कि वैदिक आर्य के लिए सभापति पद अत्यंत महत्वपूर्ण समझा जाता था। इस वेद में जहां राज्य के अन्य पदाधिकारी के प्रति सम्मान प्रदर्शन हेतु व्यवस्था दी गई है वहीं सभा के सभापति के प्रति भी उसी रूप में विशेष सम्मान प्रदर्शित करने का आदेश दिया गया है।

सभा के कार्य

वैदिक साहित्य में कुछ ऐसे संकेत मिलते हैं जिसके आधार पर ज्ञात होता है कि वैदिक सभा का प्रधान कार्य धर्म निर्णय था। मनुष्य जिस किसी विशेष कार्य अथवा आचरण करने से किस प्रकार और कितनी मात्रा में कर्तव्य-भ्रष्ट धर्मच्युत हुआ है और तदनुसार उसे किस प्रकार और किस मात्रा में दंड मिलना चाहिए इस विषय का निर्धारण करना सभा का प्रधान कार्य था। अर्थात् सभा का प्रधान कार्य विवादास्पद विषयों पर विचार करना अथवा नियमानुसार निर्णय देना था। यजुर्वेद में सभा का परिचय देते हुए यह बताया गया है कि धर्म के लिए सभा में गमन करने वाले को जानना चाहिए।[14] इस मंत्र से यह ज्ञात होता है कि मनुष्य धर्म निर्णय अर्थात न्याय की प्राप्ति हेतु सभा में गमन करता था यजुर्वेद के एक अन्य मंत्र में भी इसी तथ्य की पुष्टि की ओर संकेत किया गया है। यह संकेत इस प्रकार है- यज्ञ! तू आक्रमण के लिए अर्थात् आक्रमण से सुरक्षित रहने के लिए सभा में स्थित को प्रकट कर।[15]

इस संकेत से ज्ञात होता है कि आक्रमण में से सुरक्षित रहने के लिए सभा सुरक्षित संस्थान समझी जाती थी। यह आक्रमण किस प्रकार के होते थे स्पष्ट नहीं है। संभवत: सभा में उस व्यक्ति को शरण मिलती थी जिसके जीवन, संपत्ति स्वतंत्रता और सम्मान तथा प्रतिष्ठा यदि पर आक्रमण होता होगा अर्थात् दूसरे से त्रस्त और पीड़ित व्यक्ति की रक्षा सभा की शरण में आने से होती थी। किसी व्यक्ति के अधिकार पर आघात हुआ है इसी परिस्थिति में पीड़ित सभा में उपस्थित होता था तो स्वाभाविक रूप से उसे व्यक्ति के उक्त अधिकार की रक्षा सभा करता था। सभा के दूसरे के अधिकारों पर आक्रमण करने के विरुद्ध निर्णय देता है। इस तरह सभा एक प्रकार से न्यायालय भी थी। इस तथ्य की पुष्टि यजुर्वेद के कई मंत्रों में होती है। एक मंत्र में यह प्रार्थना की गई है कि सभा में हम जो पाप करें उस पाप का मोचन करने वाला तू है, अर्थात् प्रभु अथवा यज्ञ उस पाप का मोचन करें।[16] इसी तथ्य को दूसरे शब्दों में अथर्ववेद में इस प्रकार कहा गया है कि जो पाप सभा में हुए हैं उन्हें दूर कर।[17]

इस प्रसंग से ज्ञात होता है कि सभा में भी पाप कर्म किए जा सकते थे, प्रश्न यह उठता है कि कौन सा पाप हो सकता है? पाप का सभा में होना क्यों संभव था? संभवत: यही पाप

होगा जिसकी ओर वैदिक युग के बहुत पश्चात मानवधर्मशास्त्र महाभारत आदि ग्रन्थों में सभा के प्रसंग में संकेत किया गया है। इस प्रकार यदि सभा में सक्षम निर्णय हेतु प्रस्तुत किए गए विषय अनृत अथवा अधर्मपूर्वक निर्णय दिया जाता है इस प्रकार पाप आचरण हुआ है और पाप की एक चौथाई अंश मात्र पाप करने वाले को तथा सभाध्यक्ष को एक तिहाई अंश पाप लगता है।

सभा की न्याय समिति

अथर्ववेद के एक मंत्र में सभा के सदस्यों को सभ्य और सभासद नाम से संबोधित किया गया है।[18] इस संकेत से ऐसा अनुमान होता है कि सभा के सभी सदस्य सामान्य रूप से सभासद कहलाते थे। परंतु इनमें से कई सभासद ऐसे भी होते थे जिनमें सामान्य सभासदों की अपेक्षा कतिपय विशेष योग्यता एवं गुण होते थे। उनकी इस विशेषता के कारण उन्हें कुछ विशेष कार्य सौंप दिए जाते थे, जिनका विधिवत् संपादन करना उनका कर्तव्य समझा जाता था। उनका एक विशेष कार्य न्याय से संबंधित था। इस श्रेणी के सभासदों को सभ्य की उपाधि से भी विभूषित किया जाता था। इस प्रकार सभा की एक उपसमिति होती थी जो राज्य में सबसे श्रेष्ठ न्यायालय के रूप में धारण करती थी। इस उपसमिति का कार्य न्याय की स्थापना करना था। सभा की उसे उपसमिति के सभी सदस्य सभ्य कहलाते थे। प्राचीन भारत में सभ्य न्यायालय रहे हैं। न्याय क्षेत्र में वह सक्रिय योगदान करते थे। जनता में उनका विशेष महत्व एवं आदर था। ऐसा ज्ञात होता है कि सभ्य न्यायालय का विकास वैदिक काल की इसी उपसमितियां से हुआ है।

शुक्रनीति के रचनाकाल तक सभ्य न्यायालय महत्वपूर्ण एवं सम्मानित न्यायिक संस्थाएं समझी जाती थीं। इस प्रकार स्पष्ट है कि वैदिक सभा में एक न्याय समिति होती थी और उसका निर्माण सभा अपने विशेष योग्य सभासदों से करती थी। वे सभ्य वैदिक सभा की इस उपसमिति में बैठकर न्याय कार्य का संपादन करते थे।

स्त्री सदस्य

वैदिक साहित्य में एक भी ऐसा संकेत प्राप्त नहीं होता जिसके आधार पर निश्चय पूर्वक कहा जा सकता है कि वैदिक सभा की सदस्यता महिलाओं को भी प्राप्त थी। इसलिए इस विषय में मौन रहना ही उचित है। उत्तर वैदिक साहित्य में कुछ ऐसे प्रसंग आवश्यक है इसमें कुछ ऐसी नारियों का उल्लेख है जो ब्रह्मविद्या की जिज्ञासु थी। और वह विद्वत् परिषदों के तत्संबंधी वाद विवाद में भाग लेती थी। गार्गी ने ऐसे ही एक सम्मेलन में सभानेत्री का आसन ग्रहण किया था।[19] परंतु वैदिक सभा के संदर्भ में ऐसा एक भी उदाहरण उपलब्ध नहीं है जिसमें नारी सभासदों का कहीं भी उल्लेख किया गया हो। वैदिक संहिता में कतिपय ऐसी नारियों का उल्लेख है जो ब्रह्मवादिनी थी और उनके नाम से कुछ वैदिक ऋचाएं भी उपलब्ध हैं। इस प्रकार वैदिक आर्यों की महत्वपूर्ण संस्थाएं सभा थीं। वैदिक संहिताओं के युग में महत्वपूर्ण कार्य सक्रिय रूप से करती थी साथ ही जीवन के विकास में समुचित योगदान देती रहती थी।

समिति

अथर्ववेद में एक प्रसंग में यह कहा गया है कि समिति एक पुरातन संस्था है और समिति उतनी पुरानी है जितनी प्रजापति विराट पुरुष और व्रात्य पुरातन है। इसके अतिरिक्त ऋग्वैदिक ऋषियों ने भी समिति को अपने समय की सबसे महत्वपूर्ण सक्रिय उपयोगी संस्था के रूप में वर्णन किया है।[19] उनके समय में समिति का पूर्ण विकास हो चुका था। सभा की तरह समितियां भी जन कल्याण के कार्य को संपादन में सक्रिय थी।

समिति की उपयोगिता

अथर्ववेद में यह कहा गया है कि जिस राष्ट्र में ब्रह्महत्या होती है, वहां मित्र और वरुण जलवृष्टि नहीं करते, समिति वहां कार्य नहीं करती और उस राष्ट्र के मित्र उसके वश में नहीं रहते।[20] अथर्ववेद में यह भी कहा गया है कि वैदिक राज्य में समिति का अभाव अथवा उसकी निष्क्रिय हो जाना लोक में महान् अनर्थ समझा जाता था। समिति-हीन राज्य मृतवत समझा जाता था वैदिक कार्यों द्वारा सार्वजनिक जीवन संबंधी समस्याओं का परस्पर मिलजुल कर और विचारों के परस्पर आदान-प्रदान द्वारा सुलझाने और संपूर्ण राज्य की जनता के कल्याण का चिंतन कर तदनुसार के जुटाने में समिति का सहयोग रहता था। इस दृष्टि से समिति वैदिक आर्यों की उपयोगी संस्था थी। उसके लिए राष्ट्रीय जीवन का सम्यक् विकास असंभव था।

समिति का संगठन

समिति शब्द ''सम्'' और इति के संयोग से बना है जिसका अर्थ एकत्र होना है। इस दृष्टि से समिति वैदिक कार्यों की सार्वजनिक संस्था थी जिसमें राज्य के लगभग सभी

वयस्क नागरिक का एकत्र होकर सार्वजनिक जीवन संबंधी समस्याओं का समाधान मिलजुल कर लेने का अधिकारी था। इस प्रकार सभा और समिति के गठन में सबसे महत्वपूर्ण अंतर यह था कि सभा की सदस्यता केवल उन पुरुषों को मिलती थी जो राज्य में विशिष्ट पुरुष समझे जाते थे। परन्तु समिति की सदस्यता के लिए कोई ऐसा प्रतिबंध नहीं था। गठन की दृष्टि से सभा की अपेक्षा समिति कहीं अधिक उदार थी। समिति का एक अध्यक्ष होता था। समिति के अध्यक्ष को संभवत: समितिपति कहते थे। उसी समितिपति की अध्यक्षता में समिति की बैठक होती थी और आवश्यकता अनुसार कार्य संपन्न होता था।[21]

समिति की कार्य प्रणाली

ऋग्वेद में एक ऋचा में प्रार्थना की गई है कि समिति में मंत्र-निर्णय में एकमत में हो। ऋग्वेद में एक अन्य स्थल पर समिति का संबंध चित्त और व्रत से जोड़ा गया है। वैदिक साहित्य में कुछ ऐसे प्रसंग हैं जिसमें निष्कासित राजा की पुनर्स्थापना हेतु व्यवस्था दी गई है। ऋग्वेद के एक मंत्र में कहा गया है कि निष्कासित राजा की पुन:स्थापित करने का काम समिति का था। इसके साथ-साथ राज्य की नीति निर्धारण करना समिति का प्रधान कर्तव्य था। राष्ट्रवासियों के कल्याण हेतु प्रस्तुत की गई योजनाओं पर गंभीर विवेचना कर स्वीकार अथवा स्वीकार करना जैसे की उचित होता है समिति के अधिकार क्षेत्र की परिधि में था। इस प्रकार उपयुक्त विवरण के आधार पर हम कह सकते हैं कि वैदिक युग में समिति नाम की संस्था वैदिक आर्यों की महत्वपूर्ण संस्था थी। आर्यों के सार्वजनिक जीवन में इसका विशेष महत्व था इस संस्था ने उसके सार्वजनिक जीवन के विकास में उल्लेखनीय सहयोग दिया था।

विदथ

वैदिक आर्यों की सार्वजनिक संस्थानों में विदथ भी महत्वपूर्ण संस्था है। विदथ एक प्रकार की एक विशेष संस्था है, जो सभा और समिति से पूरी तरह से अलग तरह की संस्था है। इसका स्वरूप विद्या और ज्ञान से संबंधित था। ऋग्वेद में विदथ का उल्लेख अनेक प्रसंग में है। इससे विदथ की प्राचीनता के विषय में कोई संदेह नहीं किया जा सकता।

विदथ के विषय में विविध मत :

ऋग्वेद के प्रथम मंडल के आधार पर मि. जिमर विदथ के स्वरूप पर अपना मत व्यक्त करते हुए इस निश्चय पर पहुंचते हैं कि विदथ वैदिक समिति की एक उपसमिति थी।[22] विदथ का अपना स्वतंत्र अस्तित्व न था। मि. राथ के अनुसार विदथ मूल संस्था थी, उसी से वैदिक समिति सभा और सेना की उत्पत्ति हुई थी।[23] ह्विटनी ने अथर्ववेद के प्रथम कांड के 13 में सूक्त के चौथे मंत्र के आधार पर विदथ को एक प्रकार की परिषद बतलाया है। डॉक्टर आर. एस. शर्मा के मत अनुसार विदथ का विशेष संबंध सेना से था और उनके अनुसार विदथ सैनिक कार्यों को संपादन करने वाली एक वैदिक संस्था थी।[24] इस तरह कहा जा सकता है कि विदथ स्वतंत्र संस्था थी। वह समिति, सभा आदि की पुत्री अथवा जननी नहीं थी। विदथ शब्द विद् धातु से होती है जिसका अर्थ सत्य की खोज करना है इसलिए विदथ वह संस्था थी जिसमें सत्य की खोज की जाती थी, इस दृष्टि से विदथ को विद्वत परिषद मानना न्याययुक्त होगा। ऋग्वेद में एक अन्य प्रसंग में अग्नि की ज्वाला विधायक की पटाखा बताई गई है। इस उदाहरण से स्पष्ट है कि विद्युत परिषद थी जिसमें प्राणी मात्र के कल्याण संबंधी महत्वपूर्ण विषयों पर विद्वान विद्वानपूर्ण चिंतन किया जाता था और सदर अनुसार निर्णय किया जाता था। इसमें अलग-अलग विषय पर विचार करने का अवसर नहीं मिलता था। वैदिक यज्ञों से इसका विशेष संबंध रहता था।

विदथ की सदस्यता

विदथ की सदस्यता सिर्फ ब्राह्मणों को प्राप्त थी, विद्वान ब्राह्मण ही सदस्य होते थे और वह ब्रह्म ज्ञान की खोज और उसकी प्राप्ति प्रमुख साधन समझी जाती थी। इसलिए सदस्यता का अधिकार विद्वान ब्राह्मणों को ही विशेष रूप से प्राप्त था सर्व सामान्य को इसकी सदस्यता प्राप्त न थी। विदथ के सार्वजनिक उत्सव में सार्वजनिक जनता उपस्थित हो सकती थी और उसमें जो धार्मिक कृत्य किए जाते थे अथवा महत्वपूर्ण विषयों पर वाद-विवाद होते थे उससे लाभ उठा सकती थी परंतु सदस्य की श्रेणी में नहीं होते थे। विद्वान वैदिक कर्मकांड में दक्ष क्रांतिदर्शी मनीषी, धीर, वीर यथार्थवादी स्पष्ट निर्भीक तथा सारगर्भित वचन बोलने वाला ब्राह्मण पवित्र आचरण वाला ही सदस्य होता था।

विदथ की अध्यक्षता

विदथ का अध्यक्ष प्रधान पुरोहित होता था। जिसे वैदिक साहित्य में ब्राह्मणस्पति की उपाधि दी जाती थी। अथर्ववेद के एक मंत्र में पुरोहित को ब्राह्मण की उपाधि से संबोधित किया गया इस मंत्र में पुरोहित को उद्बोधित करते हुए कहा

गया है कि–हे पुरोहित उठ, विद्वान् ब्राह्मणों का यज्ञ द्वारा उद्‌बोधन कर अथवा देवों को मंत्र द्वारा जागृत कर। यजमान की आयु, प्राणशक्ति, संतति, कीर्ति और उसके पशुओं की वृद्धि कर।[25]

विदथ के कार्य

वेदों में विदथ का संबंध यज्ञ संपादन से जोड़ा जाता है। इससे ज्ञात होता है कि विदथ का सर्वोपरि वैदिक कार्य वैदिक यज्ञों का आयोजन करना उसका विधिवत अनुष्ठान करना था। इस प्रकार विदथ वैदिक आर्यों की वह संस्था थी जिसमें ब्रह्म, जीव, आत्मा, प्राण, मन, प्रकृति आदि से संबंध जटिल एवं रहस्यपूर्ण समस्याओं का समाधान किया जाता था। वैदिक युग के बाद यह संस्था लुप्त हो गई और उसके स्थान पर विद्वत्समिति अथवा विद्वत्परिषद ने ग्रहण कर लिया।

सहायक शिक्षक
उत्क्रमित उच्च विद्यालय
सोलरा, परैया, गया (बिहार)

सन्दर्भ सूची

1. अथर्ववेद–1/13/7
2. अथर्ववेद–8/10/8
3. अथर्ववेद–2/9/15
4. ऋग्वेद–6/34/10
5. अथर्ववेद–5/55/19
6. ऋग्वेद–3/167/1
7. ऋग्वेद–20/91/20
8. अथर्ववेद–5/55/19
9. अथर्ववेद–2/12/7
10. ऋग्वेद–70/71/10
11. अथर्ववेद–1/13/6
12. अथर्ववेद–3/13/7
13. अथर्ववेद–2/13/7
14. यजुर्वेद–6/30
15. यजुर्वेद–18/30
16. यजुर्वेद–17/20
17. अथर्ववेद–6/31/5
18. अथर्ववेद–4/31/7
19. ऋग्वेद–6/17/10 और ऋग्वेद 6/92/9
20. अथर्ववेद–15/19/5
21. अथर्ववेद–10/10/8
22. Vaidic Index, Macdonell and Keith, Page-199
23. ऋग्वेद–5/38/3, 4/1/2, 6/26/3
24. जे.बी. आर. एस. 1952, पृष्ठ–429
25. अथर्ववेद–1/63/19

बैंकों में राजभाषा के प्रचार-प्रसार में संवाद कौशल का योगदान

सुनील कुमार सिंह* डॉ. पूनम शर्मा**

शोध सार

हिंदी भाषा भारतीय समाज की केवल भाषिक संरचना नहीं, बल्कि भारतीयबोध की सजीव अभिव्यक्ति है। इसके शब्दों में लोकजीवन की सहजता, शास्त्रीय परंपरा की गरिमा और ऐतिहासिक स्मृति की निरंतरता एक साथ विद्यमान रहती है। हिंदी के माध्यम से व्यक्त विचार भारतीय जीवन-दर्शन, सामूहिक नैतिकता और सांस्कृतिक मूल्यों को स्वर प्रदान करते हैं। यही कारण है कि हिंदी केवल संवाद की भाषा नहीं रह जाती, अपितु वह उस चेतना का माध्यम बन जाती है, जिसके माध्यम से भारत स्वयं को समझता और अभिव्यक्त करता है। प्रस्तुत शोध आलेख का उद्देश्य बैंकों में राजभाषा के प्रचार-प्रसार में संवाद कौशल की महत्ता का विश्लेषण करता है। साथ ही राजभाषा के विभिन्न गुणों को रेखांकित करता है

बीज शब्द

भारतीयबोध, अभिव्यक्त, जनसंवेदना, बैंकिंग, संवाद, प्रचार-प्रसार, संकल्पना, कार्यान्वयन

मूल आलेख

भारत जैसे विविधतापूर्ण देश में जहाँ की एक बड़ी जनसंख्या अपनी स्थानीय भाषाओं और हिंदी में व्यवहार करना पसंद करती है, वहाँ राजभाषा हिंदी का महत्व और अधिक बढ़ जाता है। इस प्रक्रिया में संवाद कौशल वह माध्यम है जो बैंक और ग्राहक के बीच की दूरी को पाटता है। हिन्दी के माध्यम से व्यक्त होने वाले विचार और जीवन दर्शन इसे एक विशिष्ट स्वर प्रदान करते हैं। भारतीयबोध की यह विशेषता हिंदी को एक ऐसी भाषा बनाती है जो विविधताओं से भरे समाज को भावनात्मक स्तर पर जोड़ने की क्षमता रखती है।

भाषा और समाज के संबंध को यदि गहराई से देखा जाए, तो यह स्पष्ट होता है कि भाषा सामाजिक जीवन की दिशा और दशा दोनों को प्रभावित करती है। समाज की आकांक्षाएँ, संघर्ष और परिवर्तन भाषा में रूपांतरित होकर ही स्थायी रूप ग्रहण करते हैं। हिंदी ने भारतीय समाज के भीतर सामाजिक संवाद, लोकचेतना और जनसंवेदनाओं को अभिव्यक्त करने का कार्य किया है। विभिन्न बोलियों और भाषिक रूपों को अपने भीतर समेटते हुए हिंदी ने एक ऐसे साझा मंच का निर्माण किया है, जहाँ समाज के विविध वर्ग अपने अनुभवों को एक-दूसरे के साथ साझा कर सकते हैं। इस प्रक्रिया में भाषा सामाजिक एकता का माध्यम बन जाती है और समाज भाषा के माध्यम से अपनी पहचान को सुदृढ़ करता है। संवाद कौशल का अर्थ केवल भाषा का ज्ञान होना नहीं है, बल्कि सही समय पर सही शब्दों का चयन करना है। जब बैंक कर्मचारी राजभाषा हिंदी में मृदु और स्पष्ट संवाद करता है, तो ग्राहक (विशेषकर ग्रामीण और अर्ध-शहरी क्षेत्रों के) खुद को सुरक्षित और सम्मानित महसूस करते हैं। यह आत्मीयता बैंक के प्रति उनके भरोसे को मजबूत करती है। यह विचारणीय है कि ''भाषा से ही मनुष्य की शिक्षा, सभ्यता और कुलीनता का परिचय मिलता है शुद्ध भाषा के दर्शन और शुद्ध श्रवण होगा तो उच्चारण और शुद्ध लेखन अपने आप ही आने लगेगा।''[1]

आज की ऐसी स्थिति में जबकि राजभाषा 'भाषा की राजनीति' और 'राजनीति की भाषा' के बीच में फँसी हुई है, यह आशा करना तो व्यर्थ होगा कि राजभाषा हिन्दी को मानक स्वरूप अथवा साहित्यिक रूप दिया जा सकता है। हाँ इतना अवश्य है कि उसका एक सर्वमान्य प्रायोगिक स्वरूप निर्धारित

करने के प्रयत्न किए जा सकते हैं। ''इस कार्य के लिए विभिन्न भाषाओं के बहुप्रचलित और भारतीय जन-मानस द्वारा प्रयुक्त शब्दों को प्रायोगिक भाषा में समाहित करना अति लाभदायक होगा। राजभाषा हिन्दी का सर्वग्राही रूप स्थापित करते समय इसका विशेष ध्यान रखना होगा कि भाषा सरल, सुस्पष्ट, बोधगम्य तथा प्रवाहमयी हो।''[2]

राजभाषा हिंदी के सहारे भारतवर्ष में एकता स्थापित करने के ऐतिहासिक प्रयासों की परंपरा स्वतंत्रता आंदोलन से भी पूर्व की है। उन्नीसवीं शताब्दी के नवजागरण काल में हिंदी ने क्षेत्रीय सीमाओं को लांघकर राष्ट्रीय चेतना को स्वर दिया। स्वतंत्रता संग्राम के दौरान हिंदी संपर्क भाषा के रूप में उभरी, जिसने विभिन्न भाषाई और सांस्कृतिक समूहों के बीच संवाद को संभव बनाया। महात्मा गांधी ने इसे जनभाषा के रूप में अपनाकर राजनीतिक और सामाजिक आंदोलनों को जनसाधारण से जोड़ा। स्वतंत्रता के पश्चात संविधान में राजभाषा के रूप में हिंदी की स्थापना इसी ऐतिहासिक आवश्यकता का परिणाम थी, ताकि शासन की भाषा और जनता की भाषा के बीच की दूरी कम हो और राष्ट्रीय एकता को संस्थागत आधार प्राप्त हो सके। आचार्य देवेन्द्र नाथ शर्मा के अनुसार, ''सरकार के शासन, विधान, कार्यपालिका और न्यायपालिका क्षेत्र में जिस भाषा का प्रयोग किया जाए वह राजभाषा कहलाती है।''[3]

आधुनिक भारत में बैंकिंग जैसे संगठित और तकनीकी क्षेत्र में संवाद कौशल के विकास में राजभाषा हिंदी की भूमिका अत्यंत महत्त्वपूर्ण है। बैंकिंग व्यवस्था का सीधा संबंध आम नागरिक के आर्थिक जीवन से होता है, अत: इसमें भाषा की सहजता और स्पष्टता अनिवार्य है। जब बैंकिंग प्रक्रियाएँ, प्रपत्र, सूचनाएँ और डिजिटल सेवाएँ हिंदी में उपलब्ध कराई जाती हैं, तो ग्राहक स्वयं को अधिक सुरक्षित और आत्मविश्वासी महसूस करता है। हिंदी में प्रभावी संवाद न केवल जानकारी को सरल बनाता है, बल्कि बैंक और ग्राहक के बीच विश्वास के संबंध को भी सुदृढ़ करता है। इस प्रकार राजभाषा हिंदी बैंकिंग क्षेत्र को अधिक समावेशी और जनोन्मुख बनाती है।

सरकारी योजनाओं के संदर्भ में जन-संवाद की सफलता काफी हद तक भाषा की प्रभावशीलता पर निर्भर करती है। योजनाओं के उद्देश्य, लाभ और क्रियान्वयन की प्रक्रिया यदि जटिल भाषा में प्रस्तुत की जाए, तो वे जनसाधारण से कट जाती हैं। राजभाषा हिंदी इस दूरी को पाटने का कार्य करती है। हिंदी में किया गया संवाद योजनाओं को आमजन के जीवन से जोड़ देता है, जिससे सहभागिता बढ़ती है और योजनाओं का वास्तविक लाभ इच्छुक वर्ग तक पहुँचता है। इस प्रक्रिया में हिंदी शासन और जनता के बीच संवाद का माध्यम बनकर लोकतांत्रिक मूल्यों को भी सुदृढ़ करती है।

मीडिया तथा अन्य सरकारी संस्थाओं के प्रचार-प्रसार में राजभाषा हिंदी की उपयोगिता समकालीन भारत में विशेष रूप से दृष्टिगोचर होती है। प्रिंट मीडिया, दूरदर्शन, रेडियो और डिजिटल प्लेटफॉर्म्स के माध्यम से हिंदी व्यापक जनसमूह तक पहुँच बनाती है। सरकारी नीतियों, सामाजिक अभियानों और राष्ट्रीय कार्यक्रमों को हिंदी में प्रस्तुत कर मीडिया उन्हें जनचेतना का अभिन्न हिस्सा बना देता है। इसके माध्यम सूचना का प्रसार भी होता है एवं राष्ट्रीय एकता, सामाजिक उत्तरदायित्व और सांस्कृतिक चेतना का भी निर्माण होता है। इस प्रकार राजभाषा हिंदी प्रचार-प्रसार का साधन मात्र नहीं, बल्कि राष्ट्र की सामूहिक अभिव्यक्ति का सशक्त माध्यम बनकर उभरती है।

बैंकिंग कार्यप्रणाली को यदि केवल वित्तीय गतिविधियों की शृंखला के रूप में न देखकर एक सामाजिक आर्थिक प्रक्रिया के रूप में समझा जाए, तो यह स्पष्ट होता है कि भाषा इसमें केंद्रीय भूमिका निभाती है। भारत जैसे बहुभाषी और सामाजिक रूप से विविध देश में बैंक तभी अपने उद्देश्य को पूर्ण कर सकते हैं, जब वे आम नागरिक की भाषा में उससे संवाद करें। इस संदर्भ में हिंदी बैंकिंग प्रणाली को मानवीय, पारदर्शी और लोकतांत्रिक स्वरूप प्रदान करती है। बैंकिंग की प्रत्येक कार्यप्रणाली में हिंदी का प्रयोग न केवल सुविधा बढ़ाता है, बल्कि नागरिक को आर्थिक व्यवस्था का सक्रिय सहभागी बनाता है।

बैंकिंग प्रक्रिया का प्रथम चरण पहचान और विश्वास निर्माण से संबंधित होता है। जब कोई व्यक्ति पहली बार बैंक से जुड़ता है, तो उसके मन में जिज्ञासा के साथ-साथ संकोच भी होता है। खाता खोलने की प्रक्रिया, आवश्यक दस्तावेज, केवाईसी मानदंड और नियमों की जानकारी यदि हिंदी में उपलब्ध हो, तो यह संकोच स्वत: समाप्त हो जाता है। बैंक शाखाओं में हिंदी में लगे सूचना-पट्ट, सहायता डेस्क और कर्मचारियों द्वारा किया गया संवाद ग्राहक के भीतर यह विश्वास उत्पन्न करता है कि बैंक उसकी भाषा और परिस्थिति को समझता है। इस स्तर पर हिंदी विश्वास की नींव रखती है, जिस पर आगे की पूरी बैंकिंग प्रक्रिया आधारित होती है।

दूसरा चरण सेवाओं के नियमित उपयोग और सहभागिता का है। जमा और निकासी, पासबुक अद्यतन, चेक प्रणाली, खाते के विवरण की जानकारी—ये सभी कार्य आम व्यक्ति के दैनिक जीवन से जुड़े होते हैं। यदि इन सेवाओं की प्रक्रिया और नियम हिंदी में स्पष्ट किए जाएँ, तो ग्राहक बैंक पर निर्भर रहने के बजाय स्वयं अपने कार्यों को समझकर संपन्न कर सकता है। हिंदी यहाँ ग्राहक को निष्क्रिय उपभोक्ता से सक्रिय भागीदार में परिवर्तित करती है, जिससे बैंकिंग व्यवस्था अधिक सशक्त और विश्वसनीय बनती है।

तीसरा चरण ऋण, सहायता और जोखिम प्रबंधन से जुड़ा होता है, जो बैंकिंग कार्यप्रणाली का सबसे संवेदनशील पक्ष माना जाता है। कृषि ऋण, लघु एवं कुटीर उद्योग ऋण, शिक्षा और आवास ऋण जैसी सुविधाएँ समाज के उन वर्गों से संबंधित होती हैं, जिनके लिए आर्थिक निर्णय जीवन की दिशा निर्धारित करते हैं। ऋण की शर्तें, ब्याज दरें, चुकाने की अवधि और दायित्व यदि जटिल भाषा में हों, तो वे भय और भ्रम को जन्म देती हैं। हिंदी में किया गया स्पष्ट और सहानुभूतिपूर्ण संवाद ग्राहक को आत्मनिर्भर बनाता है और बैंक तथा ग्राहक के बीच नैतिक विश्वास को गहरा करता है।

चौथा चरण डिजिटल परिवर्तन और तकनीकि अनुकूलन का है। आधुनिक बैंकिंग का स्वरूप डिजिटल माध्यमों पर आधारित होता जा रहा है, परंतु तकनीक तभी सार्थक होती है, जब वह जनसाधारण के लिए सुलभ हो। एटीएम, मोबाइल बैंकिंग, इंटरनेट बैंकिंग, यूपीआई और अन्य डिजिटल सेवाओं में हिंदी का प्रयोग तकनीकी दूरी को कम करता है। हिंदी में दिए गए निर्देश, संदेश और सहायता सेवाएँ तकनीक को भय का विषय नहीं, बल्कि सुविधा का साधन बना देती हैं। इस चरण में हिंदी डिजिटल समावेशन की भाषा बनकर उभरती है।

पाँचवाँ चरण वित्तीय साक्षरता, परामर्श और जागरूकता से संबंधित है। बैंक केवल लेन-देन की संस्था नहीं, बल्कि वित्तीय मार्गदर्शक भी है। बचत की आदत, निवेश के विकल्प, बीमा और पेंशन योजनाओं की समझ यदि हिंदी में दी जाए, तो आम नागरिक अपने आर्थिक भविष्य को लेकर सजग और आत्मविश्वासी बनता है। हिंदी में आयोजित जागरूकता कार्यक्रम और संवादात्मक पहलें आर्थिक सशक्तिकरण की प्रक्रिया को गति देती हैं।

इसके अतिरिक्त बैंकिंग कार्यप्रणाली का एक महत्त्वपूर्ण लेकिन प्रायः उपेक्षित चरण आंतरिक प्रशासन और मानव संसाधन विकास का भी है। प्रशिक्षण, कार्यालयीन आदेश, परिपत्र और कार्य-समीक्षा यदि हिंदी में हों, तो कर्मचारियों की सहभागिता और कार्यकुशलता बढ़ती है। इससे संगठनात्मक एकता सुदृढ़ होती है और कार्य निष्पादन अधिक प्रभावी बनता है।

राजभाषा के प्रचार प्रसार में संवाद कौशल का महत्व

बैंकों में संवाद कौशल राजभाषा हिंदी के प्रचार-प्रसार के लिए अत्यंत महत्वपूर्ण है, क्योंकि यह कर्मचारियों और ग्राहकों के बीच हिंदी में सहज जुड़ाव स्थापित करता है, कार्यशालाओं के माध्यम से झिझक दूर करता है, और द्विभाषी फॉर्म्स व प्रचार सामग्री के बेहतर उपयोग से हिंदी के व्यावहारिक प्रयोग को बढ़ावा देता है, जिससे तकनीकी शब्दावली भी सरल लगती है और हिंदी के प्रति सकारात्मक दृष्टिकोण बनता है, जो राजभाषा के लक्ष्यों की प्राप्ति में सहायक है।

संवाद कौशल के योगदान को निम्लिखित बिंदुओं के माध्यम से समझा जा सकता है-

★ कर्मचारियों का प्रशिक्षण : बैंक कर्मचारियों कें निरंतर प्रशिक्षण से संवाद कौशल को प्रभावी बनाया जा सकता है।

★ झिझक दूर करना : संवाद कौशल के माध्यम से आयोजित हिंदी कार्यशालाएँ कर्मचारियों को अंग्रेजी के प्रभुत्व के बावजूद हिंदी में बोलने और लिखने में आत्मविश्वास देती हैं।

★ व्यावहारिक ज्ञान : प्रभावी संवाद से बैंकिंग शब्दावली (जैसे खाता, निकासी, ऋण) का हिंदी में सही प्रयोग सिखाया जाता है, जिससे कर्मचारी सहज महसूस करते हैं।

★ ग्राहक सेवा में सुधार : बेहतर संवाद कौशल से ग्राहक सेवा में सुधार किया जा सकता है।

★ सहज संपर्क : जब बैंक कर्मचारी हिंदी में प्रभावी ढंग से संवाद करते हैं, तो ग्राहक अपनी भाषा में बात करके अधिक सहज महसूस करते हैं।

★ समस्याओं का समाधान : स्पष्ट संवाद से ग्राहकों की शिकायतें और जरूरतें बेहतर ढंग से समझी जाती हैं और हिंदी में उनका समाधान किया जा सकता है।

★ आम जन से जुड़ाव : मधुर और सरल भाषा में संवाद करने से लोग जुड़ते हैं, जिससे हिंदी की स्वीकार्यता बढ़ती है।

★ द्विभाषी सामग्री : अच्छे संवाद कौशल वाले कर्मचारी द्विभाषी फॉर्म, नोटिस और विज्ञापनों को प्रभावी ढंग से समझाते

हैं, जिससे हिंदी का प्रयोग बढ़ता है।

⋆ कुशल संवाद : कुशल संवाद एक ऐसा वातावरण बनाता है जहाँ लोग हिंदी का प्रयोग करने में संकोच नहीं करते और इसे अपनाने के लिए प्रोत्साहित होते हैं।

⋆ प्रबंधन और कार्यान्वयन : राजभाषा कार्यान्वयन और प्रबंधन में संवाद कौशल बहुत प्रभावी होता है।

⋆ प्रशासनिक दक्षता : प्रभावी संचार राजभाषा कार्यान्वयन समितियों की बैठकों और वार्षिक कार्यक्रमों को सुचारू रूप से चलाने में मदद करता है।

⋆ प्रेरणा : वरिष्ठ अधिकारी अपने संवाद कौशल से कनिष्ठ कर्मचारियों को हिंदी में काम करने के लिए प्रेरित कर सकते हैं, जिससे लक्ष्यों की प्राप्ति आसान होती है।

⋆ स्पष्टता और प्रभाव : सही शब्दों के चुनाव और वाक्य-संरचना से विचारों को स्पष्टता से रखा जा सकता है, जिससे हिंदी में गुणवत्तापूर्ण कार्य होता है।

⋆ भावनात्मक एकता : हिंदी को भाषाई एकता की कड़ी के रूप में प्रस्तुत करने के लिए प्रभावी संवाद आवश्यक है, जो राष्ट्र के भावनात्मक जुड़ाव को मजबूत करता है।

राजभाषा के प्रचार-प्रसार में संवाद कौशल का अनुप्रयोग

★ **जन-संवाद :** सरकारी योजनाओं और कार्यक्रमों की जानकारी हिंदी में सरल और व्यावहारिक तरीके से देना, ताकि आम जनता को लाभ मिले।

★ **तकनीकी माध्यम :** डिजिटल प्लेटफॉर्म्स (इंटरनेट, मोबाइल) पर हिंदी में संवाद को बढ़ावा देना, जिससे सामग्री की उपलब्धता बढ़े और लोग हिंदी में जानकारी प्राप्त कर सकें।

★ **मीडिया और विज्ञापन :** फिल्मों, विज्ञापनों और अन्य मीडिया में हिंदी का रचनात्मक प्रयोग करके उसे लोकप्रिय बनाना (जैसे : 'ये दिल माँगे मोर', 'खाओ ब्रिटानिया' जैसे नारे)।

★ **प्रशासनिक स्तर :** अधिकारियों और कर्मचारियों को हिंदी में प्रभावी ढंग से संवाद करने के लिए प्रशिक्षित करना, ताकि हिंदी का प्रयोग सहज और प्रभावी हो।

आवश्यक गुण

★ **संवेदनशीलता :** श्रोता या पाठक के दृष्टिकोण का सम्मान करना और उसके अनुरूप संवाद करना।

★ **शब्दावली का ज्ञान :** शब्दों का सही, सटीक और प्रभावशाली उपयोग करना।

★ **प्रोत्साहन :** संवाद के माध्यम से हिंदी के प्रति रुचि और संवाद को प्रोत्साहित करना।

प्रभावी संवाद कौशल के द्वारा ही हिंदी को एक प्रशासनिक भाषा से आगे बढ़ाकर जन-जन की भाषा, राष्ट्रीय एकता की भाषा और सांस्कृतिक अभिव्यक्ति का माध्यम बनाया जा सकता है।

इस प्रकार बैंकिंग कार्यप्रणाली के प्रत्येक चरण—विश्वास निर्माण, सेवा उपयोग, ऋण प्रबंधन, डिजिटल अनुकूलन, वित्तीय साक्षरता और प्रशासनिक संचालन में हिंदी की भूमिका निर्णायक है। हिंदी केवल संप्रेषण का माध्यम भर न होकर बैंकिंग व्यवस्था को जनोन्मुख, समावेशी और उत्तरदायी बनाने की शक्ति है। इसके माध्यम से बैंकिंग आर्थिक विकास को सामाजिक विकास से जोड़ने का कार्य करती है और ''बैंकिंग फॉर ऑल'' की संकल्पना को वास्तविक अर्थ प्रदान करती है।

''हिन्दी को सम्पर्क और राजभाषा के रूप में अखिल भारतीय स्तर पर योग में लाने का तात्पर्य यह है कि मानक हिन्दी की संकल्पना को सामने रखते केन्द्रवती कायो[6] में उसका प्रयोग हो किन्त क्षेत्रीय विविधताएँ भी स्वीकार्य हों और सार्वदेशिक मानकीकरण को सामाजिक क्रिया-प्रतिक्रिया से उभरने को छोड़ दिया जाए। सम्पर्क-भाषा का रूप कामचलाऊ आपसी व्यवहार की हिन्दी का हो परंतु विशिष्ट प्रयोजनों के लिए जिस रूप की प्रयुक्तियाँ आज विकसित हो रही हैं। उनका प्रयोग हो। इस तरह अर्थमूलक सबल प्रेरक तत्त्व बनेगा और सभी क्षेत्रों के अखिल भारतीय स्तर पर आने के इच्छुक व्यक्तियों को हिन्दी सीखने के लिए प्रेरित करे।''[4]

निष्कर्ष

बैंकों में राजभाषा के प्रचार-प्रसार के संबंध में हम यह देखते हैं कि संवाद की प्रक्रिया इसके कार्यान्वयन में महत्वपूर्ण भूमिका निभाती है। भाषा और समाज के संबंधों की गहराई को यदि निकट से देखा जाए तो यह स्पष्ट हो जाता है कि भाषा सामाजिक जीवन की दशा और दिशा दोनों को प्रभावित करती है अत: जिस हिन्दी भाषा ने भारतीय समाज के संवाद, लोकचेतना और संवेदनाओ को अभिव्यक्त करने का कार्य किया है वह भाषा सामाजिक एकता का माध्यम भी है। अत: बैंकिंग की भाषा के रूप में हिन्दी सम्प्रेषण के माध्यम तक सीमित न होकर उसकी व्यवस्था और आर्थिक ढांचे को सुदृढ़ करने का कार्य करती है। ''बैंकों में राजभाषा का प्रचार-प्रसार केवल

प्रशासनिक निर्देशों से संभव नहीं है।''[5] इसके लिए बैंक कर्मियों के भीतर संवाद कौशल का विकास अनिवार्य है। जब भाषा में प्रवाह, स्पष्टता और संवेदनशीलता होती है, तो राजभाषा स्वत: ही कार्यक्षेत्र की मुख्यधारा का हिस्सा बन जाती है। संवाद कौशल राजभाषा हिंदी को केवल एक संवैधानिक अनिवार्यता से आगे बढ़कर, बैंकिंग सेवा का आधार और विस्तार का माध्यम बनाता है, जिससे बैंक और ग्राहक के बीच की दूरी कम होती है। संवाद कौशल केवल भाषा का ज्ञान नहीं, बल्कि उसे प्रभावी ढंग से उपयोग करने की कला है। बैंकों में इसका विकास राजभाषा हिंदी को कागजों से निकालकर आम आदमी और कर्मचारियों के रोजमर्रा के व्यवहार का हिस्सा बनाने में महत्वपूर्ण भूमिका निभाता है, जिससे हिंदी का प्रचार-प्रसार स्वाभाविक और सफल बनता है।

***शोधार्थी, हिंदी,**
आई.आई.एम.टी. विश्वविद्यालय
मेरठ, उत्तर प्रदेश
Email : sunilkumarsingh08937@gmail.com

****शोध निर्देशिका**
आई.आई.एम.टी. विश्वविद्यालय
मेरठ, उत्तर प्रदेश
Email : poonamsharma6049@gmail.com

सन्दर्भ सूची

1. शुद्ध हिन्दी, हरदेव बाहरी, लोकभारती प्रकाशन, इलाहाबाद, संस्करण 2007, पृष्ठ संख्या-8
2. राजभाषा - राष्ट्रभाषा हिन्दी, सर्व भाषा ट्रस्ट, नई दिल्ली, संस्करण प्रथम, 2023, पृष्ठ संख्या-71
3. राष्ट्रभाषा हिन्दी समस्याएं और समाधान, देवेन्द्रनाथ शर्मा, राजकमल प्रकाशन, संस्करण 2024, पृष्ठ संख्या-26
4. राजभाषा - राष्ट्रभाषा हिन्दी, डा. किरन पाल सिंह, सर्व ट्रस्ट, नई दिल्ली, संस्करण प्रथम, 2023, पृष्ठ संख्या-57
5. वही, पृष्ठ संख्या-77

VAAKSUDHA PUBLICATION

We're Committed to the Publication of High-quality Books, original works and manuscripts in multilingual & multiple formats.

Vaaksudha Publication (वाक्सुधा प्रकाशन) is a National Publication group founded by Dr. Rupesh Kumar Chauhan and run by a well educated & qualified scholarly group, committed to the publication of high-quality books, original works and manuscripts in Hindi, English, Sanskrit & Modern Indian Languages in the print as well as in the electronic format. The main objective of Vaaksudha Publication is to increase the creativity & writing skills of teachers, writers and scholars and present solutions to the problems of students. We believe that knowledge is the light that leads a human to his real duty, that is why the "ऋते ज्ञानान्न मुक्तिः - There is no salvation without knowledge" this aupanishadik quote has been made a moto.

About Us

Arts & Commerce
Indology & Manuscripts
Law & Constitutions Medical
& Engineering Philosophy &
Spirituality Science & Social Sciences
Vaak SudhaIRJ Global Thought IRJ Yugantar
Today (Online) Yugantar Today (Print) Awards
Distribution Social Contribution
Typing Support Designing
Support Technical
Support Head
Office (Delhi)

युगान्तर टुडे
SINCE : 2014 एक नज़र, सब पर

Branches

We recently
started our publication
branches
in five major cities of different
states of India i.e. Nazafgarh (Delhi),
Hathras (UP), Sasaram (Bihar), Satna (MP) &
Udham Singh Nagar (Uttarakhand),
however, Head office
is situated
at Delhi.

Vaaksudha Publication

Head office : House No.-47, Block-A 3, Street No.-5, Near Sankat Mochan Mandir, Dharam Pura Extension, Nazafgarh, South West Delhi-110 043, Mobile No.: +91 9555222747, +91 9267944100,
Email : info@vaaksudhapublication.in, vaaksudhapublication@gmail.com